अयोध्या का युद्ध

[THE AYODHYA TANGLE]

लेखक

प्रो० रमेशचन्द्र गुप्त

(हिस्टोरिकल कांग्रेस कॉमिमोरेशन पचासा स्वर्णपदक विजेता
नागपुर यूनिवर्सिटी)



उर्मिला पब्लिकेशन्स

दिल्ली (भारत)

प्रकाशक
श्रीमती उर्मिला पाण्डेय
उर्मिला पब्लिकेशन्स
सी-३०७, सन्तोषी माता मन्दिर
सर्वोदय गली, पश्चिमी करावल नगर
दिल्ली-११००९४

वितरक
उर्मिला बुक सर्विस
मेन रोड (पुस्ता) बन्नी सिंह मार्किट
पश्चिमी करावल नगर
दिल्ली-११००९४

प्रथम संस्करण १९९१-९२

मूल्य १६०.००

मुद्रक
पङ्कज प्रिंटर्स द्वारा आई०के० प्रिंटर्स, विजय पार्क
दिल्ली-११००५३

भूमिका

हिमालय की तपस्या आकाश से जलों का वरदान लाती है। यह जल सिंधु, गंगा, ब्रह्मपुत्र एवं उनमें समाहित होने वाली उपनदियों द्वारा हिन्द महासागर में जा मिलता है। फिर हिन्द महासागर से मानसूनी हवाएं उठती हैं। जो जीवन समुद्रों में समर्पित हो गया था, वह फिर तपस्या से भाप बनकर ऊपर उठता है। तपस्या फिर वरदान बन जाती है और उस समस्त भूप्रदेश को फिर नवजीवन से ओत प्रोत कर देती है। इस भूप्रदेश का केन्द्र भारत है। भारत न केवल एक देश है, अपितु एक जीवन्त उपस्थिति है। एक साकार आत्मा है, और इस आत्मा का केन्द्र है अध्यात्म।

नदियों की तरह चेतना की धाराएं विचारों और भावनाओं के प्रवाह की अनन्त आत्मा में जा मिलते हैं। फिर वहीं से पुनर्जीवन प्राप्त कर दुनिया में मिलते हैं। क्या नदियां समुद्र को कुछ दे आती हैं? क्या उनके जल न प्राप्त हो तो महासागर सूख जायेगा? इसी तरह यह सवाल उठना चाहिए कि भारत में इस्लाम, ईसाइयत और साम्यवाद की धाराएं ऐसा क्या कुछ भारतीय समाज और संस्कृति को दे आयीं जो उसके पास नहीं थी। क्या वे नहीं आतीं तो चेतना की लहरों की यह विराट 'उमड़ घुमड़' यह महासागरीय सागर' सूख जाता? सृष्टि के आदि काल से गूंजती वेद की ऋचाएं, पुरातन होते हुए भी चिरनूतन बने रहने वाले महाकाव्यों में उन विचार धाराओं के सभी उत्स और स्रोत आज भी देखे जा सकते हैं। तो फिर भारत को उनका योगदान क्या है? योगदान है भी या नहीं?

मैं ऐसा नहीं कह सकता हूँ कि योगदान नहीं है। नदियां और सागर दोनों पूरे विश्व जीवन की समग्रता में एक दूसरे को सार्थक करते हैं। समुद्र में अथाह जल होता है लेकिन वह इतना नमकीन खारा होता है कि वह पिया नहीं जा सकता है। उसकी तपस्या जीवन के तमाम क्षार को आत्मसात् कर लेती है और शुद्ध पेय जल फिर जीवन को लौटा देती है। नदियां इसी मीठे जल को इस तक पहुंचाने का माध्यम बनती हैं। दोनों नदियां और सागर एक दूसरे को पूर्ण और

सफल बनाते हैं। यहाँ इन विचार धाराओं का स्थान, मूल्य और महत्त्व है किंतु यह महत्त्व इसी शर्त पर उन्हें मिलता है कि समग्र जीवन को समृद्ध बनाये न कि उसके शक्तिक्षय का कारण बने। उसे खंडित विभाजित करने का हथियार बने। उन्हें यह मानकर चलना चाहिए कि वे यहाँ पूर्ण होने के लिए आयी हैं। यह भूप्रदेश प्राण शक्तियों से आदम्य अपनी महानता से सबसे अधिक उर्वर है। *जीवन की सबसे गहरी आध्यात्मिक शक्ति से युक्त और अपनी सम्भावनाओं से* भरपूर है। यह विदेशों से तथा भिन्न भिन्न प्रकार की मानव संस्कृतियों से नाना प्रकार के बल लेकर उन्हें आत्मसात करता रहा है।

इस प्रयत्न को वह अपने इतिहास के लम्बे काल को बर्दाश्त करता आया है। उसे ही अब वह एक दम परिस्थितियों में करेगा। इन्हीं विचारों को राष्ट्रकवि दिनकर की इन पंक्तियों में भव्य अभिव्यक्ति मिली है।

"एक हाथ में कमल
एक में धर्म दीप्ति विज्ञान
लेकर उठने वाला है
धरती पर हिन्दुस्तान"

प्रो० रमेशचन्द्र गुप्त ने इसी मन्त्र को अपनी इस शोध पूर्ण कृति का विषय बनाया है। यह उनकी अब कि जीवन साधना का एक तरह से निचोड़ है। मराठी में ही बाबा आमटे की प्रेरणा से उनकी लिखी पहली पुस्तक पुस्तकाकार शांति पुणे के साधना प्रकाशन द्वारा प्रकाशित हुई। 'आदू चे शेत' या 'बारामाती खेत'। यह ग्रामोद्धार के एक अनूठे प्रयोग की सत्य कथा थी। २३ वर्ष की उम्र में लिखित इस प्रथम कृति को ही केन्द्रीय पुरस्कार प्राप्त हुआ। बाबा आमटे के चिंतन का 'शब्दांकित' करते हुए मराठी में विचार कविता की एक नई धारा को ही उनकी जन्म प्रतिभा ने दे दिया। 'ज्वाला आणि फूले' शीर्षक से प्रकाशित इन कविताओं ने महाराष्ट्र के साहित्य जगत में एक हलचल सी पैदा कर दी। उसके दोनों इतिकारों को महाराष्ट्र राज्य साहित्य पुरस्कार प्राप्त हुआ, तो बाबा आमटे के साथ रमेश गुप्ता के साहित्यिक हस्ताक्षरित रातों-रात महाराष्ट्र भर में सुपरिचित हो गया। इस "ज्वाला आणि फूले" (ज्वाला और फूल) के पहले दो संस्करणों को विख्यात मराठी लेखक ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता वि० स० खांडेकर की लगभग ७२ पृष्ठों की भूमिकाएं प्राप्त हुईं। तीसरे संस्करण में सौंदर्य लेखक और ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता श्री पु० ल० देशपाण्डे की भूमिका जुड़ गया।

प्रो० रमेशचन्द्र गुप्त फिर अध्यापन व्यवसाय में आये। चन्द्रपुर (महाराष्ट्र) के सरदार पटेल महाविद्यालय में प्राध्यापक बने।

वर्तमान केन्द्रीय वित्त राज मन्त्री श्री शान्ताराम पोटदुखे इसके अधिष्ठाता थे और इसकी नींव रखने वालों में रमेश जी थे। दो वर्ष के अध्ययन कार्य के बाद

राजनीति ने रमेश जी को अपनी चपेट मे ले ली। उन्हें संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी ससदीय चुनाव लड़ने की पेशकश की। तार से टिकट भेजा ये सिंडिकेट इंडिकेट संघर्ष का जमाना था। रमेश जी ने स्वय चुनाव तो नहीं लड़े, किन्तु विपछी उम्मीदवार राजा विशेश्वर राव के लिए खुलकर प्रचार किया। बहुत कममतो से उनकी हार हुई। हाथों-हाथ कालेज की नौकरी से त्यागपत्र देकर रमेश जी अलग हो गये। फिर पूरे संयुक्त परिवार के साथ नागपुर चले आये। नागपुर में दैनिक लोकमत मे उप सपादक रहे। फिर एक साध्य दैनिक को महासागर को पुणे दैनिक का रूप देते हुए उसमे प्रबन्ध सपादक बने। इस बीच एक वर्ष की छुट्टी लेकर उन्होने श्री अरविंद जन्म शताब्दी समिति के विदर्भ प्रदेश प्रचार सचिव का कार्य किया। श्री अरविंद उनका 'फर्स्टलव्ह' रहा है। बरोडा मे जब मनें भीगी नही थी तभी से यहा अरविंद केन्द्र की स्थापना मे उन्होने ज्येष्ठ साधको को सहयोग दिया था। देश मे इमर्जेन्सी लगी तो यही आतरिक ज्वाला नागपुर से पूरी गृहस्थी के साथ हटाकर उन्हें देश की राजधानी दिल्ली ले आयी। यहा डेढ एक वर्ष अरविंद आश्रम शाखा में रहे यहां श्री अरविंद कर्मधारा और डिवाइ कॉल का सम्पादन किया। इसके बीच सरकार बदल गयी। प्रो० रमेशचन्द्र गुप्ता अपनी 'चलो दिल्ली' नामक आत्मकथात्मक प्रदीर्घ उपन्यास शृंखला मे शब्द-बध्य की है। यह कृति अभी प्रकाशक की तलाश मे ही थी कि उर्मिला प्रकाशन द्वारा उन्हें 'जन्म-भूमि' विवाद पर पेश-कश की गयी। इस पुस्तक के लिखने-लिखते ही 'कला-इतिहास के आयाम' एव 'अयोध्या का युद्ध' की विषय सामग्री मानो किसी चुम्बकीय आकर्षण से अच्छे मन मस्तिष्क मे इकट्ठी होने लगी। वास्तव मे पूरी पुस्तक चेतना की एक नई जमीन पर खडे होकर उन्होंने लिखी। बाबा आमटे की 'भारत जोडो' यात्रा के समय रमेशजी के लेख 'नवभारत टाइम्स' 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' कादम्बिनी आदि पत्रिकाओं मे छपे थे। अब एक ठहराव सा उनके सतत कर्मशील जीवन मे आ गया है और आशा है कि अब 'अयोध्या के युद्ध' की तरह एक के बाद एक मौलिक कृतिया वे देते रहेंगे।

"जन्म-भूमि विवाद मे जहा रमेश जी का खोजी पत्रकार ज्यादा सक्रिय रहा है, वहीं 'अयोध्या का युद्ध' मे उनका साधक और इतिहासकार आगे रहा है। वेद-पूर्व काल से आर्यावर्त और भारतवर्ष तक का सिंहावलोकन करते हुए उन्होंने एकदम मौलिक तो नही किंतु कुछ अत्यन्त ही अपरिचित ऐतिहासिक तथ्य प्रस्तुत किये है, जैसे, असुर सभ्यता की विश्व विजय, चतुर्युगों की कालगणना आदि। पौराणिक महाप्रलयों को एक समग्र काल दृष्टि के साथ उन्होने आसन्न आणविक महाप्रलय से जोड़ा है, खाडी युद्ध जिसकी ओर बढते-बढते रह गया था। लेखक ने फिर यह प्रश्न उपस्थित किया है कि क्या 'अयोध्या' शब्द द्वारा व्यक्त होने वाली अब धारणा सार्थक हो सकती है ? अयोध्या का शाब्दिक अर्थ

है वह भूमि जो युद्ध मुक्त है, अथवा युद्ध के द्वारा जीती नही जा सकती। क्या समस्त पृथ्वी को युद्ध मुक्त करने का मानव जाति का स्वप्न साकार हो सकता है ? यदि हाँ तो कैसे ?

इन्ही प्रश्नो पर भारतीय मनीषियों एव योगियो के साक्ष्यो पर आधारित, सूक्ष्म, गहन चिंतन करते हुये लेखक दो मौलिक उद्भावनाओ पर पहुँचा है। एक तो प्रतियुद्ध (Antiwar) की अवधारणा जिसे युद्ध के विकल्प के रूप मे प्रस्तुत करने का उसका प्रयास है। मेरी समझ मे प्रतियुद्ध अपनी शर्तों पर जिन्दगी जीने की लडाई है। दूसरी अवधारणा है आध्यात्मिकवाद (Spiritual Materialism) की।

इन्ही अवधारणाओ पर चलते हुए लेखक आध्यात्मिक ऊचाइयों के शिखरों से उतरकर ज्वलंत वर्तमान समस्याओं की तलहटी म उतरता है। 'राम, रोटी और हम' शीर्षक अंतिम अध्याय मे उसने इस समग्र दृष्टि से विषयन्त कुछ व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत किये हैं। यही रमेश जी की जीवन साधना और जीवन दृष्टि का निचोड है। मात्र एक व्यक्तिवादी चिंतन इसलिए नहीं है, क्योंकि इसमें देश, विश्व और समाज से गहरा व्यापक जुडाव हर पृष्ठ पर झलकता है। अलबत्ता कही-कही उनके कुछ पूर्वाग्रहो और मृगमरीचिका सदृश आदर्शवाद की झलक मिलती है। किंतु ऐसे स्थान नगण्य ही हैं। मुझे विश्वास है कि यह पुस्तक न केवल कठोर 'हिंदुत्वनिष्ठों' के लिए प्रेरणा स्रोत का काम करेगी, बल्कि शुद्ध भौतिकवादियो के लिए भी तथ्यों और सत्यों की ठोस नयी जमीन प्रस्तुत करेगी। सम्भवत भारतीय ढग के साम्यवाद का एक प्रारूप उन्हे इसमें दिखाई दे सकता है। यदि ऐसा कुछ हो सका तो वह लेखक की प्रतिभा और परिश्रम दोनों की सार्थकता एव सफलता होगी। अपनी शर्तों पर जिन्दगी जीना चाहने वालो के लिए भी इस पुस्तक म बहुत कुछ है।

दीप नारायण पाण्डेय
एवं
रामानन्द घपलियाल

विषय-सूची

१	महाप्रलय की ओर ?	१
२	पिछले महाप्रलय दर्शन और विज्ञान	१४
३	पिछले प्रलय के बाद इतिहास और गल्प	२७
४	अयोध्या	४६
५	अष्टचक्रा, नवद्वारा, देवाना पुरी	६१
६	युद्ध	७९
७	प्रतियुद्ध	१०२
८	आर्यावर्त से भारतवर्ष तक	१२६
९	हिंदुस्तान से इंडिया तक	१४९
१०	भारत से 'महाभारत' की ओर	१६२
११	राम, रोटी और हम	१७३

१. महाप्रलय की ओर…?

ज़मीनी सचाइयां बनाम फंतासी

१५ फरवरी, १९९१ की कुछ अखबारी सुर्खियां इस प्रकार थीं—

इराक ने बदला लेने की चेतावनी दी

इराकी शहरों पर भारी बमवर्षा जारी

सऊदी अरब पर फिर स्कड हमला

इराक के दो धार्मिक शहरों—कर्बला और नजफ पर भारी बमबारी।

बगदाद में परसों भूमिगत शरण स्थल पर बमबारी में बड़ी संख्या में लोगों के मारे जाने के बावजूद बहुराष्ट्रीय सेना ने अपने हवाई अभियान में कोई ढील नहीं दी और इराक के विभिन्न शहरों पर बमबारी जारी रखी।

भूमिगत बंकर सैन्य ठिकाना ही था : अमेरिकी राष्ट्रपति बुश ने कहा।

बुधवार की रात संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद ने खाड़ी-युद्ध पर 'गुप्त-बैठक' करने का निर्णय किया। सुरक्षा परिषद ने क्यूबा और यमन की इस मांग को दो के मुकाबले नौ मतों से ठुकरा दिया कि बहस खुले में होनी चाहिए। चार सदस्य देशों ने मतदान में हिस्सा नहीं लिया जिनमें भारत भी एक है।

खाड़ी युद्ध में जान-माल के भारी नुकसान के प्रति भारतीय राजदूत श्री गरेखा ने चिंता व्यक्त की। उन्होंने कहा कि युद्ध के विस्तार से भयंकरता बढ़ेगी जिसका प्रभाव युद्धक्षेत्र के बाहर भी प्रलयकारी होगा। इसका पर्यावरण पर भी भीषण प्रभाव पड़ेगा। उन्होंने कहा कि युद्ध में रासायनिक, जैविक तथा परमाणु हथियारों के प्रयोग के प्रति वह विशेष रूप से चिंतित हैं। रासायनिक हथियारों के प्रयोग पर अंतर्राष्ट्रीय विधि के तहत पाबंदी है। परमाणु हथियारों के प्रयोग से तो मानवता का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायेगा। भारत ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि इराक के विरुद्ध लड़ रहे देश राष्ट्रसंघ सुरक्षा परिषद के संबद्ध प्रस्ताव में दिए गए अधिकार से बाहर जाकर हमले कर रहे हैं।

दुनिया को इस बात पर आश्चर्य हुआ है कि भारत ने सुरक्षा परिषद की 'बंद बैठक' करने के प्रस्ताव के विरुद्ध वोट डालने के बजाय मतदान में ही भाग

नहीं लिया लेकिन भारत सरकार का कहना है कि उसने एक सुविचारित रणनीति के तहत ऐसा किया। यदि वह ऐसा नहीं करती तो हो सकता था कि पश्चिमी देश बैठक करने के फैसले पर ही वीटो का प्रयोग कर देते। इससे खुली तो क्या बंद बैठक भी नहीं हो पाती। जबकि हम चाहते थे कि बैठक जरूर हो, ताकि जिस अनुचित तरीके से सैनिक कारवाइयां की जा रही हैं उन पर विचार हो सके। विचार न होने से बेहतर था कि बंद कमरे में ही बातें कही सुनी जाएं।

विदेश मंत्री श्री विद्याचरण शुक्ल ने, जो कल सुबह बेलग्राद में गुटनिरपेक्ष देशों के १५ विदेश मंत्रियों की बैठक में भाग लेकर लौटे, अलग में कहा कि गुट-निरपेक्ष सम्मेलन द्वारा बगदाद और वाशिंगटन भेजे जाने वाले विदेश मंत्रियों के दलों में भारत को शामिल किए जाने की आशा है। ये दल दोनों पक्षों को दो बातों पर राजी करने का प्रयास करेंगे। एक, इराक की इस असंदिग्ध वचन-बद्धता की घोषणा के साथ तत्काल युद्धबंदी की जाए कि वह कुवैत से अपनी फौजें निश्चित समय के अंदर हटा लेगा। दो, इस क्रम में वापसी की प्रक्रिया अविलम्ब शुरू हो।

उधर संयुक्त राष्ट्र में इराकी राजदूत अब्दुल अमीर अल अनबारी ने बगदाद पर हुई बमबारी की निंदा की और कहा कि उनकी सरकार 'भारी युद्ध' के लिए तैयार है। उन्होंने कहा "अमेरिका पागलों की तरह बी-५२ विमानों और टॉम हॉक मिसाइलों का इस्तेमाल कर रहा है और इसका मजा ले रहा है। अमेरिका ने बातचीत करना अस्वीकार कर दिया था। हम बातचीत में पहले और दूसरे पक्षों का रवैया जाने बिना अपने पत्ते नहीं दिखाना चाहते।"

इराक के आकाश में अमेरिकी नेतृत्व वाली बहुराष्ट्रीय सेना का जो प्रभुत्व स्थापित हो गया है, उसका एक बड़ा कारण पूर्व चेतावनी देने वाले अवाक्स विमान हैं। बोइंग ७०७ में ई-३ नामक अवाक्स प्रणाली फिट की गयी है। यह ४०० किलोमीटर के दायरे में नीची उड़ान भरने वाले शत्रु के करीब ६०० युद्धक विमानों पर नजर रख सकता है और उन्हें नष्ट करने के लिए दिशा निर्देशन कर सकता है। इसमें ऐसी भी व्यवस्था होती है कि शत्रु द्वारा राडार जाम करने की कोशिश विफल की जा सके।

उधर ब्रिटेन के रक्षा मंत्री टाम किंग ने कहा कि खाड़ी में जमीनी जंग संभव है, क्योंकि राष्ट्रपति सद्दाम द्वारा कुवैत से हटने का कोई संकेत नहीं है।

अमरिका और साथी देशों की सेनाओं ने बगदाद में भूमिगत पनाहगाह पर बम गिरा कर लगभग एक हजार निर्दोष महिलाओं, बच्चों और निरीह लोगों की हत्या की। उनके क्षत-विक्षत शवों से उठा हाहाकार स्तब्ध करने वाला है। क्या सुरक्षा परिषद ने अमरिका को इस प्रलय की आज्ञा दी थी?

अमेरिकी कूटनीति ने बडी चतुराई से सुरक्षा परिषद और राष्ट्रसंघ महा-सचिव को अपना बधक बना लिया है। यह तथ्य अब उजागर हो चुका है कि युद्ध शुरू होने से पहले राष्ट्रपति सद्दाम हुसैन ने बातचीत के दरवाजे बद नही कर लिए थे। वे ले-दे के आधार पर बातचीत करना चाहते थे। पेरेज द कुइयार को उन्होंने यह साफ सकेत दिया भी था। लेकिन कुइयार की इस आशय की रिपोर्ट को नेपथ्य मे सिसकता छोडकर अमेरिका आनन-फानन मे खाडी युद्ध मे कूद गया। अब जब कि तमाम देश इस बारे मे सहमत है कि इराक को नष्ट किया जा रहा है, अमेरिका को समर स्थलीय परमाणु अस्त्रों के इस्तेमाल मे कोई गुरेज नही है।

उधर सोवियत समाचार प्रावदा ने यह आरोप लगाया है कि यह युद्ध 'नव उपनिवेशवादी' रूप धारण करता जा रहा है तथा अमेरिका और उसके मित्र राष्ट्र इस क्षेत्र मे अत्याधुनिम शस्त्रो की 'विनाशकारी शक्ति का प्रदर्शन' कर रहे है।

इन सुर्खियो से पता चलता है कि खाडी-युद्ध विश्व-युद्ध के आयामो को छू रहा था—ऐसा विश्व-युद्ध जो आणविक-महाप्रलय की पूरी-पूरी सभावनाओ से भरा हुआ है।

यह विश्व-युद्ध इन मानो मे भी था कि दुनिया भर मे जहा तहाँ, "तुम नही या हम नही" वाले तेवर के साथ कई मोर्चे खुल गये थे।

ऐसा तो नही है कि ज्ञात विश्व-इतिहास का कोई शतक या दशक भी युद्ध-मुक्त बीता हो। ऐसा भी नही कि महाप्रलय और प्रलय की विभीषिकाए इस पृथ्वी पर कभी टूटी ही न हो।

लेकिन उनका जायजा लेने से पहले आइये देखें कि इन घहराती सभावनाओ वाले विश्व युद्ध के और मोर्चे कहाँ-कहाँ खुले थे या खुलने वाले थे ? जरा १५ फरवरी के ही एक अन्य समाचार पर गौर कीजिए—

ईरान ने भारत से आग्रह किया है कि वह खाडी जा रहे अमेरिकी परिवहन विमानो को ईंधन देना बद करे और खाडी युद्ध मे स्पष्ट रूप से तटस्थता बनाये रखे।

यह जानकारी भारत के दौरे पर आए ईरानी ससदीय शिष्टमडल के प्रमुख होजेत इस्लाम मुर्तजा नाया ने दी। किंतु जनाब होजेत इस्लाम ने इससे भी आगे बढकर "भारत की साप्रदायिक स्थिति का हवाला देते हुए कहा कि भारत के मुस्लिमों के 'कष्टो' के प्रति ईरान चुप नही रह सकता।" उन्होंने सरकार से आग्रह किया कि वह यहाँ मुसलमानो के जान-माल की हिफाजत करे और उनका सम्मान बनाए रखे।

इसका सीधा इशारा जिस केन्द्रीय बिन्दु की ओर है—वह है अयोध्या-श्रीराम जन्म भूमि-बाबरी मस्जिद विवाद से उत्पन्न साम्प्रदायिक तनाव और दंगों के विस्फोट की स्थिति। स्थिति इतनी विस्फोटक है कि इस बारूद का नरकार को वह जब चाहे, झकझोर कर गिरा देती है। गनीमत है कि अभी मोर्चा भौतिक से अधिक मनोवैज्ञानिक स्तर पर छिड़ा हुआ है। लेकिन युद्ध-स्तरादा ना वदस्तूर जारी है। "तू नहीं या मैं नहीं" वाला युद्ध-तेवर लगता है, वहां भी अपना लिया गया प्रतीत होता है। हिंदू पक्ष में विश्व-हिंदू-परिषद और मुस्लिम पक्ष में बाबरी-मस्जिद एक्शन कमेटी अपनी मोर्चाबन्दी में एक इंच भी पीछे हटने को तैयार नहीं। बातचीत की मेज से दोनों ने ही घोषित रूप से मुंह मोड़ लिया है। और ऐसे वक्त 'इस्लाम' के सबसे मुखर रहनुमा ईरान ने भारत को यह चेतावनी दी थी। ध्यान रहे, यह वही ईरान है, जिसने भारतीय शिया मुस्लिमों के इस निर्णय को, ईरान से फतवा भेजकर रद्द और 'काफिराना' करार दिया था कि 'हम बाबरी मस्जिद राम जन्मभूमि मंदिर निर्माण के लिए हिंदुओं को सौंपने के लिए तैयार हैं।"

युद्ध की भेरियां पहले इसी तरह धीमी गति से बजा करती हैं।

पंद्रह फरवरी १९९१ से इतिहास के गुफा गह्वर में पीछे हटते हुए अब हम ४०० वर्ष पहले स्पेन के यहूदी भविष्यदर्शी नोस्त्रादेमस की भविष्यवाणियों का कुछ जायजा लें। पश्चिमी (और अब खाड़ी-युद्ध के बाद पूर्वी गोलार्ध में भी) जगत में जन-साधारण अखबारों के जरिए नोस्त्रादेमस की ख्याति से पूर्ण परिचित हो गया है। (देखिये 'जन्म-भूमि विवाद'-पृ० १५८)।

नोस्त्रादेमस को इस दुनिया से गये, चार सौ से अधिक वर्ष बीत चुके हैं। लेकिन उनकी भविष्यवाणियों वाली पुस्तक विश्व के कालजयी साहित्य में शामिल हो गयी है जिसने अपने रचयिता को यह अमर लोकप्रियता प्रदान की है। ये भविष्यवाणियां १५५५ में प्रकाशित हुईं और समय की कसौटी पर सोलह आने खरी उतरी हैं। इससे प्रकट होता है कि नोस्त्रादेमस मात्र एक व्यावसायिक, अटकलपच्चू ज्योतिषी नहीं बल्कि दिव्य दृष्टि रखने वाले महर्षि थे। चार सौ वर्षों से भी ज्यादा पहले उन्होंने बीसवीं शताब्दी में होने वाले दोनों महायुद्धों का पूर्वदर्शन कर लिया था। यही नहीं, इसी शताब्दी के अंत होते-होते प्रारंभ होने वाले तीसरे विश्व-युद्ध की भी भविष्यवाणी कर दी थी। उन्होंने अपनी भविष्यवाणी में हिटलर का नामोल्लेख तक कर दिया था।

यह अविश्वसनीय किंतु सच है। इसलिए पश्चिमी जगत के बड़े-बड़े मदान्वित बुद्धिजीवियों की बोलती बंद हो गयी और भविष्यवाणियों का मजाक उड़ाने वाले उनके कटु आलोचकों को बार-बार मुंह की खानी पड़ी।

नोस्त्रादेमस की ये भविष्यवाणियां छंदोबद्ध चौपदों में हैं। दस शतकों में लगभग २५०० भविष्यवाणियों का समावेश है। इनमें से अब तक की ८०० भविष्यवाणियां सही प्रमाणित हो चुकी हैं। अन्य भविष्यवाणियां ३७९७ तक के समय से संबंधित हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से ये भविष्यवाणियां दिल्ली के मुगल बादशाह अकबर के शासन काल से पहले प्रकाशित हो चुकी थीं। एक हिन्दुत्ववादी श्री जी०एम० हिरण्यप्पा ने इनके कुछ अंश अपनी टीका सहित प्रकाशित किए। इन पर आधारित एक पत्रक को लाखों की संख्या में छपवाकर इंद्रप्रस्थ विश्व हिंदू परिषद नई दिल्ली द्वारा नि:शुल्क बांटा गया। इसका शीर्षक था, "भारत का समय आ रहा है।" प्रचार-पत्रक की अपनी सीमाएं, अपने पूर्वाग्रह और आवेग होते हैं। फिर भी तटस्थ दृष्टि के साथ पढ़ें तो दो पंक्तियों के बीच पढ़ते हुए हम उनके सारभूत अंश को हृदयगम कर सकते हैं। हिरण्यप्पा लिखते हैं —

"हिंदुओं के लिए विशेष रूप से नोस्त्रादमस महान हर्ष के स्रोत स्वरूप हैं। फ्रांसीसी ऋषि ने भारत की कभी यात्रा नहीं की थी। किंतु देश काल की दूरी के बावजूद नोस्त्रादमस ने महान शक्तिशाली एवं विश्व-विजयी हिंदू राष्ट्र की भविष्यवाणियां की हैं, जिसका उदय अब बहुत निकट आ गया है। भविष्यदर्शी फ्रांसीसी ऋषि का कहना है कि पुनर्जीवित भारत अपने पूर्व दमनकारियों पर कहर बन कर टूट पड़ेगा और उन्हें पूरी तरह नेस्तनाबूद कर देगा। इस भयानक प्रतिशोध का प्रारंभ सन् १९९९ के सातवें महीने में होगा।

"नोस्त्रादम कहते हैं कि सात वर्ष के रक्तरंजित युद्ध के बाद मुस्लिमों का पूर्णत: सफाया हो जायेगा। मक्का अथवा मदीना किसी का नामोनिशान भी नहीं रह जायेगा। सोमनाथ मंदिर के ध्वंस का लाखों गुना बड़ा बदला चुका लिया जायेगा, मुहम्मदी मजहब का संसार से सदैव के लिए लोप हो जायेगा।"

"जिन यूरोपीय देशों ने भारत को लूटा-खसोटा है, वे भी बच्चे नहीं जायेंगे, गारनीय क्रोधानल की ज्वाला से रोम जल उठेगा और आल्प्स पहाड़ के विशाल प्रतिरोध को पार कर हिंदू सेना पेरिस तक बढ़ जायेगी। पोप अपनी नाव से निकल कर भाग खड़े होंगे। यूरोप के अधिकांश देश ईसाइयत के मिथ्या सिद्धान्तों से अपना संबंध विच्छेद कर लेंगे, प्राचीन हिंदुत्व की लहर चतुर्दिक फैल जायेगी और आकाशमंडल वैदिक मंत्रों की ध्वनि से गुंजरित हो उठेगा।"

"क्या यह सब परियों की कहानी जैसा लगता है? अविश्वासियों को विश्वास दिलाने के लिए फ्रेंच दार्शनिक के शतकों में से कुछ चौपदे उद्धृत करना समीचीन होगा। यह बात ध्यान में रखना जरूरी है कि उनका प्रथम प्रकाशन सन् १५५५ में हुआ था। उस समय के प्रकाशन की दो प्रतियां आज भी पेरिस

स्पेन प्रांत की नेशनल लाइब्रेरी में सुरक्षित हैं। उनकी असलियत पर कोई उँगली नहीं उठा सकता।"

"निम्नलिखित भविष्य कथन मुस्लिम खूख्वारों तथा उनके सरपरस्तों को हलक के नीचे उतरने में थोड़ी कठिनाई होगी—

उस चिर प्रतीक्षित (विश्व नेता) का जन्म
यूरोप में नहीं होगा
अमर शासक को
उत्पन्न करेगा भारत
उसकी कठोर बुद्धि
और शक्ति के समक्ष
दिग्विजयी विद्वत्ता के समान
एशिया नतमस्तक होगा।

—दसवां दशक, ७३वां चौपदा।

संभवतः धर्मोन्मादियों के लिए इस चेतावनी को नाकाफी समझकर नास्त्रादम ने एक अन्य छंद में स्वयं इसका स्पष्टीकरण किया—

समुद्र के नाम वाला
धर्म विजयी होगा
परास्त होंगे खलीफी
अदालत के धर्मोन्मादी
हिंदुत्व और ईसाइयत के बीच का
मिथ्या अलिफ का
हत्याओं पर टिका मजहब चूर होगा।

—दसवां दशक, ९६वां चौपदा।

"यह भविष्यवाणी थोड़ा स्पष्टीकरण चाहती है। भूगोल के विद्यार्थी जानते हैं कि सात महासागरों में एक हिंद महासागर है। हिंदू धर्म ही एकमात्र ऐसा धर्म है जिसके नाम पर सागर क्या महासागर है, (स्वयं 'हिंदु' शब्द 'सिंधु' से उत्पन्न है, जो एक नदी का नाम होने के साथ 'सागर' के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है—लेखक), मुस्लिम धर्मोन्मादियों का विश्वास है कि शरीयत या कानून अपनी कामवासना-मूलक अनुज्ञाओं सहित ईश्वरीय अथवा खलीफा की अदालत द्वारा प्रदत्त है। अरबी भाषा में कुरान का प्रारम्भ ही 'अलिफ' वर्ण से होता है। हिंदू और ईसाई दोनों ही मुस्लिमों के भारी अत्याचार सहन पड़े हैं और वे बदला चुकाने के लिए लालायित हैं। आज आने वाली स्थिति की बानगी लेबनान में (और अब ईरान में) देखने को मिल रही है। नास्त्रादम की भविष्य-

वाणी प्रत्यांजित मजहब के अंत का संकेत करती है।"

यदि इस व्याख्या में कुछ खींचातानी समझ में आती हो, तो एक अन्य चतुष्पदी पर गौर करिए—

जहाँ तीन समुद्र मिलते हैं
उस प्रायद्वीप में आयेगा वह शासक
जो गुरुवार का पूजक होगा
उसकी बुद्धि और शक्ति का
सभी राष्ट्र करेंगे अभिनन्दन
एशिया में उसका विरोध
करना निरी मूर्खता होगी।

— प्रथम शतक, ५०वां चौपदा

संपूर्ण पृथ्वीमंडल में दक्षिण भारत ही एकमात्र ऐसा प्राय द्वीप है, जहाँ तीन सागर एक स्थान पर मिलते हैं, अतः प्रकट होता है कि भारत के शत्रुओं का संहार करने वाला महान हिंदू नेता दक्षिण भारत से आयेगा, जो गुरुवार को विशेष पूजा करता होगा। यह बात साफ है कि नोस्त्रादम ने विशेष रूप से गुरुवार को ही पवित्र दिवस क्यों कहा? गुरुवार को पवित्र मानने वाले हिंदू ही हैं, मुस्लिम शुक्रवार (जुमा) को उपासना का मुख्य दिन मानते हैं। यहूदी शनिवार को ईश्वर की आराधना करते हैं। ईसाई रविवार को गिरजाघरों में अपनी प्रार्थनाएं गाते हैं। अतः नोस्त्रादम का स्पष्ट संकेत है कि विजयी नेता हिंदू तथा दक्षिण भारतीय होगा। वह संपूर्ण एशिया को अपने छत्र तले एक सूत्र में बांधेगा।

साथ ही यह बात भी मार्के की है कि शासक अत्याचारी नहीं होगा, वह मात्र धर्मोन्मादियों के प्रति कठोर होगा। कम्यूनिस्टों को तो वह हिंदू धर्म की शाश्वत विविधताओं से आकर्षित कर अपने वश में कर लेगा। रूस, भारत का साथी हो जायेगा।

मूर का मजहब
विनष्ट होगा
अधिक लोकप्रिय अन्य धर्म आयेगा सामने
जिसका प्रथम आस्वाद
नीपर लेगी
क्योंकि नया धर्म बुद्धिग्राह्य होगा।

—तृतीय शतक, ९५वां चौपदा।

मोरक्को के निकट निवास के कारण मुस्लिमों को यूरोप वाले अक्सर मूर कहते हैं। नीपर दक्षिणी रूस की एक विशाल नदी है। ऋषि की भविष्यवाणी से प्रतीत होता है कि कम्यूनिस्ट देशों में से रूस ही हिंदुत्व के पक्ष में मार्क्सवाद का परित्याग करेगा। इस संदर्भ में फ्रांसीसी लेखक रीनकोर्ट का उल्लेख आवश्यक है। उनके अनुसार सिद्ध योगी श्री रामकृष्ण परहंस ने शरीर त्याग से कुछ पूर्व भविष्यवाणी की थी कि "मेरा अगला जन्म भारत के उत्तर-पश्चिमी देश में होगा"। इसे यों समझिये कि परमहंस का पुनर्जन्म हिंदू महात्मा के रूप में होगा। इसमें भी नोस्त्राडम के वचन का समर्थन ही होता है। इस्लाम की अपेक्षा कम्यूनिज्म आज अधिक लोकप्रिय है, किंतु हिंदू धर्म के पुनरुत्थान में वे दोनों ही विलुप्त हो जायेंगे।

हिंदू राष्ट्र के साथ अपनी मैत्री के कारण रूस को उसका भारी लाभ मिलेगा। नोस्त्राडेमस ने रूस के सौभाग्य का वर्णन यों किया है—

स्लाविक जनता
विजयी पक्ष में रहेगी
और उन्नति के चरमोत्कर्ष तक पहुँचेगी
वह अपना क्षुद्र सैद्धांतिक पथ छोड़ देगी
पहाड़ी सेना समुद्र पार कर
संयुक्त अभियान में शामिल होगा।

—पंचम शतक, २६वां चौपदा।

श्री हिरण्यप्पा की चौपदे की व्याख्या इस प्रकार है—

जब हिंदू सेना पुराने अपराधियों से प्रतिशोध लेती हुई पश्चिम एशिया को रौंदेगी तभी काकेशस के पहाड़ों में मौजूद रूसी सेना उसमें आकर मिल जायेगी, क्षुद्र सिद्धांत त्याग से तात्पर्य काल मार्क्स पथ के निर्देश को छोड़ने से है। रूसी सेना द्वारा पार किया जाने वाला समुद्र या तो भूमध्य सागर होगा अथवा कृष्ण सागर।

अनिवार्यतः यहां ऐसी जिज्ञासा हो सकती है, कि क्या ऐसा होना संभव है? फ्रांसीसी दार्शनिक की भविष्यवाणी की पुष्टि करनेवाला संतोषजनक उत्तर यहां प्रस्तुत है—

सन १९२७ के
अक्तूबर मास में
अफगान और तुर्क
ईरान के विजित प्रदेश
आपस में बांट लेंगे

निर्दोष जनों का खून
बहाने वाले मुस्लिमों के विरुद्ध
ईसाई स्वर्ग से दुआ मांगेंगे।

—तृतीय शतक, ७७वां चौपदा।

सन् १५५५ में, नोस्त्रादेमस की भविष्यवाणी प्रकाशित होने के बाद यह घटना घटी। अक्टूबर सन् १७२७ में अफगानिस्तान और तुर्की ने ईरान के बटवारे का समझौता किया। तुर्की ने कुशासन के अंतर्गत पड़े ईसाइयों के साथ जार्जिया व आर्मेनिया में ईसाइयों के साथ ऐसा बर्बर बर्ताव किया गया कि भगवान को स्मरण करने के सिवा उनके पास कोई चारा नहीं रह गया था। अब उक्त दोनों प्रांत सोवियत रूस में शामिल हो चुके हैं। नोस्त्रादेमस कभी फ्रांस और स्पेन से बाहर नहीं गये थे, केवल एक बार उन्होंने इटली तक की यात्रा की थी, फिर भी उन्होंने यह देख लिया था कि अफगान और तुर्क १७२७ में क्या करेंगे।

हर हिसाब से सचमुच यह एक आश्चर्यजनक भविष्यवाणी है—

इस्लामी राज्य का
तख्ता हिंदू पलट देंगे
अधिकांश मुस्लिम मिट जायेंगे
भारत द्वारा प्रक्षिप्त
रेडियो सक्रिय धूल से
मुहम्मदी सदैव के लिए
मौन और निश्चेष्ट हो जायेंगे।

—तृतीय शतक, ९९वां चौपदा।

यहां उल्लेखनीय है कि अपने शतकों की गद्यात्मक भूमिका में स्वयं नोस्त्रादेमस ने कुछ विस्तार के साथ इस्लाम और मक्का के विनाश का वर्णन किया है। उनके अनुसार उस नगर का अंत ऐसा होगा कि मक्का में दाखिल होने वाला कोई भी व्यक्ति रोगाक्रांत हो कर मृत्यु के मुख में चला जायेगा। इस भविष्यकथन की एकमात्र व्याख्या यही हो सकती है कि उस क्षेत्र में रेडियो-धर्मी धूल चतुर्दिक गिरेगी।

नोस्त्रादेमस ने घोषणा की है कि सन् १९९९ के सातवें महीने से ७ वर्ष तक हिंदू प्रतिशोध के कार्यों में संलग्न रहेंगे। यहां स्मरणीय है कि इस्लामी धर्म-ग्रंथों में भी १४ सदी पूर्ण होने के बाद १५वीं हिजरी सदी में अपने मजहब के विनाश की भविष्यवाणी की गयी है और ईस्वी सन् १९८० से मुसलमानों की १५वीं सदी प्रारम्भ हो गयी है।

इस्लामी धर्मग्रन्थों मे एक 'इमाम मेंहदी के आगमन की भविष्यवाणी की गयी है, जो मुस्लिम मजहब का कायाकल्प करेगा तथा दिग्भ्रमित मुस्लिमो का मार्गदर्शन करेगा। कुछ विद्वानों के अनुसार यह 'इमाम मेहदी' असल मे वही इमामे हिंद "(इमामे हिंदी या हिंद का नेता) है, जिसका नोस्त्रादेमस की तथा अन्य कई भविष्यवक्ताओं की भविष्यवाणियों म जिक्र है। यह बडा मार्के का गूढ रहस्यमय विन्दु है, जिसकी अधिक गहराई मे व्याख्या करने की हम इस पुस्तक के अंतिम अध्याय मे कोशिश करेंगे। वहरहाल, इस 'इमामे हिंद', हिंदू नेता, अथवा विश्वनेता के बारे मे नास्त्रादेमस का एक और चौपदा हिरण्यप्पा की व्याख्या के साथ देखिए—

इस्लामी ताकत के विनाश किंवा मूलोच्छेद के बाद हिंदू नेता का यूरोप की ओर प्रयाण होगा। मिस्र और इसरायल दोनो उसके सहायक बन जायेंगे।

हिंदू जनों को साथ लेकर
हिंदू नेता तदनतर
आक्रमण करेगा
रोम और उसके साथियो पर
उसके पोन प्रस्थान करेंगे
लीवियाई नो अड्डो ||
और वाइविल गायक पादरी
मारे जायेंगे।

यह महायुद्ध रक्तरंजित होगा। एक अन्य भविष्यवाणी मे नोस्त्रादेमस कहते हैं कि हिंदू सेना के भी ढाई लाख जवान युद्ध मे शहीद होंगे, किंतु विजय उसी की होगी और वह निर्णायक जीत होगी।"

इस विज्ञप्ति मे प्रचारको के निहित स्वार्थ और सकीर्णता का दर्प एव बुद्धि जीवी के लिए असह्य हो सकता है। सबसे बडा सवाल तो यह खडा हो जाता है कि क्या अणुबमो के इस युग में इस तरह की कोई सैनिक विजय सभव भी है? इस महाप्रश्न की चर्चा भी हम अंतिम निष्कर्षात्मक अध्याय मे करेंगे।

खाड़ी युद्ध छिड़ने स पहले १६ अगस्त १९९० को नाटम फ्राम की टेलाइन पर ॥ गए प्रे समाचार संस्था न इन्ही नॉस्ट्रडेमस को इस युद्ध से सबधित भविष्यवाणी का दुनिया भर म प्रचारित कर दिया। समाचार का शीर्षक था—

'बीसवी सदी का अंतिम सघर्ष प० एशिया में'—फ्रास के प्रसिद्ध ज्योतिषी नास्ट्रडेमस न चार सौ साल पहले यह भविष्यवाणी की थी कि बीसवी सदी का अंतिम अंतर्राष्ट्रीय सघर्ष पश्चिमी एशिया म शुरू होगा।

नॉस्ट्रडेमस की रचनाओ के एक विशेषज्ञ न यह जानकारी देते हुए बताया

कि इस विश्वविख्यात प्राचीन ज्योतिषी ने इस दुनिया में एक सभ्यता के ही खत्म होने की भविष्यवाणी की थी।

उक्त विश्लेषक ज्यो चार्ल्स फाट ब्रून ने १९८० में एक अत्यधिक चर्चित पुस्तक 'नास्ट्रेडेमस इतिहासविद् और भविष्यवक्ता' लिखी थी जिसमे उन्होंने एक कम्प्यूटर की मदद से उनकी भविष्यवाणियों का फ्रांसीसी में अनुवाद किया था।

नॉस्ट्रेडेमस की भविष्यवाणियां के विश्लेषक चार्ल्स फाट ब्रून ने यह नवीनतम टिप्पणी कुवैत पर इराकी आक्रमण के सदर्भ में की थी।

नॉस्ट्रेडेमस की एक भविष्यवाणी उल्लेखनीय है। मुसलमानों का ईसाई विरोधी जत्था इराक और सीरिया में उद्वेलित होगा और वह ईसाई सिद्धांत को अपना दुश्मन मानेगा।

"नॉस्ट्रेडेमस ने आगे कहा है, "इराकी लोग मित्र देशों के खिलाफ आक्रमण बोल देंगे, जबकि वहां के लोग हर्षोल्लास में लिप्त होंगे। चर्च की सत्ता पर सामुद्री आक्रमण से यह धराशायी हो जायेगी। ईरान में दस लाख से अधिक सैनिक इकट्ठे हो कर तुर्की और मिश्र पर हमला बोल देंगे।

"नॉस्ट्रेडेमस ने कहा, "अन्ततः जीत पश्चिम की होगी। पर यह लड़ाई विभिन्न इलाकों में सालों तक चलेगी। यह लड़ाई फ्रांस में भी तीन साल सात महीने तक चलेगी और इराक लड़ाई हार बैठेगा।

"नास्ट्रेडेमस ने यह भविष्यवाणी १५५५ में की थी। उसने यह भी कहा था कि जुलाई १९९९ में उस एक महान नेता का उदय होगा, जबकि उससे पहले और बाद में लड़ाई जारी रहेगी। विश्लेषक फ्राटब्रून के अनुसार नोस्ट्रेडेमस ने दुनिया के खत्म होने की बात नहीं की थी, बल्कि कहा था कि बीसवी सदी की इस अंतिम लड़ाई के बाद एक हजार साल शांतिपूर्ण रहेंगे।"

इन भविष्यवाणियों से हम कुछ निष्कर्ष तो तुरत निकाल सकते हैं। एक अणुयुद्ध हुआ भी तो वह सीमित रहेगा, दो महाप्रलय नहीं होगा, कम से कम प्रत्यक्ष भौतिक संहार के रूप में। लेकिन एक सभ्यता का विनाश होगा। यह सभ्यता मुस्लिम सभ्यता भी हो सकती है, ईसाई सभ्यता भी हो सकती है। सिद्धांतों पर आधारित जड़वादी सभ्यता भी हो सकती है। तब यह प्रलय स्थूल नहीं बल्कि सूक्ष्म होगा। यानी इंद्रियों से ज्ञात होने की अपेक्षा मानसिक अथवा आध्यात्मिक अनुभव के स्तर पर घटित होगा। और आध्यात्मिकता ही भारत के सनातन हिंदू धर्म एवं संस्कृति का दूसरा नाम है। यह आध्यात्मिकता संहार नहीं बल्कि कायाकल्प करेगी। सभी धर्मों और सिद्धांतों का, एवं समूची मानव जाति का कायाकल्प भी इसमें आ जाता है।

क्या इस प्रकार का तादात्म्य संभव है कि पृथ्वी पर आगामी एक हजार वर्षों के लिए शांति का सतयुग स्थापित हो जाए ? इस प्रश्न को भी हम इसी पुस्तक के निष्कर्षात्मक अध्याय तक निर्विवाद रखते हैं।

बहरहाल १५ की डैट लाइन से मित्र सेनाओं ने इराक के खिलाफ जमीनी युद्ध लगभग शुरू कर लिया था। वे फासीसी सेनाएं ही थीं, जो कुवैत के रेगिस्तानी, इराक अधिकृत इलाकों में पहले घुसी थीं। रूसी शांति प्रस्ताव को इराक ने तो स्वीकार कर लिया था लेकिन राष्ट्रपति बुश और उनके परम मित्र राष्ट्र ब्रिटेन के प्रधानमंत्री जान मेजर ने साफ साफ ठुकरा दिया था। फ्रांस, इटली आदि पसोपेश में थे, लेकिन उन्हें अमेरिका का पिछलग्गू बनने के अलावा चारा नहीं था।

लड़ाई लम्बी नहीं खिंची। इराक का नेस्तनाबूद कर भी दिया जाता तो भी बुश महोदय की घोषणा के अनुसार यह दुनिया की आखिरी लड़ाई नहीं होगी। क्योंकि मुस्लिम राष्ट्र घड़ेबंदी की ओर बढ़ते जाएंगे। घटनाक्रम नास्त्रेडेमस की अन्य भविष्यवाणियों की तरह इन भविष्यवाणियों के भी चरितार्थ होने की ओर अग्रसर है।

अब हम इतिहास में नास्त्रेडेमस से भी पीछे चलते हैं। इतिहास की सचाइयों से पीछे हटते हुए पुराणों की कहानी के घने धुंधलके में भी चमकते कुछ तथ्यों पर नजर डालते हैं।

पुराणों के अनुसार ऐसे महाप्रलय पृथ्वी पर अनेक बार हुए। इनमें हिमयुग या जल प्रलय के कारण आंशिक या पूर्ण जीवसृष्टि नष्ट हुई और फिर उत्पन्न हुई। प्राचीन साहित्य में केवल दो तीन प्रलय स्मृति शेष हैं। महाभारत के शल्य-पर्व तथा द्रोणपर्व में प्रथम अग्नि प्रलय का उल्लेख है। संभवतः यह एक प्रकार का आणविक महायुद्ध ही था। यह कहा गया है कि तमाम देवी-देवता अपने अंतरिक्ष-गामी विमानों में बैठकर, अग्निदग्ध पृथ्वी से जान बचाने के लिए सामूहिक रूप से कूच कर गए थे।

ये देवता आखिर थे कौन ? और वे कहां गए ? इस दिशा में भी कइयों ने कयासों की जमीन पर कल्पना के घोड़े दौड़ाए हैं। एक आधुनिक खोजी डेनिकेन ने यह दावा किया है कि ये देवता अपने मन की गति से उड़ने वाले विमानों में उड़कर सूर्यमण्डल के ग्रहों तथा उससे भी आगे आकाशगंगा के पिण्डों पर कहीं जा बसे। वहां उनकी सम्पदाएं अब भी आबाद हो सकती हैं। यही नहीं, अपने एक समय के निवास स्थान पृथ्वी ग्रह की खोज-खबर लेने के लिए वे समय-समय पर आते-जाते रहे हैं। पृथ्वी के अनेक स्थानों पर अंतरिक्ष से उतरने वाले इन देवदूतों के द्वारा किए गए निर्माणों का ब्यौरा भी डेनिकेन ने दिया है। पुरा-कथाओं में व्याप्त देवताओं के अवतरण की कथाओं को उन्होंने इस घटना से

जोड़ा है। ये देवदूत आज भी उड़नतश्तरियों जैसी रहस्यमय वस्तुओं में बैठकर पृथ्वी के चक्कर लगाते रहते हैं। संभवतः इसलिए कि उन्हें फिर उसी तरह के किसी आण्विक प्रलय की संभावना नजर आ रही है।

गुह्यवादी एक दूसरे तरह की व्याख्या भी देते हैं। ये अंतरिक्ष की देवतुल्य सभ्यताएं वैज्ञानिक दूर संचार और यातायात के कल्पनातीत शक्तिशाली साधनों से संपन्न तो हैं ही। वस्तुसम्प्रेषण, दूरश्रवण, दूरदर्शन, विचार संप्रेषण जैसी परामनोवैज्ञानिक क्षमताओं का विकास भी कर लिया हो, जिनके द्वारा वहाँ बैठे-बैठे ही वे ऋद्धि-महर्षि अथवा परामनोवैज्ञानिक पृथ्वी स्थित मानवों के ग्रहणशील मस्तिष्कों पर नियंत्रण कर रहे हों। मस्तिष्क नियंत्रण द्वारा वे बाह्य स्थितियों और घटनाओं का नियंत्रण कर रहे हों और अपनी इष्ट दिशा में मानव-सभ्यता को मार्गदर्शन एवं सहायता पहुंचाते हुए आगे बढ़ा रहे हों। युद्ध, उनकी पूरी योजना में शक्तियों का महत्त्व एवं शक्ति-परीक्षण या अखाड़े की प्रतियोगिता भी हो सकता है। इसकी विवेचना भी हम आगे विस्तारपूर्वक करेंगे।

फिलहाल उक्त अग्निप्रलय के बाद रामायण के अरण्यकांड में जल प्रलय का उल्लेख मिलता है, जिसके बाद स्वयंभुव मनु ने नवीन मानव सृष्टि की। बाइबिल में मनु का मत्स्य ही नोहा की नाव बन गया। कुरान और हदीस में यही हजरत नूह बन गये हैं।

अयोध्या को सृष्टि की आदि नगरी कहा गया है। कहीं देवताओं द्वारा निर्मित नगरी के रूप में उसका उल्लेख है। अथर्ववेद के द्वितीय खण्ड में अयोध्या का सीधा उल्लेख है। कहा गया है कि देवताओं द्वारा निर्मित अयोध्या नगरी में ८ चक्र (मण्डल) नौ द्वार तथा अपार धन वैभव है। वाल्मीकि रामायण में अयोध्या को मनुनिर्मित नगरी कहा गया है—

"अयोध्या नाम तत्रास्ति नगरी लोक विश्रुता। मनुना मानवेंद्रेण पुरवै निर्मिता स्वयं।"

आज की जमीनी मवादों से आगामी और बीते हुए कल की यात्रा हमने अपने मस्तिष्क की कम्प्यूटरी टाइम-मशीन में बैठकर की। यह हमें उस दूसरे महाप्रलय तक ले आई है, जिसके बाद मनु ने नवीन मानव सभ्यता का निर्माण किया था। आइये, अब इस यात्रा से आगे की कहानी बनाम इतिहास पर नजर डालें।

२. पिछले महाप्रलय : दर्शन और विज्ञान

पिछले अध्याय में हमने 'टाइम-मशीन' की बात की है। यह महज एक रूपक था। लेकिन यह सिर्फ एक अलंकार मात्र नहीं है। ज्यूल्स वर्न ने 'टाइम-मशीन' नामक एक अद्भुत विज्ञान कथा लिखी है। इस मशीन में प्रविष्ट होकर मनुष्य भूतकाल या भविष्यतकाल में इच्छानुसार यात्रा कर सकता था। क्या यह भी एक कल्पना थी?

कल्पना की उड़ान तो यह थी ही। क्योंकि आज वास्तव में ऐसी कोई मशीन विद्यमान नहीं है, न निकट भविष्य में बनने की संभावना है। लेकिन जहाँ तक थ्योरी या सिद्धांत का सवाल है, ऐसी मशीन संभव है चाहे उसका रूप जैसा भी हो। अल्बर्ट आइन्स्टीन के सापेक्षतावाद को वैज्ञानिकों द्वारा स्वीकार कर लिए जाने के बाद तात्विक रूप से ऐसी मशीन वास्तविक संभावना के दायरे में आ गयी है।

आइन्स्टीन ने दिक्-काल (Space-Time Continuum) आयाम की सापेक्षता को समझाने के लिए एक उदाहरण दिया था। प्रकाश प्रति सेकंड एक लाख छियासी हजार मील की गति से यात्रा करता है। सूर्य से पृथ्वी तक प्रकाश किरणों की यह यात्रा लगभग नौ मिनट में पूरी होती है। इसका अर्थ यह है कि सूर्य के अपने स्थान पर होने और हमें दिखाई देने में नौ मिनट लग जाते हैं। आकाश गंगा के कुछ सूर्य हमसे इतनी दूरी पर हैं कि प्रकाश किरणों की यह यात्रा पूरी होने में बरसों लग जाते हैं। यह अंतरिक्ष-पट्टी या माप ही प्रकाश वर्ष या लाइट इयर कहलाता है। इसका मानी यह हुआ कि आज प्रकाश वर्ष के फासले पर स्थित किसी नक्षत्र पर कोई घटना हो रही हो—और हमारी दूरबीन उसे देखने की शक्ति रखती हो, तो वह घटना हमें एक वर्ष बाद दिखाई देगी। दूसरे शब्दों में यदि ऐसी कोई सूर्यमाला आकाशगंगा में है जो हमसे पाँच हजार प्रकाशवर्ष दूरी पर है, वहाँ मानव जैसे ही बुद्धिमान प्राणी बसते हैं और वहाँ के वैज्ञानिक अपने दूरवीक्षण से पृथ्वी की घटनाओं को देख सकते हैं, तो आज उन्हें वास्तविक महाभारत युद्ध उसी प्रकार दिखाई देता होगा जैसा हमने उसे दूरदर्शन के पर्दे

पर धारावाहिक में देखा। अत आइन्स्टीन ने यह निष्कर्ष निकाला कि काल अपने आप में निरपेक्ष तथ्य नही है, बल्कि द्रष्टा की स्थिति पर निर्भर करता है।

काल के सापेक्ष होने की कल्पना भारत के मनीषियो ने कर रखी है। पहले तो उन्होंने परम सत्ता या ब्रह्म को कालातीत यानी अनादि और अनत माना। वास्तव में हमारी बुद्धि जितनी भी आगे-पीछे चली जाये, काल का आदि-अत उसकी पकड में आ नही सकता। हमेशा यह सवाल बना रहेगा कि उससे पहले क्या था और उसके बाद क्या होगा। इस प्रश्न का उत्तर ऋषियो ने चेतना के बदले हुए आयाम में पाया। यह प्रश्न तभी तक अनुत्तरित रहता है, जब तक कि हम व्यक्ति-चेतना में रहते है। ऋषियो ने एक विश्व-आयामी चेतना के दर्शन या अनुभूति की। वहा उन्होंने अनुभव किया कि समस्त काल (टाइम) और कुछ नही हमारा व्यक्तिनिष्ठ विस्तार (सब्जेक्टिव एक्सपाशन) ही है। इसी तरह दिक् (स्पेस) हमारा वस्तुनिष्ठ विस्तार (ऑब्जेक्टिव एक्सपाशन) है। विश्व-चेतना भी सात चेतना है। जबकि अनत चेतना विश्वातीत चेतना है। पूर्ण-चेतना इन तीनो आयामो को—व्यक्ति, विश्व और विश्वातीत—अपनी समग्रता में धारण करती है, और त्रिकालदर्शी होती है। क्योकि उसका सकल्प ही अभिव्यक्त विश्व का रूप धारण करता है। यही उसकी क्रीडा या लीला है। पूर्ण चेतना को ऋषियों ने कई नाम दिए। ऋत चेतना, सत्य-चेतना, विज्ञान आदि। यह चेतना जानती है कि कब, क्यो, क्या, कहा और कैसे होना है। जैसे एक बीज में पूरे वृक्ष का नील चित्र (ब्लू प्रिंट) निहित होता है और एक जीन में तमाम पीढियो की यात्रा का मार्ग। जो इस चेतना के आयाम से जहाँ तक सपर्क रखते है, वहाँ तक त्रिकालदर्शी हो जाते हैं। नॉस्त्रेदेमस को इन्ही में से एक कहा जा सकता है।

सभवत इसीलिए पुराणो में काल के सबसे बडे माप को कल्प कहा गया है। इसमें कई मन्वतर, महायुग, चतुर्युग आते हैं। कई ब्रह्मा-विष्णु-महेश और देवता गण, जो कि विश्व-आयामी चेतना की शक्तियाँ है, उत्पन्न होते, सृष्टि रचना, पालन-सहार करते और विलीन हो जाते है। वे कई-कई बार सोते-जागते हैं। मनुष्यों के एक वर्ष को देवो का एक दिन, देवो के एक वर्ष को ब्रह्मा का एक दिन आदि कहा गया है। यह काल की सापेक्षता का ही ऋषियो की प्रतीकात्मक सी भाषा में अनुवाद है। इस परिकल्पना की तर्कसगतता पर और विचार हम आगे करेंगे। इस समय हमें यह देखना है कि आखिर इस योजना में महाप्रलयो का क्या स्थान है ? वे होते क्यो हैं ?

ऋषि-मनीषियों के स्तर से कुछ नीचे उतर कर एक कवि से पूछें तो रघुपतिसहाय फ़िराक गोरखपुरी के अनुसार 'प्रलय ईश्वर की आत्महत्या है।' जैसे

कोई बच्चा अपने खेल से असंतुष्ट होकर बना-बनाया खेल बिगाड़ देता है। खुद रेत का घरौंदा बना कर खुद ही एक लात से उसे तोड़ डालता है। वैसे भी महायोगी अरविंद ने ईश्वर की व्याख्या कुछ हलके-फुलके मिजाज में इस प्रकार की है, "भगवान आखिर हैं क्या? इस विश्व के शाश्वत उद्यान में खेलते हुए शाश्वत बालक।" क्या पृथ्वी पर होने वाला महाप्रलय उनके लिए बस एक लात मारकर घरौंदा तोड़ देने से ज्यादा माने रखता है? क्योंकि ऐसी न जाने कितनी करोड़ पृथ्वियाँ इस ब्रह्मांड में होंगी। और ऐसे न जाने कितने अरब ब्रह्मांड, साबुन के पानी से बने गुब्बारों की तरह बनने-बिगड़ने होंगे।

हम यह तो इतने हलके-फुलके ढंग से महाप्रलय को न लें। क्योंकि हम बेचारों की चेतना अधिकांश व्यक्ति-चेतना ही है। वह न तो विश्व-आयामी है, न विश्वातीत, न पूर्ण या समग्र। तर्क उसकी समझ का सबसे सुपरिचित साधन है। तर्क की भाषा में यह तो जो स्थान एक व्यक्ति के जीवन में मृत्यु का है, वही एक समष्टि के (एक सभ्यता, एक जाति, एक पृथ्वी या एक ब्रह्माण्ड के) जीवन में प्रलय का। तो अब हम पहले अपने ऋषियों से पूछें कि आखिर मृत्यु है क्या?

मृत्यु का व्यावहारिक अर्थ है प्राण का अंत। तब प्राण क्या है? प्राण एक विश्वव्यापी शक्ति है। यही द्रव्य-रूपों की सृष्टि करती है। उनमें ऊर्जा भरती है। उनकी स्थिति बनाये रखती है। उनमें परिवर्तन करती है। उनका विलय पुनर्निर्माण करने के लिए किया करती है।

ऋषि कहते हैं कि हमारे जगत का दृश्य आधार और आरंभ है भौतिक तत्त्व यानी उपनिषदों की भाषा में पृथ्वी। इस भौतिक विश्व का निर्माण क्रमशः परमाणु से होता है। परमाणु ऊर्जा से आविष्ट होता है। मजेदार बात यह है कि इस परमाणु में ये सभी उत्पादन-तत्त्व या निर्माण सामग्री असंगठित रूप में पायी जाती है जो आगे चलकर कामना, दृष्टा और बुद्धि का रूप धारण करती है। इसी भौतिक द्रव्य में स्थूल वनस्पति के रूप में दृष्टिगोचर होने वाला यह प्राण प्रकट होता है। फिर यही प्राण सजीव देह के द्वारा अपने भीतर से बन्दीभूत मन को उन्मुक्त करता है। यानी यह एक मध्यवर्ती वाहन है जिसके द्वारा मन की ऊर्जा क्रिया करती है।

लेकिन ऋषियों ने यह देखा कि ये तीनों, यानी जड़ तत्त्व, मन और प्राण अपने आप में स्वतंत्र सत्ताएँ नहीं हैं। प्राण चित्-शक्ति का एक अंतिम कार्य है। इस चित्-शक्ति का असली नियामक, निर्माता और अभियंता (इंजीनियर) यह सत् या सत्पुरुष है। उसके संकल्प से ही समस्त विश्व उत्पन्न होता है। चेतना इस सत्पुरुष का स्वरूप या शक्ति है। यही चेतन पुरुष सत्य-संकल्प का रूप धारण करता है। यह संकल्प एक 'सृजनकारी ज्ञान दृष्टा' होती है।

ऋषियों की यह 'सृजनकारी ज्ञान-इच्छा' कुछ क्लिष्ट मालूम हो रही हो, तो हम संकल्प शब्द पर एकाग्रता से सोचकर उसका अर्थ जान सकते हैं। क्योंकि 'संकल्प' करना हम भली भांति जानते हैं। यह 'सृजनकारी ज्ञान इच्छा' ही ईश्वर का मन है। मानव मन से उसकी तुलना हम अगले अध्याय में करेंगे। फिलहाल हम फिर 'प्राण' के विषय पर लौटते हैं।

प्राण भी वही चित्-शक्ति, वही ज्ञान-इच्छा है। लेकिन देह में वह इस प्रकार नियमित होती है, मानो दूसरे प्राणों से पृथक् हो। इस प्रकार वह व्यक्तिगत रूपों का निर्माण करती है। प्राण ब्रह्म की ऊर्जा है, डायनामो में जैसे विद्युत उत्पन्न होती है, वैसे ही यह प्राण ऊर्जा निरंतर अपने आप को रूपों में या देहों में उत्पन्न करती रहती है। वह कोई स्वतन्त्र तत्त्व या गति नहीं है, बल्कि अपने पीछे संपूर्ण चेतन-शक्ति को रखती है। वह मन और देह का मध्यस्थ है। यही चेतन-शक्ति प्राण के माध्यम से असंख्य व्यक्तिगत रूपों में से एक का संघटन करती तथा उसका रक्षण-पोषण करती है। अन्त में उसकी उपयोगिता समाप्त होने पर उसका विलय कर देती है।

ऊर्जा के असंख्य रूप, अपने-अपने स्थान, समय और क्षेत्र में क्रिया करते हुए, विश्व की सम्पूर्ण क्रीडा को निष्पन्न करते हैं। देह में स्थित प्राण की ऊर्जा को अपने से बाहर की विश्वगत ऊर्जाओं के आक्रमण को सहन करना पड़ता है। वह उन्हें अपने अंदर लेती है, उनका भक्षण करती है और अंत में उनके द्वारा भक्षित होती है। कभी वह अपने से बाहरी प्राण के आक्रमण से छिन्न-भिन्न हो जाती है। कभी उसकी भक्षण करने की सामर्थ्य कम हो जाती है, या उसकी आवश्यकता यथेष्ट मात्रा में पूरी नहीं होती। अतः वह अपनी रक्षा करने में असमर्थ हो जाता है। कभी अपने-आपको पुनर्नवीन न करने के कारण वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। इसी नवनिर्माण या पुनर्नवीनीकरण के लिए उसे उस क्रिया के मध्य से जाना होता, जिसे हम मृत्यु कहते हैं।

यह पृथक् प्राण सीमित एवं अपर्याप्त सामर्थ्य के साथ अस्तित्व धारण करता है। कर्म करता है। उसके आसपास विद्यमान विश्वीय प्राण से उस पर दबाव पड़ता है। आघात होते हैं। वह उन्हें विवशभाव से सहन करता है। अपनी इच्छा से उनका परिग्रहण नहीं करता। वह दुनिया में एक दीन-हीन, सीमित व्यक्तिगत सत्ता के रूप में आता है। परन्तु जब व्यक्तिगत सत्ता में चेतना का विकास होता है तो जैसे वह नींद से जागती है। अपने भीतर की क्षमता का धुंधला-सा अनुभव करती है। तब वह पहले अपनी तन्त्रिकाओं, फिर मन के द्वारा इस क्रीडा पर प्रभुत्व प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। इसका उपयोग और उपभोग करने लगती है।

प्राण शक्ति है, शक्ति क्षमता है और क्षमता इच्छा है और इच्छा ईश्वर-चैतन्य की क्रिया है, अत व्यक्तिगत प्राण को अपनी गहराइयो मे यह अधिकाधिक ज्ञान होता जाता है कि वह स्वय भी सच्चिदानद की वह इच्छा शक्ति है, जो कि विश्व की प्रभु है। तब यह व्यक्तिगत प्राण भी व्यक्तिगत रूप मे स्वय अपने जगत् का प्रभु होने की इच्छा करता है। लेकिन वह एक विभक्त सत्ता और शक्ति है। यह तथ्य उसे अपने जगत् का यथार्थ प्रभु होने से रोकता है। क्योकि जगत् का प्रभु होने का अर्थ होगा, सब शक्ति का प्रभु होना।

इस प्राण द्वारा प्रभुत्व प्राप्ति का प्रयत्न सदा पर्यावरण मे तत्सदृश प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। यह पर्यावरण ऐसी शक्तियो से भरपूर होता है, जो कि स्वय अपनी परिपूर्णता की इच्छा रखती है। इसीलिए जो सत्ता उन पर प्रभुत्व प्राप्त करना चाहती है, उसके प्रति वे असहिष्णु होती हैं। वे विद्रोह करती है। उस पर आक्रमण करती हैं। एक तीव्र सघर्ष उत्पन्न हो जाता है प्रभुत्व के लिए चेष्टा करने वाला प्राण यदि अपने पर्यावरण के साथ नवीन सामजस्य स्थापित करने मे सफल न हो तो विघटित हो जाता है। यही मृत्यु का एक कारण है।

एक और कारण भी है। यह देहधारी प्राण के स्वभाव और उद्देश्य से जुड़ा हुआ है। वह है सात आधार पर अनत अनुभव प्राप्त करने की चेष्टा करना। यहाँ रूप अथवा देह उसका आधार है। इस आधार का गठन ही इस प्रकार हुआ है कि वह (देह) अनुभव की सभावना को परिसीमित करता है। इसलिए अनत अनुभव की प्राप्ति तभी हो सकती है, जब कि पुरानी देह का विनाश कर दिया जाय और नवीन देह का ग्रहण किया जाय।

इस अनुभव प्राप्त करनेवाले को ऋषियो ने एक नाम दिया है—अतरात्मा। वह इस अनुभव के लिए क्षण और क्षेत्र (टाइम एण्ड स्पेस) मे सकेंद्रित हुआ है। जब एक बार क्रीडा मे ही क्यो न हो उसने इस तरह अपने आपको परिसीमित कर लिया तो फिर खेल के नियमो की तरह उस अनुक्रम के नियम का अनुसरण करना पडता है। वह अपने काल-अनुभव को अतीत कहता है। उसे क्षण प्रतिक्षण बढाता है। इस प्रकार उसका सचय करते हुए वह अपनी अनतता को प्राप्त करता है। इन अनुभवो के साथ वह काल मे गति करता है। इस प्रक्रिया के लिए रूप का परिवर्तन आवश्यक है। और व्यक्तिगत देह मे अतग्रस्त अतरात्मा के लिए रूप परिवर्तन का अर्थ है देह का विनाश। एक परस्पर भक्षी विश्व मे ही उसे अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए सघर्ष करना पड़ता है।

यही मृत्यु का नियम है। यही मृत्यु की आवश्यकता और औचित्य है। यानी मृत्यु प्राण का निषेध नही, बल्कि प्राण की ही एक क्रिया है। मृत्यु की आवश्यकता दर्शाती है, कि रूप का नित्य परिवर्तन ही एकमात्र वह अमरत्व है, जिसकी यह

मान और सजीव द्रव्य आकांक्षा कर सकता है। अनुभव का नित्य परिवर्तन ही वह एकमात्र अनन्तता है, जिसे सजीव देह में कैद सात मन प्राप्त कर सकता है।

हमारे दैनिक जीवन में, जन्म और मृत्यु के बीच भी, परिवर्तन तो होता है लेकिन वह एक ही रूप रचना की सनत पुनर्नवीनता के रूप में होता है। लेकिन अनन्त अनुभव की माग पूरी करने में यह अपर्याप्त होता है। रूप रचना में पूरा या आमूलाग्र परिवर्तन हुए बिना यह माग पूरी नहीं होती। अनुभव करनेवाले मन के देश, काल और पर्यावरण की नवीन परिस्थितियों में नवीन रूपों को धारण किए बिना व विभिन्न प्रकार के आवश्यक अनुभव नहीं हो सकते। देश और काल में आई हुई सत्ता की यह माग होती है। विलय के द्वारा, एक प्राण के दूसरे के द्वारा भक्षण कर लिए जाने से मृत्यु होती है। हमारा मरणशील मन स्वतत्रता का अभाव अनुभव करता है। विवशता, सघर्ष, दुःख, परायी प्रतीत होनेवाली वस्तुओं की आधीनता आदि भोगता है। लेकिन यही वस्तुएं उसे यह भान कराती हैं कि यह सब भीषण और अप्रिय है और इनमें परिवर्तन आवश्यक और हितकारी है। भक्षण किए जाने, छिन्न-भिन्न होने, विनष्ट होने, यहां से बलात् हटाये जाने का भाव ही मृत्यु का डक है।

व्यक्ति चेतना के स्तर पर मृत्यु का जो अर्थ, आवश्यकता और औचित्य है, वही समष्टि या विश्व-चेतना के स्तर पर महाप्रलय का है। प्राण ही मृत्यु के छद्मरूप को धारण करता है। विश्व-चेतना ही महाप्रलय का भीषण नाटय रचाती है। मृत्यु सात व्यक्ति की उस क्रिया का परिणाम है, जिससे कि वह अपनी अमरता को प्रस्थापित करने का प्रयास करता है। महाप्रलय विश्व-चेतना का आमूलाग्र नव-निर्माणकारी प्रयास है। इसे पुराणों में कल्पांत भी कहा गया है।

एक कल्प के अंतर्गत कई बार महाप्रलय होते हैं। एक महाप्रलय से दूसरे महाप्रलय के बीच कई बार प्रलय होते हैं। एक प्रलय से दूसरे प्रलय के बीच कई मन्वतर होते हैं। यानी नए सृष्टिचक्र के अधिष्ठाता मनु बदलते हैं। एक मन्वतर में कई चतुर्युगों के चक्र आते हैं। चतुर्युग के एक चक्र में सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि इन चार युगों का समावेश होता है।

इस कालचक्र की कल्पना को समझने के लिए हमें ऋषियों की मनीषा में और गहराई में गोता लगाना पड़ेगा।

ऋषियों के अंतर्दर्शन को समझने की सरलता के लिए हम तीन शब्दों का प्रयोग करेंगे, "परम प्रभु" और "सृष्टि"। परम प्रभु में एक ऐसा ऐक्य है, जिसमें सभी संभावनाएं बिना किसी भेदभाव के मिल जाती हैं। हम कह सकते हैं कि 'सृष्टि' में इस ऐक्य का निर्माण करनेवाली सभी चीजों का परस्पर

विरोधियों को विभाजित करके यानी उन्हें अलग करके प्रक्षेपण है। इसी को पकड़कर किसी ने कहा कि सृष्टि अलगाव है। परस्पर विरोधी चीजों के उदाहरण हैं दिन और रात, काला और सफेद, शुभ और अशुभ आदि। यह समग्र, सब मिलकर पूर्ण एकता है। यह एकता निर्विकार और अविच्छेद्य है। सृष्टि का मतलब है इन सब चीजों का—जो ऐक्य में समाविष्ट हैं—अलग होना। हम इसे चेतना का विभाजन कह सकते।

चेतना के विभाजन का आरंभ होता है ऐक्य के अपने बारे में सचेतन होने से ताकि वह अपने ऐक्य में विविधता के बारे में सचेतन हो सके। और तब यह सब अपनी इच्छा के कारण हमारे लिए देश और काल में अनूदित होता है।

यह संभव है कि हमारी इस चेतना का हर बिंदु अपने बारे में सचेतन हो और साथ ही अपने समग्र ऐक्य के बारे में सचेतन हो। यह काम जारी है। यानी इस चेतना का छोटे-से छोटा तत्त्व चेतना की इस स्थिति को रखते हुए, समग्र मौलिक चेतना को खोजने की प्रक्रिया में है।

इसके परिणाम स्वरूप है वह स्पंदन चेतना जो अपने ऐक्य के बारे में और समस्त चेतना के बारे में ऐक्य के अलग तत्त्वों के बारे में सचेतन है। हमारे लिए यही चीज काल के भाव में अनूदित होती है। यानी 'निश्चेतना' से चेतना की समग्र स्थिति तक की गति। कह सकते हैं कि 'निश्चेतना प्रथम 'ऐक्य' का प्रक्षेपण (प्रोजेक्शन) है। यह उस तात्त्विक ऐक्य का प्रक्षेपण है जो केवल अपने ऐक्य के बारे में सचेतन है। हम यही निश्चेतना है।

यह निश्चेतना उन सत्ताओं में अधिकाधिक सचेतन होती जाती है जो अपने सच्चे आत्मिक अस्तित्व के बारे में सचेतन होने के साथ-ही-साथ जिसे हम दर्शन विकास या रूपांतर कहते हैं उनके द्वारा समग्र ऐक्य के बारे में सचेतन हो जाती है।

इस तरह यहाँ हर चीज का हर एक चीज को सूक्ष्मतम से लेकर स्थूलतम चीज तक का अपना स्थान मिल जाता है।

इस ऐक्य-चेतना की उपलब्धि ही केंद्रीय उपलब्धि है। जो इस केंद्रीय उपलब्धि में अधिष्ठित हुए हैं उन्हें हम सच्चा संत कह सकते हैं। यह वस्तुओं की अनंत विविधता, स्वरूप की विविधता, घटनाओं की विविधता, सबको चेतना की विविधता बन जाते हैं। इस अनन्यता को जिन्होंने ही जगत का निर्माण किया है और उसका निर्देशन करते जाते हैं। साथ ही साथ वह हर चीज को समग्र में देखते जाते हैं, इसलिए सब कुछ जो भी निर्मित होता है वह इसी के द्वार।

एक तरह से हम अनुभव बना रहे हैं। दूसरे शब्दों में यह अनुभव

की सृष्टि' है। इसका मतलब यह हुआ कि चेतना के इन अनगिनत बिंदुओं के इन परस्पर विरोधियों के संतुलन से ही केंद्रीय चेतना फिर से पायी जा सकती है। उदाहरणार्थ जिसे हम 'अशुभ' कहते हैं, संतुलन की इस सृष्टि में उसका एक अनिवार्य स्थान है। अशुभ एक आणविक तत्व है जो अपनी आणविक चेतना को देख रहा है। (इसका विवेचन हम आगे भी करेंगे।) जिस क्षण हम 'समग्र' के बारे में आवश्यक रूप से सचेतन हो जाएं, उस क्षण में यह 'अशुभ' नहीं लगेगा। चूंकि चेतना तत्वतः एक ही है, इसलिए वह फिर से ऐक्य-चेतना को पा लेती है—*केंद्र और बाह्यांचल, दोनों को साथ। यही केंद्रीय उपलब्धि है।*

अतः संसार वही है, जो उसे हर क्षण होना चाहिए। हम उसे गलत तरीके से देखते हैं, गलत तरीके से अनुभव करते हैं, गलत तरीके से ग्रहण करते हैं, इसलिए कि हममें केंद्रीय उपलब्धि नहीं होती। जैसे मृत्यु! यह एक संक्रमण-काल की घटना है। लेकिन हमें लगता है कि यह हमेशा से चली आ रही है। लेकिन हमारे अंदर जब यह केंद्रीय उपलब्धि हो जाती है, तो चीजें मानो तात्कालिक हो जाती हैं। एक गति है, एक प्रगति है, फिर वह चीज है, जो हमारे लिए समय का रूप लेती है। यह एक चित्र और उसके प्रक्षेपण की तरह है। यह कुछ-कुछ ऐसा है कि सभी चीजें हैं, और हम मानो उन्हें परदे पर प्रक्षिप्त होते हुए देखते हैं। वे एक के बाद एक आती हैं।

केंद्रीय उपलब्धि दिव्य चेतना की उपलब्धि है, जिसे ऋषियों ने 'विज्ञान' या 'सत्यचेतना' कहा है। इस चेतना में भूत, भविष्य और वर्तमान एक साथ रहते हैं, मानो चेतना एक परदे पर हो। जबकि तर्क-बुद्धि काल के एक क्षण से दूसरे क्षण की ओर बढ़ती है। वह खोती है और प्राप्त करती, फिर से खोती और प्राप्त करती है। किंतु 'विज्ञान' काल को एक ही दृष्टि और शाश्वत शक्ति में अधिगत कर लेता है। वह भूत, वर्तमान और भविष्य को उनके अविभाज्य संबंधों द्वारा, ज्ञान के एक ही अखंड मानचित्र में एक-दूसरे को पास-पास रखकर जोड़ देता है। विज्ञान समग्र सत्ता से आरंभ करता है, जो पहले ही उसके अधिकार में है। वह भागों, समूहों और ब्योरों को केवल समग्र के संबंध में और एक ही साक्षात्कार में एक साथ देखता है। यही समग्रता भगवान है—देश में समग्रता और काल में समग्रता और यह एक ऐसी चेतना है जिसे मानव शरीर पा सकता है।

साधारण मानव-चेतना इस आनंदपूर्ण, शांतिमय, ज्योतिर्मय, सर्जनात्मक और भव्य विज्ञान-चेतना की तुलना में एक भयंकर छिद्र है। लेकिन यह तो 'आवश्यक' है। 'क्षणिक' रूप में ही यह ऐसी क्यों न हो, एक में से दूसरे में प्रवेश

करने के लिए यह आवश्यक है, जो कुछ होता है, वह सृष्टि के लक्ष्य के पूर्ण उन्मीलन के लिए आवश्यक है। हमने पहले देखा है कि, सृष्टि का लक्ष्य यह है कि सृष्ट 'स्रष्टा' की भांति सचेतन हो जाय। 'अनन्त' की, 'शाश्वत' की यह चेतना सर्व शक्तिमान है—जिसे हमारे धर्म ईश्वर कहते हैं। हमारे जीवन के संबंध में यही अनंत, शाश्वत, सर्वशक्तिमान, कालातीत भगवान है। हर एक व्यक्तिगत कण यह चेतना लिये हुए है। हर पृथक् कण इस एकमेव चेतना को लिए है। विभाजन ही ने सृष्टि की रचना की है और विभाजन में ही 'अनंत' अपने आप को अभिव्यक्त करता है।

अब देखें कि परिवर्तन क्या है। संसार हमेशा बदलता रहता है। एक निमिष मात्र के लिए भी वह अपने जैसा नहीं रहता और सामान्य सामंजस्य अपने-आपको अधिकाधिक पूर्ण रूप में प्रकट करता है। इसलिए कोई भी चीज, जैसी की वैसी बनी नहीं रह सकती। और विपरीत आभासों के होते हुए समग्र हमेशा, प्रगति करता रहता है। सामंजस्य अधिकाधिक सामंजस्यपूर्ण होता जा रहा है। 'अभि-व्यक्ति' में सत्य अधिकाधिक 'सत्य' होता जा रहा है। लेकिन उसे देखने के लिए हम समग्र को देखना होगा। जबकि हम मनुष्य, केवल मानव क्षेत्र भी नहीं देखते। हम केवल अपना निजी क्षेत्र, एक बिलकुल छोटा, बहुत ही छोटा भाग देखते हैं और उसे भी समझ नहीं सकते।

समग्र एक दोहरी चीज है जो अपने-आपको पारस्परिक क्रिया में द्वारा पूर्ण करती जा रही है। जैसे-जैसे 'अभिव्यक्ति' अपने बारे में अधिक सचेतन हो जाती है उसकी अभिव्यंजना अपने-आपको अधिक पूर्ण करती है। वह अधिक सत्य होती जाती है। ये दोनों गतियाँ साथ-साथ चलती हैं।

हम यह कह सकते हैं कि हमारी यह सृष्टि 'संतुलन की सृष्टि' है। परंपराओं के अनुसार सृष्टि पैदा होती है और फिर उसका लय हो जाता है, और फिर एक नयी सृष्टि पैदा होती है। हमारी सृष्टि सातवीं है। यह प्रलय में नहीं लौटेगी। बल्कि सदा आगे बढ़ती जायगी, कभी पीछे न हटेगी। इसकी विशेष विवेचना हम आगे करेंगे। अभी सिर्फ यह देखना है कि इस परंपरागत कल्पना के अनुसार छः बार महाप्रलय हो चुके हैं।

यह तो रही ऋषियों का विज्ञान। आधुनिक वैज्ञानिकों का भूगर्भविज्ञान भी महाप्रलयों की धारणा को मान्यता देता है तथा उनके कारणों पर प्रकाश डालने की अपने ढंग से कोशिश करता है।

१६५० के दशक तक कुछ भूगर्भशास्त्रियों को छोड़कर अधिकांश वैज्ञानिक पृथ्वी को एक स्थिर पिंड मानते थे। महाद्वीप प्राचीन काल से एक स्थायी अवस्था में स्थित माने जाते थे। समुद्र तल उससे भी प्राचीन और अपरिवर्तनशील समझे

जाने थे।

लेकिन पृथ्वी और महाद्वीपों की स्थिरता का यह दृष्टिकोण अब बदल चुका है। महाद्वीप एक अर्धविगलित पदार्थ की तह पर तैरते पाए गए हैं। इसी तरह समुद्र तल पृथ्वी के एकदम अर्वाचीन तथा अस्थायी क्षेत्र माने जाने लगे हैं। पृथ्वी गर्भ में उनके परिवर्तन का चक्र औसतन २० करोड़ वर्षों में घूम जाता है और एक का स्थान दूसरा ले लेता है। उसी तरह महाद्वीप अपने एकमात्र अति-महाद्वीप (सुपरकाटीनेंट) 'पैंजिया' से टूटने के बाद लगातार गति कर रहे हैं। यह घटना २० से ३० करोड़ वर्ष पहले हुई थी।

इस भूगर्भशास्त्रीय उत्पात या महाप्रलय की खोज का सर्वाधिक श्रेय जर्मन मौसम-विज्ञानी आल्फ्रेड वेजनर को है, जिसने अपना सिद्धांत १९१५ में प्रकाशित किया था। उससे पहले भी १६२० में अंग्रेज दार्शनिक फ्रांसीसी बेकन ने अफ्रीका के पश्चिमी तट तथा दक्षिण अमरीका के पूर्व तट की सीमा रेखाएं, परस्पर टूटे हुए दो खण्डों की तरह मिलती हुई नोट की थी और संकेत किया था कि यह मिलान मात्र संयोग नहीं हो सकता। १८५८ में फ्रांसीसी वैज्ञानिक एंटोनियो स्नाइडर ने अटलांटिक महासागर तटीय महाद्वीपों को एक परिकल्पना के तहत जोड़कर दिखाया और यूरोपीय तथा उत्तर अमरीकी कोयला खानों में मिले एक जैसे अश्मीभूत (फॉसिलाइज्ड) पौधों का स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया।

लेकिन वेजनर ने अपनी परिकल्पना के समर्थन में और कई स्रोतों से प्रमाण इकट्ठे किये। फिर भी ४० वर्षों तक यह सिद्धांत उपेक्षित पड़ा रहा। क्योंकि पृथ्वी के ठोस पृष्ठतल पर स्थित ठोस महाद्वीप इधर से उधर कैसे जा सकते हैं—इसकी कोई व्याख्या नहीं हो रही थी।

१९६० के दशक में अमरीकी भूगर्भशास्त्री हेराल्ड हेस ने यह पहेली सुलझाई। उसने स्पष्ट किया कि पृथ्वी के गहरे गर्भ में जो पिघला हुआ पदार्थ है, वह लगातार उबलता और ऊपर उठता हुआ, समुद्रतलवर्ती पर्वत श्रेणी के शिखरों से फूटता रहता है। यह लावा ठंडा होकर बराबर नए समुद्रतल की शक्ल लेता रहता है। इस नए पदार्थ को स्थान देती हुई, पर्वत श्रेणियों के दोनों ओर की समुद्रतल परत सरकती बढ़ती रहती है। ऐसा करते हुए वह प्राकृतिक समुद्रीय खड्डों में फिर पृथ्वी गर्भ में गिरकर पिघलती रहती है। इस तरह समुद्रतल लगातार निर्माण, हलचल और ध्वंस की अवस्था में रहा है।

हेस की परिकल्पना के प्रमाण १९६३ में दो ब्रिटिश भू-भौतिकी विदों ने प्राप्त किये। उनकी खोज प्रस्तरों के चुंबकत्व की गणना पर आधारित थी। फ्रेडरिक वाइन तथा ड्रमाड मैथ्यूज नामक एक जोड़ी को पता चला कि समुद्रीय पर्वत श्रेणियों की दोनों ओर जो चट्टानें पायी जाती हैं, उनकी चुंबकत्व संरचना एक जैसी है। इससे यह संकेत मिलता था कि ये दोनों वस्तुएं एक ही समय निर्मित

हुई हैं।

पृथ्वी की बाह्य पपड़ी को लीथो स्फियर कहते हैं। यह अलग-अलग तहों या प्लेटों की बनी हुई है। ये प्लेटें अपने अंदरूनी भाग में तो अचल होती हैं लेकिन एक दूसरी की दिशा में लगातार हलचल करती रही हैं। जहाँ वे आपस में मिलती हैं, वहाँ प्रचंड बल उत्पन्न होते हैं। फलस्वरूप इनके हाशियों के बीच ज्वालामुखी के उद्वेग तथा भूकंप होते रहते हैं। ऐसे तटवर्ती भूचाल-दैत्याकार लहरें पैदा करते हैं, जो हजारों मील तक विध्वंस का दृश्य उत्पन्न कर देते हैं। सम्भवतः इसी तरह की प्रलयकारी हलचल तब हुई थी जब मनु विवस्वान अथवा हजरत नूह को महामत्स्य या नौका के सहारे जान बचाकर भागना पड़ा था। यह इलाका सम्भवतः पश्चिमी और मध्य एशिया का ही था—जिसकी विवेचना हम आगे करेंगे।

महाप्रलयों का दूसरा कारण पृथ्वी पर आने वाले हिमयुग माने जाते हैं। भौमिक इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि समय-समय पर पृथ्वी पर जल व थल के वितरण की व्यवस्था भिन्न भिन्न रही है। इसके साथ-साथ जलवायु भी बदलती रही है। भौतिक वैज्ञानिक ने शीतोष्ण जलवायु वाले भागों का अध्ययन करके सिद्ध कर दिया है कि आज से लगभग १०-१५ हजार वर्ष पूर्व धरातल के अधिकांश भाग हिमाच्छादित थे।

वैज्ञानिकों का मत है कि लगभग १० हजार वर्ष पूर्व उत्तरी गोलार्द्ध का बहुत बड़ा भाग बर्फ से ढका हुआ था। इस काल को 'महा हिमयुग' के नाम से जाना जाता है। ऐसे महाहिमयुग और हिमयुग पृथ्वी पर अनेक बार रहे हैं।

हिमयुग आने का मुख्य कारण जलवायु में होने वाला परिवर्तन माना जाता है। जलवायु सूर्य पर निर्भर करती है। पृथ्वी पर पड़ने वाले सूर्य का प्रकाश व ताप ही जलवायु का निर्धारण करता है। पृथ्वी के भिन्न भिन्न भागों को मिलने वाले सौर-ताप की मात्रा पृथ्वी की कक्षा पर निर्भर करती है। यदि किसी कारण वश पृथ्वी की सौर-ताप का क्रमिक बँटवारा भी बदल जाता है। सूर्य के चारों ओर पृथ्वी की परिक्रमा के पथ में होने वाले परिवर्तनों में ही हिमयुग आते हैं।

वैज्ञानिकों ने पृथ्वी की जलवायु का लगभग साढ़े चार लाख वर्ष का विवरण तैयार किया है।

पृथ्वी की कक्षा में परिवर्तन कैसे और क्या होता है? सूर्य प्रथम, सूर्य, चन्द्रमा तथा सौरमंडल के अन्य ग्रहों के आकर्षण से प्रभावित होने पर पृथ्वी की कक्षा का मार्ग वृत्ताकार न रहकर दीर्घ वृत्ताकार हो जाता है। सूर्य परिक्रमा के दौरान अपनी दीर्घ वृत्ताकार कक्षा के कारण पृथ्वी कभी सूर्य के अति निकट होती है तो कभी दूर। तदनुसार उस पर ऋतु परिवर्तन होते हैं।

द्वितीय, पृथ्वी जिस कक्ष के चारों ओर लट्टू की तरह घूमती है। वह उसका परिभ्रमण कक्ष कहलाता है। परिभ्रमण कक्ष स्वयं भी घूर्णन करता है। इसे एक घूर्णन (चक्कर) पूरा करने में लगभग २६ हजार वर्ष का समय लग जाता है।

तृतीय, पृथ्वी का परिभ्रमण अक्ष उसकी कक्ष के समतल पर झुकाव-कोण बनाता है। इसका मान २३.५ अंश है। यह झुकाव कोण बहुत धीमी गति से धीरे-धीरे परिवर्तित होता रहता है। इसमें स्पष्ट परिवर्तन में लगभग ४० हजार वर्षों का समय लगता है। गर्मी तथा जाड़े की ऋतु इस झुकाव-विशेष पर भी निर्भर करती है।

जब इन तीनों कारणों से होने वाले परिवर्तन एक साथ सम्मिलित रूप से प्रभावी होते हैं, तो पृथ्वी की जलवायु में बहुत बड़ा परिवर्तन हो जाता है। इस बड़े परिवर्तन के कारण ग्रीष्म ऋतु छोटी किंतु अति गर्म होगी परन्तु जाड़े की ऋतु लम्बी भी होगी और अत्यन्त ठंडी भी। कम से कम औसतन प्रति २१ हजार से २५ हजार वर्षों में विषुवत रेखा पृथ्वी की दीर्घ वृत्ताकार कक्ष में इस प्रकार सम्बद्ध हो जाती है कि ग्रीष्म तथा शिशिर ऋतुओं का अन्तर अधिकतम हो जाता है और 'हिमयुग' की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। दो हिमयुगों में न्यूनतम लगभग २१ हजार से अधिकतम लगभग एक से डेढ़ लाख वर्षों तक का अन्तर हो सकता है।

युगोस्लावी भू-विशेषज्ञ मिलान कोविच के अनुसार, पृथ्वी ईसा से २५ हजार वर्ष पूर्व, ७० हजार वर्ष पूर्व, ११५ हजार वर्ष पूर्व, १६० हजार वर्ष पूर्व, २३० हजार वर्ष पूर्व, लगभग चार लाख वर्ष पूर्व, पौने पांच लाख वर्ष पूर्व, साढ़े पाँच लाख तथा पाँच लाख नब्बे हजार वर्ष पूर्व ऐसे जल या हिम प्रलयकारी परिवर्तन हुए थे। उक्त वैज्ञानिक ने इस तरह के ६-७ लाख वर्ष पूर्व तक के ग्राफ बनाए हैं। एक भारतीय भू-वैज्ञानिक डॉ० डी०पी० अग्रवाल के अनुसार गत २० लाख वर्षों में लगभग २० हिमयुग आ चुके हैं तथा पृथ्वी को निकट भविष्य में ही फिर हिमयुग का सामना करना पड़ेगा।

जो कुछ भी हो, विश्व के प्राचीनतम् साहित्य धर्म और लोक परम्परा में स्मृतिशेष सबसे ताजा पिछला प्रलय मनु वैवस्वत् उर्फ हजरत नूह से सबन्धित है।

अनेक विद्वानों ने बहुत प्रमाणों से इन दोनों को एक ही व्यक्ति सिद्ध किया है। कुरान शरीफ़ में बार-बार फर्माया गया है कि हजरत मुहम्मद इस्लाम के कोई पहले पैगम्बर नहीं थे। वे दैवी संदेश-वाहकों की एक लम्बी कड़ी में अंतिम थे, जिनमें सर्वप्रथम आदम थे जिनका विवाह बीबी हव्वा से हुआ था। ये कई पैगम्बर

ईश्वर द्वारा अपने दूत के रूप में अलग-अलग युगों में, दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में, उस समय बसी अलग-अलग कौमों के मार्गदर्शन के लिए भेजे गये थे। हजरत नूह ऐसे ही एक मुहम्मद पूर्व युग के महान पैगम्बर माने जाते हैं। चूंकि उनका मर्तबा सिर्फ आदम के बाद समझा गया है, इसलिए उन्हें दूसरे आदम भी कहा जाता है। ये हजारों वर्ष पहले की अयोध्या के निवासी माने गये हैं। जिस इलाके में उन्हें रहना माना गया है वह अब भी 'नबी नूह के मुहल्ले' के नाम से अयोध्या में है और वहाँ पर एक चौदह गज लम्बी प्राचीन कब्र अब भी हजारों यात्रियों को आकृष्ट करती है।

अनेक विद्वानों ने नूह के तूफान वाली घटना का वैवस्वत मनु की मछली वाली कथा का रूपान्तर सिद्ध किया है। नूह के बड़े पुत्र हेम के वंशज आज भी मिस्र में रहते हैं तथा अपना सम्बन्ध राजा मनु से जोड़ते हैं। ये लोग अपने को सूर्यवंशी कहते हैं तथा विवस्वान (सूर्य) की पूजा करते हैं। हजरत नूह के दो बेटा—हैम तथा शेम से ही संसार में, हेमेटिक और सेमेटिक जातियों का विस्तार हुआ। ये हेम और शेम ही भारतीय परम्परा में सूर्य और चन्द्र कहलाते हैं, जिनसे क्षत्रियों के दो प्रसिद्ध वंश चले।

अद्यतन ऐतिहासिक खोजों के आधार पर अयोध्या के निर्माता मनु बनाम इस्लाम के पूर्व-पैगम्बर नूह और उनके समकालीन साक्ष्यों की तथ्यपरक जाँच करना हमारे अगले अध्याय का विषय होगा।

3. पिछले प्रलय के बाद : इतिहास और गल्प

वाल्मीकि रामायण में आता है कि 'दिति के पुत्र दैत्य पृथ्वी के स्वामी थे'

'दितिस्त्व जनयत् पुत्रान् दैत्यास्तात यशस्विन ।
नेषामिय वसुमती पुरासीत् सवनार्णव ॥

(रा ३१३१३, १६)

दैत्यों को 'असुर' दानव या पूर्वदेव भी कहा जाता था। 'पूर्वदेव' इसलिए कि ये देवो से पहले हुए थे। इस असुर सभ्यता का न केवल तत्कालीन भारत जिसे अभी भारतवर्ष नाम भी प्राप्त हुआ था—बल्कि अन्य एशियाई, यूरोपीय, अफ्रीकी, यहां तक कि अमरीकी देशो तक शासन था। आधुनिक इतिहासकारो की खोजो ने अब उन ऐतिहासिक गुत्थियो को लगभग सुलझा लिया है, जो आर्यों के मूल स्थान, सिंधुघाटी सभ्यता आदि से सम्बन्धित थी। अब कुछ पाश्चात्य इतिहास विदो की यह धारणा भी निरस्त हो गई है, कि भारतियो के वेद-पुराण वास्तविक इतिहास नही बल्कि कपोल कल्पनाएं हैं। देव, दानव, असुर, राक्षस, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर महज बच्चो की कहानियो के पात्र है।

इन खोजो मे तुलनात्मक भाषाशास्त्र से काफी सहायता मिली है। एक तरह से पाश्चात्य इतिहासकारो का यह हथियार उन्हीं पर उलट गया है, जो 'आर्य' जाति को, यूरोप मे मध्य या पश्चिमी एशिया मे, कम से कम कहीं भारत के बाहर से लाकर बसी बताने के लिए इसी भाषाशास्त्र के आधार पर जमीन आसमान एक कर रहे थे। वह मानने को भी तैयार नही थे कि गुमनाम सिंधु घाटी सभ्यता, और कोई नही, यह असुर सभ्यता ही थी, जो आर्यों से पहले वहां फल-फूल रही थी।

तौलनिक भाषाशास्त्र ने अब यह उजागर कर दिया है कि इन महाद्वीपो मे स्थित देशो के नाम अनेक असुर शासको के नाम पर पड़े हैं। उदाहरणार्थ—

महाद्वीप	आधुनिक नाम	प्राचीन असुर शासक
यूरोप	स्कैंडेनेविया	स्कंद दानव
	डेनमार्क	दानव मक

अफ्रीका	मामालिया अथवा सोमाली लैंड	सुमाली असुर
अमरीका	माया अथवा मक्सिको	मय (असुर)
	वालविया	वल (असुर)

बाइबिल में 'दानवों' का उल्लेख 'डेन्स' (Danes) के रूप में आता है। तत्कालीन मिस्र निवासी अपने को 'दनौना' (Danauna) कहते थे। यूरोप की प्रसिद्ध नदी 'डैन्यूब' का नामकरण किसी दानव या दानव (असुर) वंश की माता 'दनु' के नाम पर ही हुआ है।

पारसी धर्मग्रन्थ अवेस्ता में अहुर (यह भी असुर का अपभ्रंश है) मज्द कहते हैं, 'प्रथम सुफला भूमि और देश जो मैंने आबाद किया वह 'ऐयाना वाजो' (Airyana Vaejo यानी आर्यक्रम') सुन्दर दैत्या (Daitya) नदी के किनारे था।" पौराणिक वंशानुक्रम में प्राचीनतम् दस प्रजातियों का उल्लेख है — मानव, पितर, गंधर्व, अप्सरा, नाग, यक्ष, राक्षस, असुर (दैत्य अथवा दानव), निषाद, सुपर्ण, तथा देव। इनमें से असुर, गंधर्व, देव, राक्षस तथा नाग प्राचीन विश्व की प्रबलतम् शासक रहे थे।

इन सभी वंशों की उत्पत्ति महर्षि कश्यप मारीच से बताई गई है। यह उसी सागर के किनारे रहते थे जिसका नाम उन्हीं के नाम पर 'कैस्पियन सी' पड़ गया है। हमने जिस महाद्वीपीय हलचल का पिछले अध्याय में उल्लेख किया है, उससे पहले यह कश्यप समुद्र भारतीय कश्मीर तक फैला हुआ था। 'कश्मीर' का नामकरण भी इन सापांग्रस्थिया के अनुसार इन वंशों के आदि पुरुष महर्षि कश्यप के नाम पर ही हुआ है।

देव साम्राज्य की स्थापना से पहले असुर दानव या दैत्य वंश ही सबसे प्रभावी था। कश्यप की तरह पत्नियों में से चार के नाम थे—दिति, अदिति, दनु तथा दला। उनके पुत्र क्रमशः दैत्य, आदित्य, (देव) दानव तथा कालकेय कहलाए।

दैत्य शब्द से ही इन यूरोपीय शब्दों की व्युत्पत्ति मानी जाती है, डच (Dutch) प्यूटन्स, प्यूटानिक, टाइटन्स, डॉइश (जर्मन Deutsch) थियाट (एंग्लो-सैक्सन) आदि। दानव शब्द के अपभ्रंश 'स्कैंडिनेविया', डैनमार्क, स्वीडन (स्वदानव), डैन्यूब (दन्यु) आदि हैं। एक प्राचीन दानववंश 'गाथ' का उल्लेख महाभारत में आता है। गाथ (Gath) या गामोसी उन्हीं के वंशज हैं। वंशों के वंशज कालान्तर ही यूरोप में केन्द्र वर्गीय रहे।

ये असुर राज्य अमेरिका से इंग्लैंड तक फैले हुए थे। इस तरह ये असुर वंश आधुनिक यूरोपियों के पूर्वज थे। प्राचीन यूनानी कवि होमियड ने प्राचीन विश्व

के जिन पाँच विख्यात वंशों का उल्लेख किया है, वे यही थे। किन्तु रॉथ जैसे पूर्वाग्रहयुक्त इतिहासविदों ने इस तथ्य को नकार कर झुठलाने का प्रयास किया।

यूरोपीय इतिहास के पितामह हिरोडोट्स ने देवों की तीन श्रेणियों का उल्लेख किया है। इनमें हर्क्युलीस (Hercules) इन भाषाशास्त्रियों के अनुसार 'सुरकुलेश' या 'हरिकेश' का अपभ्रंश है। डिमेडोप्स ने लिखा है कि हर्क्युलीस ने दैत्य एटलस (Atlas) को मारा। वास्तव में अतल का स्वामी अतलेश यानी मय दानव था। यूनानियों ने विष्णु तथा इन्द्र के दो चरित्रों को 'हर्क्युलीस' में मिला दिया प्रतीत होता है। बारह देवों या आदित्यों में विष्णु सबसे छोटे थे।

"द्वादशो विष्णुरुच्यते" (महाभारत (१) दैत्यों का पहला राजा हिरण्यकशिपु था।' यह 'एन्नोग कुश अनु', सुमेरिया या बेबिलोन के प्रथम अधिपति के रूप में हमें हम्मुराबी काल के गिलगमेश महाकाव्य में मिलता है। अपने बड़े भाई हिरण्याक्ष के किसी जंगली सूअर (वराह) द्वारा मारे जाने पर वह राजा बना था। 'दानवेशो' को ही 'डायोनिसियस' कहा गया है। अन्तिम दानवेश जिसने भारत पर आक्रमण किया सूर्यवंशीय अथवा इक्ष्वाकु वंशीय भारतीय सम्राट मांधाता का समकालीन था। यह विरोचन का पौत्र तथा धनु असुर का पुत्र धन्वा अमित था।

वृत्र अथवा अहिदानव ही ज़ेंद अवेस्ता का 'अज़िदाहक' (Azidahak) था। यह 'त्वष्ट्रा' का पुत्र था। पुराणों का 'यमवैवस्वत' पारसियों के 'जमशेद' के रूप में नमूदार होता है।

पांचवें देवासुर संग्राम में, जिसे 'तारकमय संग्राम' कहा गया है, हिरण्याक्ष का पुत्र कालनेमि या कालनाम असुरों की मदद के लिए आया था। यह अतल यानी अमरीका और अटलांटिक का स्वामी था। इस प्रसिद्ध युद्ध के असुर योद्धा तारक और मय थे। कालनेमि ने देवों को बुरी तरह पराजित किया। प्राचीन यूरोप के 'केल्ट' इसी कालनेमि के वंशज थे।

पहले असुरों या दैत्यों तथा देवों में आपसी वैर नहीं था। इन्द्रशतक्रतु के उदय के बाद यह पैदा हुआ। अदिति के ज्येष्ठ पुत्र तथा प्रथम देव वरुण के हिरण्यकशिपु से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे। सम्भवतः वह उस दैत्य सम्राट का मुख्य पुरोहित था। असुरों को 'पूर्वदेव' भी कहा गया है जब कि दानव तथा देवों को 'पश्चात् देव' कहा गया है। यह ऐतिहासिक तथा काल-गणना की दृष्टि से उचित ही है।

मुख्य असुरों के नाम—जो दिति एवं कश्यप की सन्तान थे। इस प्रकार है—दैत्य हिरण्यकशिपु, प्रह्लाद, अनुह्लाद, बाष्कल, विरोचन, कपिल, कुंभ, निकुंभ, बलि, त्वष्ट्रा विश्वरूप, बाण। हिरण्याक्ष की संतति में शंबर, कालनेमि आदि हुए। प्रह्लाद के भाई सम्ह्लाद, जंभ (जिस पर अफ्रीका के जांबिया का नाम पड़ा),

शतदुंदुभि निवात कवच पणि, पक्ष, मुद, उपमुद आदि।

वरुण पारसिया के 'अहुर मज्द' कहलाए। उनके पुत्र भृगु को अवस्ता में 'विरक' कहा गया है उनके पुत्र 'शुक्र' अथवा काव्य उशना थे। ये असुरों के पुरोहित बने। उनके प्रमुख वंशज, त्वष्टा, वरुत्री, चंड, मर्क, त्रिशिरा, मय, विप्रचित्ति, राहू आदि थे।

ईरानी महाकाव्य शाहनामा में इन 'पश्चात् दानवों' के वंश को 'पिश्दादियन' वंश कहा गया है। यह मूल संस्कृत शब्द का अपभ्रंश ही है। इसके संस्थापक 'केआमर्ज' (Ceiomarz) 'कश्यप मारीच' का ही विगड़ा हुआ रूप है। इसी प्रकार विवस्वान से 'हुशांग', यम वैवस्वत से जमशेद, अहिदानव से अजिदाहक, वृषपर्वा से अफ्रेसियान, कुवलाश्व से करअश्व, आद्र से आद्रेजिर, श्रमदस्यु से दुआजदस्त आदि पारसीक नाम ए व्युत्पन्न हुए हैं।

ये पिश्दादियन राजा सूर्यवंशी (वैवस्वत) तथा दानव थे। वृषपर्वा या अफ्रेसियान के बाद ईरान का राज्य अयोध्या के इक्ष्वाकु राजाओं के अधीन हो गया। कुवलाश्व या करअस्प से लेकर श्रमदस्यु या दुआजदस्त तक राजाओं की समान नामावली पाई जाती है। सूर्यवंशी राजा, कुवलाश्व तथा मांधाता दोनों ने असुरों को जीतने पाताल पर चढ़ाई की थी। पारसी धर्मसंस्थापक जरथुस्त्र, कृशाश्व तथा मांधाता का समकालीन था। वह समय ईसा पूर्व १००० से १० हजार वर्ष का था।

प्रह्लाद को यूनानी साहित्य में 'इयक्स' कहा गया है। वह या उसके भाई पश्चिमी एशिया तथा अफ्रीका के अधिपति थे। समस्त अफ्रीका असुर साम्राज्य था। अफ्रीका में, तलातल जो कि सप्त पातालों में एक कहा गया है, पर बाद में राक्षसराज सुमाली ने उपनिवेश कायम किया। उसने जिस सुमालीपुर की स्थापना की वही आज सोमालिया (सोमालीलैंड) हो गया।

रामायण के अनुसार विष्णु ने सुमाली को पराजित कर लंका से खदेड़ दिया था तब उसने सप्त पातालों में एक 'तलातल' में शरण ली थी—जो कि अफ्रीका का तटवर्ती प्रदेश था। वहां अफ्रीकी सभ्यता जैसे माली, सुमाली, अंगोला (अंग), केन्या (कन्या) और नील (नील) इस उपनिवेश विस्तार के प्रागैतिहासिक साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं।

भारत में देव सभ्यता के उदय से पहले इस प्रकार असुर साम्राज्य विश्व भर में सुस्थापित था। दोनों सभ्यताओं की जन्मस्थली भारत ही थी। किंतु असुर अथवा पूर्वदेव (दैत्य)—जिनमें दानव भी थे—गंधर्व तथा नाग सारी दुनिया में फैल गए और उसके विभिन्न हिस्सों में उन्होंने अपने राज्य स्थापित किए। ईसा से लगभग १३००० वर्ष पूर्व उन्होंने अपने साम्राज्य को सात भागों में बांटा जिन्हें

पाताल या रसातल कहा जाता था, किंतु उनकी केन्द्रीय तथा सर्वोच्च सत्ता (दैत्य साम्राज्य) भारत में ही स्थित थी।

भारत के वरुण अरबों के ताज, यूनानियों के पोसेडियन, ईरान के अहुर-मज्द एक ही थे। वे अथर्ववेद शाखा के संस्थापक थे। हालांकि वे अदिति के प्रथम पुत्र होने के नाते आदित्य या देव थे, लेकिन उनके ही वंशज बाद में विरोधी असुर हो गये। असुरों ने ईरान, अरब, बेबिलोन, यूरोपियन देश तथा अमेरिका सहित सप्त पातालों में अपने उपनिवेश स्थापित किए। महासागर वरुणालय कहलाए। वरुण तथा उनके वंशज, जल के प्रेमी थे, तथा समुद्र तटों पर एवं द्वीपों में रहना पसंद करते थे। इनमें से 'मय' तथा पणि, बड़े साहसी नाविक और इंजीनियर थे।

ग्रीक भाषाशास्त्र में एटलस (अतलेश) दैत्य को हर्कुलीज (हरिकेश या विष्णु का अपभ्रंश) द्वारा मारे जाने का उल्लेख पहले किया जा चुका है। यह अतल वही लुप्त 'अटलांटिस महाद्वीप' हो सकता है। वरुण के चौथे वंशज मय असुर-सभ्यता के श्रेष्ठतम स्थापत्य अभियंता एवं निर्माता थे। उनकी विशेषज्ञता के अवशेष यूरोप और अमेरिका (मेक्सिको की मय सभ्यता) में अब भी पाये जाते हैं। यहीं दानवासुर मय अतलेश कहलाते थे। लगभग दस हजार वर्ष पूर्व अटलांटिक महाद्वीप महासागर में गर्क हो गया तथा बाकी दुनिया से मय सभ्यता का सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया।

'तल' का अर्थ जल बहुल या तटवर्ती प्रदेश होता है। अतल का अर्थ और अदरुनी प्रदेश हुआ। अतः सप्त पाताल केवल एक पौराणिक नहीं बल्कि ऐतिहासिक और भौगोलिक तथ्य था। इस ऐतिहासिक शब्द के कई अपभ्रंश आज भी पाये जाते हैं—जैसे—अटलांटिक, इटली, अतल के ही बिगड़े हुए रूप हैं। तल अमर्ना (मिस्र), तेक अवीव (इस्राइल) प्राचीन असुरों के उपनिवेश ही थे। अनातोलिया (एशिया माइनर तुर्की), अल्ता बैरा (पुर्तगाल) लैटियम इसी प्रकार के अन्य कुछ नाम हैं। संभवतः पुर्तगाल भी 'पाताल' का अपभ्रंश है।

पुराणों में गिनाए गए सप्त पाताल हैं—अतल, वितल, नितल, नभस्तल, महातल, भूतल तथा पाताल आकाशचारी मुनि नारद इनका वर्णन करते हुए कहते हैं, "वहां दानव, दैत्य, यक्ष तथा नाग रहते हैं। वे इंद्र के स्वर्गलोक से भी अधिक सुखसम्पन्न हैं। अजब नहीं कि उनका भोग-विलास के साधनों से परिपूर्ण पाताल लोकों का वर्णन आज भी अमेरिका और यूरोप में मेल खाता है, जहां मद्य और मदिराक्षी विपुलता से पाये जाते थे। अतल प्रदेश में नमुचि, महानाद, शंकुकर्ण, क्वध, भीम, शुक्लदन्त, लोहिताक्ष, तक्षक, श्वापद, धनंजय, कालिय, शोशिर आदि असुर तथा नाग जातियां रहती थीं। मेक्सिको की मूल भाषाएं संस्कृत मूलक पायी गई हैं। दीवान चमनलाल की शोधपूर्ण विख्यात कृति 'हिंदू अमेरिका'

इसके अनगिनत साम्य प्रस्तुत करती है। वस्तुतः अब यह अधिकृत तौर पर माना जा चुका है कि मय, तमुको, अजटक, इका नाम आदि जातियाँ पूर्व दिशा से समुद्र मार्ग से यहाँ आकर बसी थीं।

बलि के नेतृत्व में दैत्य, दानव तथा नाग, वामन विष्णु द्वारा भारत से खदेड़े गये थे और पाताल में जा बसे थे। यह ईसा से लगभग १२ हजार वर्ष पूर्व की घटना है। मय दानव के वंश का इतिहास रामायण महाभारत तथा पुराणों में यत्र तत्र बिखरा पड़ा है। उनके स्थापत्यशास्त्र का चमत्कार जो रामायण की लंकापुरी, और महाभारत की मयसभा में तो वर्णित है ही, आज मय और इंका सभ्यता के अद्भुत निर्माणों, महलों-मंदिरों के अवशेषों में भी देखा जा सकता है। ३२५० मील लम्बे राजमार्ग, पर्वतीय सुरंगों में गुजरनेवाली सिंचाई नलिकाएं, ७८० फिट के भूमत पुल, आज भी इस विस्मित सभ्यता का साम्य प्रस्तुत करते हैं।

पुराणों के अनुसार तृतीय पाताल अमेरिकी 'तलातल' प्रदेश था। यहाँ के असुर अधिपति, प्रह्लाद, मय अनुह्लाद, अग्निमुख, तारक, त्रिशिरा शिशुमार, त्रिपुर, विराध, तथा नाग-नरेश, मकण, नरक, विनाशक, कपिल आदि रहे। आज का टिटीकाका प्राचीन त्रिपुर-जो कि तीन असुर तारक, कमलाक्ष तथा विद्युन्माली की नगरी थी—रहा है। काठक संहिता जैसे वैदिक साहित्य में तथा महाभारत के कर्ण पर्व में इसका वर्णन मिलता है।

रसातल, प्राचीन असुरों का केन्द्रस्थल था जिसका दूसरा नाम शाल्मलि द्वीप था जो कि आधुनिक इराक तथा संलग्न प्रदेश हैं। असुर मय विवस्वान (सूर्य) आदित्य का शिष्य था और उससे उसने खगोलशास्त्र सीखा था। हिरण्यकशिपु से लेकर बलि और बाण तक असुर राजाओं ने अपनी राजधानी बेबिलोन में रखी। असुरों की राजधानी को पुर कहा जाता था। तीन अधिसत्य (निपानव) पुरों का विध्वंस करने के कारण देवराज इंद्र 'पुरंदर' कहलाया। इस केन्द्र से निर्वासित असुर लहरों-लहरों में यूरोप, अफ्रीका, अमेरिका तथा विश्व के अन्य भागों तक 'नयी भूमि की खोज' में पहुँचे और वहीं आबाद हो गए।

रसा-नदी-तटवर्ती प्रदेश रसातल कहलाता था। यह इस आधुनिक मेसापोटामिया अथवा इराक के उत्तर में बहने वाली टाइग्रा नदी है। यह कश्यप (कैस्पियन) समुद्र से संलग्न प्रदेश है। इस प्रदेश में पुराणों तथा महाभारत के अनुसार निवातकवच (कालेय, पुलोमा, विरोचन, हिरण्याक्ष आदि) असुरों के पुर स्थित थे। ईसा पूर्व ६०० में अंतिम असुर राजा असुर नासिरपाल तथा असुर असनिपाल थे।

निप्पुर (Nippur) अथवा हिरण्यपुर के बारे में कहा गया है कि यह पुरी

आवाश में स्थित थी। पुलोमा निकटवर्ती अंतरिक्ष में रहते थे तथा कालकेय पुर जमीन पर स्थित था। बाद में कालकेय या कालखेज असुर बैबिलोन के प्राचीन कबीले खाल्डियन तथा यूरोप के कोण कहलाए। सिप्पुर (Sippur) या सुपुर को हिरण्याक्ष पुत्र असुरराज शिव ने बसाया। बाद में रसातल अथवा बैबिलोन में कई भारतीय क्षत्रिय कबीलों में जैसे किश, मुडिय, इक्ष्वाकु तथा देव (अमर जिन्हें अम्रा तथा बाद में अमीर भी कहने लगे) आदि ने अपने राज्य स्थापित किए। इनमें किश सर्वाधिक प्रतापी थे।

'पणि' से ही फिनीशियन या फिन कबीले उत्पन्न हुए। पणियों का मुख्यालय हिरण्यपुर ही था। रसा नदी के किनारे रहते थे। इन्द्र की गौएं उन्होंने चुराईं तो उसने आगूस (कुतिया?) 'सरमा' को उनकी खोज में भेजा। सरमा रसा तट से सैकड़ों मील चलती पणि असुरों के स्थान तक पहुंच गई जहां उन्होंने ये गौएं छिपा रखी थीं। यह कथा ऋग्वेद में आती है। इन्द्र द्वारा आक्रांत एवं निर्वासित कर दिए जाने पर ये पणि यूरोप की ओर भागे। यूनानी उन्हें 'फोइनिकास' तथा रोमन प्यूनिक कहते थे। आचार्य यास्क के अनुसार यही पणि 'वणिक' बन गये और यूरोप तथा अमेरिका तक समुद्री व्यापार करने लगे।

जिन्हें आज इराक ने कुर्द विद्रोहियों के नाम से जाना जा रहा है, ये नागमाता कद्रू के वंशज हैं। कद्रू, कश्यप ऋषि की एक पत्नी थी। कुर्दिस्तान प्राचीन बैबिलोन के निकट है तथा अब इराक का हिस्सा बना हुआ है। ये नागवंशी, इजिप्त, लीबिया के अलावा असुरों के साथ सप्त पातालों में बस गये थे। कद्रू, सुरसा तथा सरमा विख्यात नागमाताएं रही हैं। लीबिया का एक अधिपति शशाक (ई०पू०-८००) इसी वंश का था। पुराणों के अनुसार प्राचीनतम नागदेव थे, शेष, वासुकि, तक्षक, ऐरावत, धृतराष्ट्र, कालिय, नहुष, आदि। इनमें तक्षक मयदानवों के घनिष्ठ मित्र थे। ये दोनों जातियां पाताल में उपनिवेश बसाने साथ-साथ चलीं। मेक्सिको में एक जगह Tezneco (तक्षक) एक Achiubtla (अहिस्थल) तथा अन्य एक Ojaco (अजक) आज भी पायी जाती है। मेक्सिको में भारत की तरह ही नागों को आमतौर पर देवता माना जाता है।

वर्सुक तथा गरुड के समय एक द्वीप रमणीयक था जहाँ नाग रहते थे। यह सम्भवत आर्मीनिया तथा सीरिया (एशिया माइनर) रहा होगा। पर्शियन नरेश दारियस के काल में भी मध्य एशिया में महासर्पों विशालकृत्ता नाग-जातियों का वास वर्णित है। लोकमान्य तिलक ने पहली बार भारतीय तथा खाल्डियन वेदों में उपस्थित इन नागों का तुलनात्मक अध्ययन कर, उनकी एकता पर प्रकाश डाला।

असुर सभ्यता तथा भारतीय सभ्यता में पायी जाने वाली कई समान संज्ञाएं

तथा तथ्य उनकी मौलिक एकता के प्रमाण हैं। जैसे खगोल विद्या की संज्ञाएं (मास तथा दिन नाम आदि इनमें शामिल हैं।), देवी-देवतागण (कथित गाथा-शास्त्र), क्षत्रिय तथा म्लेच्छ कबीले, जल प्रलय की कहानी, (इतिहास), वामन तथा बलि की कथा, कालगणना की युगकल्पना, प्राचीन राष्ट्रों का समान सम-सामयिक इतिहास, प्राचीन विज्ञान तथा स्थापत्य शास्त्रीय प्रमाण आदि।

ग्रहनक्षत्रों के नाम, पंचांग प्रणाली, मास तथा दिन दोनों में एक जैसे पाये जाते हैं। क्योंकि ये संज्ञाएं असुरों के भारत-निगमन से पहले प्रचलित हो चुकी थीं।

पांच प्राचीन वंशों के जनक महर्षि कश्यप के नाम से ही यह समता शुरू हो जाती है। वे दैत्य, दानव, देव, नाग तथा गंधर्वों के आदिपुरुष थे। ऋषि कश्यप, कैस्पियन सागर तट के निवासी थे। इसका अन्य प्राचीन नाम क्षीरसागर था। कैसियोपिया नक्षत्र भी कैस्पियन सागर की तरह महर्षि कश्यप का नाम स्मृति चिह्न की तरह धारण किये हुए हैं।

असुर महत् या महादेव रुद्र तथा उनकी पत्नी गौरी पार्वती, असुर तथा देवों में समान रूप से पूजित देवता हैं। प्राचीन देशों में महादेव भिन्न-भिन्न दर्जनों नामों से विख्यात थे। सिंधु घाटी सभ्यता से तमाम पंचांग प्रणालियों तक वे पशुपति शिव के रूप में उपस्थित हैं, जिनका वाहन नंदी या वृषभ (Taurus) है। ईसा से हजारों वर्ष पहले निर्मित बैबिलोन के सीमा-पाषाणों पर भी बारह राशियों के पशुपति शिव से सम्बद्ध तमाम चिह्न अंकित पाये जाते हैं। वही असीरिया में असुर बैबिलोन मार्दुक, यूनान में मैगिस्टरियस, अरेबिया में काबा, स्थित शिवलिङ्ग, इजिप्ट में ओसिरिस भारत में रुद्र, शिव तथा महादेव, यूरोप में ओसिरिस गुरु के रूप में उपस्थित हैं।

मनुस्मृति तथा महाभारत (अनुशासन पर्व) के अनुसार कई क्षत्रिय कबीले 'म्लेच्छ' बन गये क्योंकि उन्होंने संस्कृत शास्त्रों तथा पारंपरिक ज्ञान से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया। ये 'अधार्मिक' क्षत्रिय शक, (मग), चीन, काम्बोज, पारद, शबर पह्लव, यवन मद्रक, पुलिंद आंध्र, गांधार, द्रविड़, किरात, खस आदि देशों के निवासी बन गए। यूरोप में 'ब्राह्मण' Peramaus कहलाने लगे जैसे कि तमिलनाडु में 'पिरामन'। ईरान में उन्हें 'अथर्वन्' (अथर्ववेद शाखा के उपासक होने के नाते) कहा जाता था। इजराइल में म्लेच्छ यान्त्र Mel hi Zedek बन या यहूदी। हिब्रू आभीर (यादव अहीर) का ही अपभ्रंश है। कैस्पियन तट के मसाम्मी म्लेच्छ हो थे। ईरान और अफगानिस्तान में सर्गीमियों सूरत गांधार थे। वहीं मद्र मीडिया और यादव 'यूनिया' बने। कुछ शाक्य काम्बोज कर्द्दिनिस, इक्ष्वाकु इमाक् कुछ किस हो गये। कश्मीर के नाग सूरत स्याम थे। मिस्र और अफ्रीका में 'नाग' 'नाविया' के निवासी हुए। यूनान में 'यवन' ही

'अर्योनियन' कहलाए। यही बाइबिल के Javan या ईरान के Yauna थे। पैलेस्टाइन, मूल पुलस्त्य वंशीयों ने आबाद किया और Pulesati कहलाए। 'बभ्रु' बवेरिया के, अलबुश अल्बानिया के, बल बल्गेरिया के, भोज बोस्फोरस के, कॅम्सेथ, कॉरिंथस के गिरिस्थ ग्रीस के, द्रह्यु डॉर्डानिया के म्लेच्छ बन गए। बैबिलोन मे तो इन 'भ्रष्ट' क्षत्रियों को 'खत्री' Khatti या Hittite ही कहते थे।

पुराण के अनुसार ययाति के चार पुत्र तथा उनकी संतति, म्लेच्छ देशों के अधिपति बने। द्रह्यु के वंशज हिमालय के उत्तरवर्ती देश, ईरान, मध्य एशिया तथा संलग्न यूनान तक पहुँच गए। यदु के वंशज मध्यपूर्व के देशो, इज्राइल, अरेबिया आदि पहुँचे। तुवसु की संतति यवन' कहलाने लगी। महाभारत आदि-पर्व के अनुसार 'तुवसोर्यवना स्मृत।" संभवत तूरानी तुर्वसु के ही वंशज थे। ये भी शकों की तरह बडे गंदे लोग माने जाते थे। महाभारत (१-८४-१४) मे कहा है—

गुरुदार प्रसक्तेषु तिर्यग्योतिगतेषु च
पशुधर्मेषु पापेषु म्लेच्छेषु त्व भविष्यति।

यह असुर सभ्यता यद्यपि बाद मे आर्यों द्वारा दुष्टता एव बर्बरता का पर्याय मान ली गयी, किन्तु असुर इतने गये-गुजरे नही थे। वेद और पुराणो मे उनकी विकसित सभ्यता यत्र-तत्र सर्वत्र झलकती है। किंतु इस सर्वेक्षण को आगे बढाने मे पहले हम फिर जल-प्रलय की उस घटना पर लौटेंगे जिसके बाद मनु वैवस्वत ने देव-दानव सभ्यताओ के अवशेषो पर मानव-सभ्यता की नींव रखी।

पुराणो मे ऐतिहासिक तथ्यो का अनुसंधान करने वाले विद्वानो ने पहले मनु यानी स्वायम्भुव मनु की समय तिथि विक्रम पूर्व ३०,००० वर्ष निर्धारित की है। वह इस वाराह कल्प (सृष्टि) के आदि मानव थे। आगे के चार मनु, स्वारोचिष, उत्तम तामस और रैवत उनके ही निकट वंशज थे। स्वायंभुव मनुष्य की प्रथम सहस्राब्दी मे ही अन्य दो मनु रौच्य और भौत्य हुए। उनसे १२ सहस्र वर्ष पश्चात् आठवें चाक्षुष मनु हुए। जल प्रलय की घटना जिन वैवस्वत मनु के काल मे हुई वे आज से १३००० वि०पू० से १२००० वि० पू० हुए।

यद्यपि पुराणों मे कहा गया है कि स्वयभुव मनु से वैवस्वत मनुपर्यन्त केवल सात मनु भूतकालीन है तथा सावर्णादि सात मनु भविष्यकाल मे होंगे, किन्तु डा० कुंवरलाल जैसे इतिहास विदो ने इसे पुराणो का भ्रामक पाठ बताया है। कालांतर मे इस प्रकार की अनेक बातें पुराणो मे जुड गई।

वायु और ब्रह्माण्ड पुराण प्राचीन माने जाते है। इनमे प्राचीनतम द्वादश प्रजापतियों के नाम है—भृगु, अङ्गिरा, मारीचि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, दक्ष, अत्रि, वसिष्ठ, रुचि, धर्म और रुद्र। तेरहवें प्रजापति स्वायंभुव मनु हुए। ये सभी

त्रयोदश प्रजापति ब्रह्मा या स्वयभू के मानस पुत्र कहे गये हैं।

यही स्वायंभुव मनु बाइबिल और कुरान के बाबा आदम थे और वैवस्वत मनु हजरत नूह। इनकी चर्चा हम आगे करेंगे। फिलहाल चौदह मनुओं की परंपरा देखें।

स्वायंभुव मनु के प्रसिद्ध पुत्र—प्रियव्रत तथा उत्तान पाद तथा दो कन्याएं थीं, आकूति तथा प्रसूति। प्रसूति आदिम दक्ष की पत्नी बनी और आकूति प्रजापति रुचि की पत्नी हुई। रुचि की संतति दक्षिणा और यम हुए। दक्ष की प्रसूति से २४ पुत्रियां उत्पन्न हुईं। इनमें से तेरह कन्याओं का विवाह धर्म प्रजापति से हुआ। बाकी ग्यारह का भृगु, मरीचि, अङ्गिरा, पुलस्त्य पुलह, क्रतु, अत्रि, वसिष्ठ, आदि विख्यात आदिम ऋषियों से हुआ।

स्वायंभुव मनु और भृगु के बाद मरीचि उस आदि युग के प्रधान पुरुष एवं प्रजापति हुए। उनके वंशज विख्यात महर्षि कश्यप थे। इन्हीं से समस्त पंच जन जातियाँ—देव, असुर, नाग, सुपर्ण और गंधर्व, उत्पन्न हुईं। मरीचि और कश्यप में न्यूनतम २८ पीढ़ियों का अंतर था। कश्यप 'परमेष्ठि' भी कहलाते थे। कश्यप या काश्यप भी उनका गोत्र नाम था। यानी उनसे पहले भी कश्यप नामधारी ऋषि स्वरोचिष आदि विभिन्न मन्वतरों में हो चुके थे। वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि आदिम ऋषियों के नाम भी इस प्रकार परंपरा में चल पड़े थे। इससे कभी-कभी यह भ्रम हो जाता है कि एक ही ऋषि वेदकाल से लेकर रामायण महाभारत काल तक जीवित और उपस्थित मान लिया जाता है। यानी गोत्र नामों से मूल गोत्र प्रवर्तक का भ्रम होता है।

इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं के पुरोहित परंपरा से वसिष्ठ गोत्रोत्पन्न ऋषि रहे और स्वयं भी वशिष्ठ या वाशिष्ठ कहलाए। ये वशिष्ठ या वाशिष्ठ अनेक रहे और उनके पृथक्-पृथक् नाम भी थे, जैसे देवराज वशिष्ठ, आपव वशिष्ठ, मित्रायु वाशिष्ठ आदि। कालान्तर में ये केवल एक ही और एकमात्र सनातन वशिष्ठ रह गये। यह भी पुराणों के भ्रष्ट पाठों से निर्मित और प्रचलित एक भ्रम है।

कश्यप परमेष्ठी प्रजापति ने अपनी पत्नी सुरभि से एकादश रुद्रों को उत्पन्न किया। इनमें कुछ रुद्र प्रसिद्ध हैं। एक थे नीललोहित रुद्र। इनसे अनेकविध भयंकर प्रजा की उत्पत्ति हुई। इस प्रजा में पिंगल, निषंग, कपर्दी, विशिख, हीनकेश, अघ, कपाली, महारूप, विरूप, विश्वरूप, स्थूलशीर्ष, नष्टशीर्ष, द्विजिह्वि, त्रिलोचन, अनाद, दिग्विवामन, अतिसदूकाय, शितिकंठ, नीलग्रीव आदि विचित्र जन्तुरूपा नर-नारी शामिल थे। किन्तु ऐसी प्रजा की अधिक वृद्धि नहीं हुई।

द्वादश देवासुर संग्रामों में सप्तम देवासुर संग्राम के प्रमुख नायक स्थाणु रुद्र या महादेव शिव थे। तारक असुरेन्द्र के तीन पुत्रों ने अफ्रीका (वर्तमान त्रिपोली) में शिल्पाचार्य मयासुर द्वारा तीन अद्‌भुत पुरों का निर्माण कराया था। यदि

महज गप्प या कपोल कल्पना नहीं है तो अवश्य असुरों की वैज्ञानिक प्रतिभा का चमत्कार रही होगी कि भूमि के साथ आकाश, और अंतरिक्ष में भी शहर बसाये जायें। इसी तरह तारकक्ष मुन हरि नामक असुरेंद्र ने अपने कांचनपुर में एक वापी का निर्माण कराया था, जिसमें स्नान कराने पर मृत असुर पूर्ववत् जीवित हो जाते थे।

इस समय तक संभवतः आदित्य देवों का उत्कर्ष नहीं हुआ था। यह त्रिपुर युद्ध जलप्लावन से १२५०० वर्ष पूर्व लड़ा गया था। सोमादि देवों ने प्रार्थना करके शिव से नेतृत्व करने का आग्रह किया और विजय के लिए एक अद्भुत रथ का निर्माण कराया। रुद्र नीललोहित ने इस युद्ध में असुरों का वध करके त्रिपुरों का ध्वंस किया।

वेद पुराणों में ऐतिहासिक तथ्यों की खोज करते समय सबसे बड़ी समस्या काल गणना की आ उपस्थित होती है। इसमें ४३ लाख बीस सहस्र वर्षों का एक एक चतुर्युग, ऐसे ७१ चतुर्युगोंवाले करोड़ों वर्षों के मन्वंतर और एक मनु से दूसरे मनु के बीच ३० ३० करोड़ वर्षों का अन्तर जैसी अविश्वसनीय गणनाएं उत्पन्न हो जाती हैं।

पौराणिक कालगणना के अनुसार यह श्वेत वराह कल्प के मन्वंतर के २८वें चतुर्युग का कलिकाल चल रहा है। डॉ० कुंवर लाल के अनुसार अविश्वसनीय काल गणना की भ्रांति एक प्राचीनतम कालमान 'परिवर्तनयुग' के प्रयोग से दूर हो जाती है। इतिहास पुराणों के पुरातन पाठों में स्वायम्भुवमनु से महाभारत युद्धकाल तक की महत्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख 'परिवर्तनयुग' नामक कालमान में किया जाता था। उत्तरकाल में इस युगमान का पुराणपाठों में प्रायः लोप हो गया। मानुष वर्ष एवं देव वर्ष गणना के सम्बन्ध में भी एक बड़ी भ्रांति उत्पन्न हो गई। इसमें मन्वंतर सम्बन्धी ऐतिहासिक गणना पूर्णतः गड़बड़ा गई। अनेक विद्वान युगों की मनमानी व्याख्या करते रहे। किन्तु इनसे कोई गुत्थी नहीं सुलझ पायी। डॉ० कुंवरलाल के अनुसार 'परिवर्तनयुग' गणना ही इस गुत्थी को सुलझाती है।

प्राचीन पुराणपाठों के घोर अंधकार में 'परिवर्तनयुग' का कालमान एक ऐसा प्रकाश स्तम्भ है, जिससे इस काल के समस्त महापुरुषों की तिथियां यथार्थ रूप से निश्चित की जा सकती हैं।

एक परिवर्तनयुग ३६० वर्ष का होता था। यह परिवर्तन युग गणना स्वायम्भुव मनु से आरम्भ हुई थी। 'परिवर्तन' का एक अशुद्ध पाठ 'परिवृत्त' भी पाया जाता है। जैसा कि वायुपुराण में—

क्रमेण परिवृत्तास्तु मनोरन्तर मुच्यते। (५८ ११५)

ब्रह्माण्ड पुराण में भी—

परिवृत्तें युगे तस्मिंस्ततस्ताभि प्रणश्यति। (१/२/३२/११६

पाठ मिलता है। किन्तु शुद्धपाठ भी क्षयोदयाभ्या परिवर्तमान (ब्रह्माण्ड १/२ ३२/१२० में) मिलता है। ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार स्वायंभुव मनु से भगवान कृष्ण तक)। परिवर्तनयुग व्यतीत हुए थे। स्वायंभुव मनु तथा वैवस्वत मनु मे ४३ परिवर्तनयुगा अर्थात् लगभग सोलह हजार वर्षों का अन्तर था। अत स्वायंभुव मनु अब से लगभग ३१ या ३२ सहस्र वर्ष पूर्व हुए।

थोड़ी कोशिश के साथ परिवर्तनयुग गणना का चतुर्युग गणना से सामंजस्य बैठाया जा सकता है। चतुर्युग का प्राचीनतम उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है। मूल में चतुर्युग १०,००० वर्ष के ही थे, परन्तु उत्तर काल मे उनमें सधिकाल (२००० वर्ष) जोड़कर उन्हें १२००० वर्षों का माना जाने लगा।

तेषा द्वादश साहस्री युग सन्ध्या प्रकीर्तिता
कृत, त्रेता द्वापर च कलिश्चैव चतुष्टयम्

अत्र संवत्सरा सृष्टा मानुषेण प्रमाणत (ब्रह्माण्ड १/२/२६/१८)

प्राचीन यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस ने लिखा है 'मिस्री इतिहास के अनुसार मनु से सैथोस (हेरोडोटस का समकालीन) तक ११३६० वर्ष व्यतीत हुए थे।' पी० स्मिथ के अनुसार—

'The priests told Herodol us that there had been 391 generation, both of Kings and High presents from Manos' (मनु) to sethas and this he calculates at 1139 , years

लोकमान्य तिलक ने 'दि आर्कटिक होम इन दि वेदाज' में १२,००० मानुष वर्षों का कृत युग से कलियुग तक एक चतुर्युग माना है। पारसी परम्परा में भी चार युग बारह हजार वर्षों के ही मान्य थे। परिवर्तन युग गणना मे वैवस्वत मनु का समय आज से लगभग १५ हजार वर्ष पूर्व और महाभारत युद्ध काल में दस सहस्र वर्ष पूर्व निश्चित होता है। (२८ परिवर्तनयुग × ३६०=१००८० वर्ष) इस प्रकार परिवर्तन युग गणना तथा चतुर्युग काल गणना मे पूर्ण सामंजस्य बैठ जाता है, बशर्ते कि ३६० मानुष वर्षों को। दिव्य (देव) वर्ष मानने की भांति न पाली जाये।

पुरातन मौलिक पुराणों में प्राग्महाभारतीय घटना क्रम परिवर्तनयुगों में ही उल्लिखित होता था। इस समय केवल वायुपुराण और ब्रह्माण्ड पुराण व प्राचीन ग्रन्थों में निदर्शन रूप में ही परिवर्तनयुगों का उल्लेख अवशिष्ट रह गया है।

इस गणना के अनुसार आदि दैत्य सम्राट हिरण्यकशिपु का नृसिंह द्वारा

दक्ष चतुर्थ परिवर्तन युग में हुआ। प्रजापति दक्ष और रुद्र का संघर्ष द्वितीय परिवर्तन युग में हुआ। दैत्यासुरों का साम्राज्य एवं प्रमाद दश परिवर्तन युग यानी ३६०० वर्ष रहा। यह कालावधि विक्रम पूर्व १४००० से वि० पू० १०४०० की है।

काल गणना की इस महत्त्वपूर्ण गुत्थी को सुलझा लेने के बाद अब हम स्वायंभुव मनु की ओर लौटते हैं। उनका समय प्राचेतस दक्ष से ४३ परिवर्तन युग = १६००० हजार वर्ष पूर्व अर्थात् न्यूनतम २६००० विक्रम पूर्व था। पुराणों के अनुसार इससे पहले पृथ्वी पर सूर्यदाह और जलप्लावन हो चुका था। जैसा कि पिछले अध्याय में आधुनिक वैज्ञानिक प्रमाणों के आधार पर बताया गया है, ऐसे प्रलयकारी पृथ्वी पर आते रहते हैं। पुराणोक्त 'सूर्यदाह' से पृथ्वी के पृष्ठ पर स्थित समस्त स्थावर जंगम (जीववनस्पति आदि) जलकर भस्म हो गये। किन्तु सूर्यताप के प्रभाव से पर्वतों की गुफाओं और पृथ्वी गर्भ में कुछ तत्कालीन अवशेष चिह्न बचे रह गये। यूरोप, अफ्रीका और अमेरिका की पर्वत कन्दराओं में विशालकाय दैत्यसरटों (डायनासोर) के भित्तिचित्र मिले हैं, जो पांच से सात करोड़ वर्ष पूर्व तक के अनुमानित किये गये हैं। और भी ऐसे अनेक चिह्न प्राप्त हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि अनेक बार सूर्यताप, हिमयुग और जलप्रलयों के बीच पृथ्वी पर मानव सृष्टि हुई थी। जैन ग्रन्थों के अनुसार सूर्यदाह तथा जल प्रलय का समय एक उत्सर्पिणी काल (२१००० वर्ष) बताया जाता है।

सूर्यताप के बाद वराह नामक विशाल मेघ ने पृथ्वी पर अनेक शताब्दियों तक घनघोर वर्षा की। "शतश: महान मेघों ने क्षीर (जल) को पकाते और पृथ्वी को आर्द्र करते पृथ्वी को घेर लिया।" "वराह (मेघ) बनकर स्वयंभू प्रजापति नीचे तक डूबा और पृथ्वी को बाहर निकाला।" वाल्मीकि रामायण के अनुसार, "ब्रह्मा वायु (मेघ) रूप में आकाश में विचरने लगा, वह वराह मेघ का रूप बना कर गतिमा में प्रवेश कर गया।" इस वराह मेघ की वर्षा के बिना न तो भूमि का उद्धार होता और न पृथ्वी पर जीवोत्पत्ति संभव थी। अतः यह वराह ब्रह्मा चराचर जीवों का स्रष्टा था। प्रथम वनस्पति सृष्टि हुई। तदनन्तर स्वयंभू ब्रह्मा दश विश्वसृजों एवं दक्षादि के साथ उत्पन्न हुआ। "सब प्रथम मनुष्य स्वयंभू ब्रह्मा उत्पन्न हुआ जो आकाश (अंतरिक्ष में उत्पन्न होकर पृथ्वी पर स्थित हो गया।"

"स्वयम् ब्रह्मा ने अपने शरीर को पुरुष और स्त्री के रूप में दो भागों में विभक्त किया, जो क्रमशः स्वायम्भुव मनु और शतरूपा कहलाए इन्हीं स्वायंभुव मनु को बाइबिल में आदम और उनकी पत्नी शतरूपा को हौवा कहा गया है। एक और चौंकाने वाला तथ्य सामने आया है। इस्लाम के पहले पैगंबर भी हजरत आदम माने जाते हैं। उनके जन्म स्थान के बारे में कुरान शरीफ में कुछ

भी नहीं कहा गया है, लेकिन हजरत मोहम्मद ने अपने अनुयायियों से यह जरूर कहा था कि आदम हिन्दुस्तान में पैदा हुए थे। भारत में आदम का जन्मस्थान होने का उनका रहस्योद्घाटन हदीस (उनके कथनों के संकलन) की कई किताबों में अंकित है। एक समसामयिक इस्लामी इतिहासकार काजी अतहर मुबारकपुरी बताते हैं कि हजरत मुहम्मद के जीवनकाल में उनके अनुयाई इस्लाम के पहले पैगम्बर आदम के स्वयं संबंधित होने के कारण हिन्दुस्तान की बहुत कद्र करते थे। देखिए उनकी पुस्तक अरब और हिंद अहद-ए-रिसालात में)।

स्वायम्भुव मनु के पुत्र प्रियव्रत और उत्तानपाद थे। प्रियव्रत का विवाह कर्दम प्रजापति की पुत्री काम्या के साथ हुआ था। उनके दो पुत्रियां और दस पुत्र हुए। प्रियव्रत ने अपने सात पुत्रों को सात महाद्वीपों का अधिपति नियुक्त किया। जम्बू द्वीप यानी दक्षिणी पूर्वी एशिया के आग्नीध्र अधिपति बने। इसमें जम्बू-वृक्ष की प्रधानता थी। इसलिए इसका यह प्राचीन नाम पड़ा था। कुश द्वीप अफ्रीका का प्राचीन नाम था, जिसके अधिपति ज्योतिष्मान थे। पुराणों में नील नदी के उल्लेख तथा अन्य ऐतिहासिक चिह्नों से इसकी पहचान हो चुकी है। शाल्मलि द्वीप पश्चिमी एशिया के इराक आदि देशों की संज्ञा थी। वपुष्मान को इसका राज्य मिला। शाकद्वीप संभवतः शक गण जातियों का ईरान तथा मध्य एशिया था। कुछ विद्वान साखू (शाक) के पेड़ों की बहुतायत के कारण पूर्वी द्वीप समूह को शाक द्वीप मानते हैं जिसके सम्राट भव्य थे।

प्लक्ष द्वीप मेधातिथि के, क्रौंच द्वीप द्युतिमान के और पुष्कर द्वीप सवन के आधीन था। लेकिन इन द्वीपों की पहचान आज नहीं हो सकती। क्योंकि स्वायम्भुव मनु के काल में भूतल पर महाद्वीपों और समुद्रों की जो स्थिति थी, वह आज नहीं है। इसका कुछ ऊहापोह पिछले अध्याय में किया जा चुका है। अनेक द्वीप पर्वत नदी आदि समुद्र में डूब चुके हैं। अनेक नए द्वीपादि बन गए हैं। किसी युग में अटलांटिक द्वीप (दक्षिणी ध्रुव) में पेड़ पौधे उगते थे। पशु और मानव रहते थे। वहां गुफाओं में दैत्य सरटों के चित्र मिले हैं। कोयले की खानें मिली हैं।

अतल अथवा अटलांटिक महाद्वीप के समुद्र में डूबने का वर्णन प्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक प्लेटो ने अपने ग्रंथ डायलोग्ज में किया है। यह घटना वैवस्वत मनु के समय (१२००० विक्रम पूर्व) जल प्रलय काल में संभव है या उसके पहले या बाद की भी हो सकती है।

जंबू द्वीप में आग्नीध्र के सात पुत्रों के नाम पर निम्न सात वर्ष प्रसिद्ध हुए—नाभि (हिम) वर्ष, किंपुरुष या हेमकूट वर्ष, हरिवर्ष या नैषध वर्ष, सुमेरु या इलावृत वर्ष, रम्य वर्ष या नीलवर्ष, हिरण्यवान या श्वेतवर्ष, शृंगवान या उत्तर कुरु वर्ष, माल्यवान या भद्राश्ववर्ष, केतुमाल या गंधमादन वर्ष। इन भागों के दो-

दो नाम होने का कारण यह था कि देश रात के साथ पर्वत के नाम पर भी प्रसिद्ध हुआ। जैसे हिमालय के नाम पर हिमवर्ष और आग्नीध्रपुत्र नाभि के नाम पर नाभिवर्ष। पुन नाभि के पौत्र के नाम पर इस वर्ष का नाम भारत वर्ष प्रसिद्ध हुआ, जो आज तक प्रचलित है।

गरि वर्ष को अब तुर्किस्तान, इलावृत्त को पामीर (मेरु पर्वत) रम्यक को चीनी तातार, हिरण्यवान को मगोलिया उत्तर कुरु को साइबेरिया भद्राश्व को चीन और केतुमाल को ईरान कहते हैं।

राजा नाभि (या अजनाभ) की पत्नी मेरुदेवी से ऋषभदेव की उत्पत्ति हुई। अजनाभ नाम से ही पूर्वकाल में भारत वर्ष का नाम 'अजनाभवर्ष' था। भागवत पुराण में ऋषभदेव का इतिहास विस्तार से वर्णित है। तदनुसार उनके सौ पुत्र हुए। उन्हें सर्वसन्नियों का पूर्वज और आदि देव कहा गया है। उनकी पत्नी का नाम जयन्ती एवं प्रथम पुत्र का नाम भरत था। भरत और अन्तिम नौ (कुल दस) पुत्र श्रमणधर्म के अनुयायी और प्रचारक हुए। शेष ८० पुत्र मननशील ब्राह्मण हुए। भगवान ऋषभदेव स्वयं श्रमणधर्म के आदि प्रवर्तक थे, अतः उन्हें जैनी प्रथम तीर्थंकर और आदि देव मानते हैं।

भरत का समय स्वायंभुव मनु से छः पीढ़ी पश्चात् था। आदिमप्रजाय-दीर्घजीवि तो होते थे। बाइबिल के अनुसार स्वायंभुव (आदम) की आयु ९३० वर्ष थी, पुराणों में भी सैकड़ों हजारों वर्ष आयु के दीर्घजीवियों का उल्लेख है, किन्तु इसे निश्चित नहीं माना जा सकता।

जैन ग्रन्थों के अनुसार ऋषभ ब्राह्मीलिपि एवं अंकों के आविष्कारक थे। उन्होंने अपने पुत्रों को शिल्प एवं विज्ञान की शिक्षा भी दी। उन्होंने कृषि, वाणिज्य आदि का भी प्रवर्तन किया। भरत के पुत्र सुमति जैनियों के द्वितीय तीर्थंकर माने जाते हैं। भागवत पुराण में, वेद विरोधी या वेदविहीन हो जाने के कारण उन्हें पाखंडी कहा गया है।

प्रियव्रत वंश के अन्तिम शासक सव ज्योति थे। उनसे विपुल प्रजाएं उत्पन्न हुई। वे वि०पू० १४००० वर्ष हुए थे। प्रियव्रत के अनुज उत्तानपाद की दो पत्नियां थी, सुनीति और सुरुचि। सुरुचि के उत्तम नाम का पुत्र और सुनीति के ध्रुव हुआ था। उत्तानपाद ने पहले उत्तम को ही राजा बनाया। यह उत्तम ही द्वितीय मनु कहलाया। उत्तम के तेरह पुत्र हुए। उनके समकालीन सप्तर्षि सप्त वशिष्ठ ऋषि थे। समकालीन देवों के पांच गण थे—सुधामा, देव, प्रतर्दन, शिव और सत्य। इन गणों में प्रत्येक १२ देव सम्मिलित थे।

ध्रुव ने बालकाल में ३१ वर्ष कठोर तपस्या की। किन्तु उसका विष्णु भक्ति बाद में अध्यारोपित की गई। क्योंकि ऐतिहासिक दृष्टि से विष्णु का जन्म ध्रुव से १६००० वर्ष पश्चात् हुआ। विष्णु प्रह्लाद से भी एक सहस्र वर्ष पश्चात्

देवासुर युग के अंत में पैदा हुए। विष्णु की भक्ति का अस्तित्व द्वापर के वासुदेव कृष्ण से पहले नहीं था। विष्णुपुराण और भागवतपुराण की रचना के समय वैष्णव सम्प्रदाय का प्राबल्य था। अतः किसी भी तपस्वी की तपस्या को पुराणकारों ने वैष्णवभक्ति का रंग दे दिया।

ध्रुव के तेज प्रताप और यश के कारण ही उनके नाम पर एक नक्षत्र का नामकरण किया गया। अधिकांश ग्रहनक्षत्रों के नाम परवर्ती देवासुर युग के महापुरुषों के नाम पर है। परन्तु ध्रुव नक्षत्र का नाम ही इस अति पुरातन प्रजापति युगीन महापुरुष के नाम पर है। यानी सोलह हजार वर्ष बाद भी ध्रुव का गौरव अक्षुण्ण था। वह २१ वर्ष बीत जाने पर आज भी धूमिल नहीं हुआ है।

उत्तम के बाद स्वारोचिष मनु हुए। उनके बाद तामस मनु, रैवत मनु, शैब्य मनु दस और मनु हुए। तत्पश्चात् के चक्षु या चक्षुष मनु ध्रुव के वंशज थे। इनका समय स्वायम्भुव मनु से ३६ पीढ़ी पश्चात् और दक्ष प्राचेतस से १० पीढ़ी पूर्व (१४००० वि०पूर्व) था।

प्रजापति युग या आदिम युग में सभी मनु प्रमुख राष्ट्रों के वंश प्रवर्तक एवं प्रशासक थे। जैसे वैवस्वत मनु ने भारत वर्ष में शासन का प्रवर्तन किया और अनेक क्षत्रिय जातियां उनसे उत्पन्न हुई इसी प्रकार प्राचीन मिस्र देश का आदि प्रवर्तक कोई मनु ही था। इसी प्रकार अन्य मनुगण प्राचीन देशों के आदिम वंश प्रवर्तक प्रशासक रहे होंगे—किन्तु इतिहास अभी इस बारे में मौन है।

जल प्रलय के बाद जन नायक बने वैवस्वत मनु विवस्वान् के ज्येष्ठ पुत्र थे। उनका जन्म आज से लगभग १५,००० वर्ष पूर्व हुआ था। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, बाइबिल और कुरान में वर्णित नूह और पुराणोल्लिखित मनु एक एक ही व्यक्ति थे। बाइबिल में मनु का इतिहास इस प्रकार उल्लिखित है—'मनु (नूह) की आयु जब ५०० वर्ष की थी तब उनके तीन पुत्र उत्पन्न हुए—साम, ह्याम और जाफेट। मनु की आयु जब ६०० वर्ष की थी तब जल प्रलय आई। मनु की पूर्ण आयु ९५० वर्ष थी।"

यम वैवस्वत, मनु का अनुज था। अवेस्ता के अनुसार यम ने वैवस्वत (जमशेद) ने ईरान में १२०० वर्ष राज्य किया। वैवस्वत मनु जल प्रलय के पश्चात् ३५० वर्ष और जीवित रहे (?)

हजरत नूह भी इस्लाम के अनुसार एक महान पैगम्बर थे। उनका मर्तबा सिर्फ आदम (यानी स्वायम्भुव मनु) के बाद ही समझा गया है इसीलिए उन्हें 'दूसरा आदम' भी कहा जाता है। वे हजारों वर्ष पहले की अयोध्या के निवासी माने गए हैं। जिस इलाके में उन्हें रहते माना गया है वह अब भी 'नबी नूह' के मुहल्ले के नाम से अयोध्या में है और वहाँ पर एक चौदह गज लम्बी प्राचीन कब्र अब भी हजारों यात्रियों को आकृष्ट करती है।

इससे यह तथ्य उजागर होता है कि मनु, अयोध्या और राम सिर्फ हिंदुओं की आध्यात्मिक सम्पदा नहीं हैं बल्कि वास्तविकता यह है कि वे मुसलमानों के लिए भी आध्यात्मिक रूप में आदरणीय हैं।

कुरान शरीफ में बार-बार फर्माया गया है कि हजरत मुहम्मद कोई इस्लाम के पहले पैगम्बर नहीं थे। वे दैवी संदेश वाहकों की लम्बी कड़ी में अन्तिम थे। आदम (आत्मभू या स्वायम्भुव मनु) से लेकर ये कई पैगम्बर ईश्वर द्वारा अपने दूत के रूप में अलग-अलग हिस्सों में उस समय बसी अलग-अलग कौमों के मार्ग-दर्शन के लिए भेजे गए थे।

मुस्लिमों के यकीन के मुताबिक आदम के बेटे शीस भी एक पैगम्बर थे। कई लोगों के लिए यह चौंकाने वाली जानकारी होगी कि शीस को भी अयोध्या में दफन बताया जाता है। इस पवित्र नगरी में एक प्राचीन कब्र सुरक्षित है जो असामान्य रूप से लम्बी है और टूटी-फूटी है। इसे अयोध्या में और उसके बाद रहने वाले हजरत शीश की अन्तिम विश्रामस्थली मानते हैं।

अयोध्या का कम से कम दो इस्लामी पैगम्बरों शीस और नूह से सम्बन्ध उसे मुस्लिमों की नजर में एक पवित्र नगरी बनाने के लिए पर्याप्त है। बेशक दोनों हजरत मुहम्मद से बहुत पहले हुये थे लेकिन उनके द्वारा मुस्लिमों के पैगम्बरों में गिनाए गए थे। भारत में मुस्लिम शासन के दौरान और बाद में भी कई सामान्य इस्लाम विदों ने दावा किया है कि मोहम्मद पूर्व के कई पैगम्बर, जिनके नाम कुरान में नहीं हैं, अयोध्या में या उसके आसपास दफनाए गए हैं।

जैसा कि पीछे हमने देखा है, काव्य उशना अथवा शुक्र असुरों के पुरोहित थे। बाद में गधर्वों के पास चले गये जोकि वर्तमान अरबस्तान के निवासी थे। काबा अरब देश के संस्थापक मान गये हैं। काबा अरबों का पवित्रतम तीर्थ स्थल है। यह संस्कृत शब्द 'काव्य' का ही अपभ्रंश माना जाता है। इसी तरह 'ईद' मूलतः वैदिक 'इडा' और नमाज वैदिक 'नमस्' से व्युत्पन्न रूप है। कुरान की आयतों पर अथर्वण मंत्रों का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। अरबों के मुस्लिम धर्म में चन्द्रमा की वही प्रतिष्ठा और पवित्रता है, जो वैदिक धर्म में है। यदि वैदिक धर्म में 'शिवरात्रि' है तो अरबी धर्म में 'शबरात'। ये अरब संस्कृति और धर्म पर वैदिक प्रभाव के चिह्न हैं। अस्तु, अब फिर जल-प्रलय की ओर मुड़ें।

जल-प्लावन भारतीय इतिहास में एक प्राचीन घटना है, जिसने मनु को देवों से विलक्षण, मानवों की एक भिन्न संस्कृति प्रतिष्ठित करने का अवसर दिया। पुराणों से देवों के उच्छृंखल स्वभाव, निर्बाध आत्मतुष्टि की प्रवृत्ति हमें ज्ञात होती है। साथ ही इन्हें अतिमानवीय गुणों से सम्पन्न लोक-लोकांतरों के निवासी माना गया है। देव-दानवों की भौतिक मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक

प्रकृति से सम्बन्धित इस गहन विवेचना को हम अगले अध्याय के लिए सुरक्षित रखते हैं। यहाँ प्रस्तुत विषय यह है कि मनु ने जिस मन्वंतर का प्रवर्तन किया वह मानवीय भव अर्थात् श्रद्धा और मनन का समन्वय था। कविवर जयशंकर प्रसाद ने इसी वैदिक आख्यान पर अपने महाकाव्य 'कामायनी' की रचना की है। अपने गंभीर अध्ययन के बल पर उन्होंने सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में उन समस्त बिखरी हुई सामग्रियों का संकलन किया है जो कथा के प्रधान पात्र मनु, श्रद्धा (कामायनी) और इड़ा के सम्पूर्ण जीवन को व्यक्त करने में समर्थ हो सकी है। कथा इस प्रकार है—

देवासुर सभ्यता के पतन के परिदृश्य में कथा का प्रारम्भ होता है। भागवत-पुराण में वैवस्वत मनु और श्रद्धा से मानवीय सृष्टि का प्रारम्भ माना गया है। श्रद्धा के साथ मनु का मिलन होने के बाद उसी निर्जन प्रदेश में उजड़ी हुई सृष्टि को फिर से आरम्भ करने का उपक्रम हुआ। किन्तु असुर पुरोहित आकुलि और किलात के प्रभाव में उन्होंने यज्ञ में पशु-बलि की।

इस यज्ञ के बाद मनु में आत्मतोषजन्य की देव प्रवृत्ति जाग पड़ी। इड़ा के सम्पर्क में आने पर उन्हें श्रद्धा से अतिरिक्त एक दूसरी दिशा मिली। इस के सम्बन्ध में शतपथ में कहा गया है कि उसकी उत्पत्ति या पुष्टि पाक-यज्ञ से हुई। इस पूर्णयोषिता को देखकर मनु ने पूछा, 'तुम कौन हो?' इड़ा ने कहा—"मैं तुम्हारी दुहिता हूँ।" मनु ने पूछा, "कैसे?" उसने कहा, 'तुम्हारी हवियों से ही मेरा पोषण होता है।"

इड़ा के प्रति मनु का अत्यधिक आकर्षण हुआ और श्रद्धा से वे कुछ खिंचे। अनुमान किया जा सकता है कि बुद्धि का विकास, राज्य स्थापना आदि इड़ा के प्रभाव में ही मनु ने किया। किन्तु इड़ा पर भी अधिकार करने की चेष्टा के कारण मनु को देव गण का कोपभाजन होना पड़ा। क्योंकि इड़ा देवताओं की स्वसा (बहन) थी। मनुष्यों को चेतना प्रदान करने वाली थी।

यहाँ कथा इतिहास से चलती हुई कुछ प्रतीकात्मक भी हो जाती है। इस का बुद्धिवाद श्रद्धा और मनु के बीच व्यवधान डालने में सहायक होता है। फिर बुद्धिवाद के विकास में अधिक सुख की खोज में, दुःख मिलना स्वाभाविक है। इस प्राचीन आख्यान में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसलिए प्रसाद जी भूमिका में लिखते हैं कि 'मनु, श्रद्धा, इड़ा इत्यादि ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो कवि को कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हैं, हृदय और मस्तिष्क। इनका सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।" इन्हीं सबके आधार 'कामायनी की कथासृष्टि' खड़ी हुई है।

वैदिक काल में महा जल प्रलय हुआ और भारत का नया रूप तैयार हुआ।

तब तक वैदिक अथवा आर्य संस्कृति का विस्तार हो चुका था। पर वैदिक ऋषि दिव्य भाव में रहते थे। बुद्धि के द्वारा मानव भाव में आकर प्रकृति पर विजय प्राप्त करना नहीं चाहते थे। वैवस्वत मनु प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने मानवपन को अपनाया। बुद्धि का प्राधान्य माना। इसका कारण वही भीषण भौतिक उत्पात था, जिससे सृष्टि एक एक प्रकार से नष्ट हो गई। मनु ने बुद्धि के द्वारा मनुष्यों को प्रकृति से लड़कर विजय प्राप्त करने की ओर प्रेरित किया। इसी भाव से वह मनुष्यों के जनक माने गये।

किंतु 'मनु' की प्रतिभा यहीं तक सीमित नहीं थी। उन्होंने अपनी राजधानी के रूप में जिस नगरी का देवताओं की सहायता से निर्माण किया उसे नाम दिया 'अयोध्या'। इसका शाब्दिक अर्थ है "न योद्धुं शक्या सा भूमि अयोध्या" अर्थात् जो भूमि युद्ध करने योग्य नहीं है, वह भूमि जो कभी युद्ध से जीती नहीं जा सकती, अयोध्या है।

आखिर यह नाम उनकी प्रतिभा में कौंधा कैसे ? यह बात उनके दिमाग में आई कैसे ? क्या ऐसी कोई भूमि इस पृथ्वी तल पर हो सकती है ? या किसी अन्य लोक से उसे यहां उतार लाने का आदर्श मनीषि मनु के सामने झिलमिला रहा था ?

५ अयोध्या

जब भी कोई महान आत्मा साधना-मंदिर में पहुँचती है, उसकी दृष्टि अपने देश-काल से निकलकर समूची मानव-जाति पर आ पड़ती है। वह उसके प्रति करुणा से अभिभूत हो उठता है। वह उन दुर्बलताओं के मूल में पहुँचने का प्रयास करता है, जिनके कारण मनुष्य—मनुष्य का शोषण करता है, लोभ-लालच में दूसरों से छल-कपट करता है, दूसरों को दुःख देता है, दूसरों को अपनी पराधीनता में रखता है, विविध इच्छाओं की अधीनता में रहकर स्वयं भी दुःखी तथा अशांत रहता है तथा सामूहिक रूप से समस्त पृथ्वी को एक निरंतर, घनघोर और भयंकर युद्ध स्थल में बदल देता है।

'अयोध्या' इसी भारतीय मनीषा का एक अंतःस्फूर्त शब्द है। 'मनु' से लेकर, 'कामायनी' का सृजन करने वाले 'प्रसाद' और उनके बाद भी यह मनीषा निरन्तर प्रवहमान है, लगातार एक खोज में लगी हुई है, जैसे यही उसकी साधना का सार-सर्वस्व हो, एकमात्र लक्ष्य हो—एक अयुद्ध भूमि, एक युद्धमुक्त विश्व, एक निर्द्वंद्व मानव, एक भयहीन व्यवस्था। 'अयोध्या' मानो उसके साक्षात्कार का सत्य है, जो अब भी भौतिक जगत् में अभिव्यक्त होने के लिए छटपटा रहा है।

पहले तो हम देखें कि महाकवि और तत्त्वचिंतक प्रसाद इस सत्य के संधान में कहाँ तक पहुँचे। 'कामायनी' में हमारे अतीत की गौरवमयी पृष्ठभूमि है। उसके प्रति भावना-जनित उपासना है। साथ ही आदिमानव के मनोविधान व प्रस्फुटन प्रवृत्तियों के संघर्ष उनके निर्माण, विकास तथा समन्वय से संबद्ध एक मनोवैज्ञानिक कल्पना सृष्टि है। यह सृष्टि कामनाओं की लहरों में उभरी हुई है किंतु उसके शिखर पर अध्यात्म का समरस शुभ्रप्रकाश झिलमिला रहा है।

कामायनी में पंद्रह सर्गों के नाम क्रमशः चिंता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, कर्म, ईर्ष्या, इड़ा, स्वप्न, संघर्ष, निर्वेद, दर्शन, रहस्य और आनन्द, मनुष्य की प्रमुख प्रवृत्तियों के ही नाम हैं। उनका विकास क्रम अधिकतर कवि कल्पना

की सुविधा के अनुसार ही रखा गया है।

भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध जल-प्लावन के कारण देवताओं की वैभव-सृष्टि जल-मग्न होकर नष्ट हो जाती है। मनु की चिंता से प्रतीत होता है कि अपने चरम शिखर पर पहुंचने के बाद देव-सृष्टि ह्रासोन्मुख हो गयी थी। देवता अत्यंत विलासरत रहते थे। मनु कहते हैं—

> प्रकृति रही दुर्जेय, पराजित हम सब थे भूले मद में
> भोले थे हा, तिरते केवल सब विलासिता के नद में

जलप्लावन की भीषण पृष्ठभूमि में भीगे नयनों वाले मनु का हृदय विगत स्मृतियों से उद्वेलित तथा चिंता-ग्रस्त है। किंतु धीरे-धीरे प्रलय का प्रकोप शांत होने के साथ, मनु में आशा का संचार होता है। वह फिर से यज्ञादि में प्रवृत्त होते हैं।

एक दिन उनका साक्षात्कार 'श्रद्धा' से होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से श्रद्धा मन के निचले स्तरों पर काम तथा वासना के रूप में प्रकट होती है। श्रद्धा को इससे लज्जा का अनुभव होता है। कालान्तर में मनु फिर कर्म की ओर प्रवृत्त होते हैं। असुर पुरोहितों के प्रभाव से वे हिंसक अहेरियों का जीवन व्यतीत करने लगते हैं। श्रद्धा इससे असंतुष्ट रहती है। एक दिन मनु वाद-विवाद में रूठकर श्रद्धा को छोड़कर चले जाते हैं। उन्हें उसके महत्व को पहचानने के लिए और भी निम्न प्रवृत्तियों का अनुभव प्राप्त करना था।

वह 'हेमवती छाया' सी 'इडा' के सम्पर्क में आते हैं इडा भेद-बुद्धि या तर्क-बुद्धि की प्रतीक है। इडा मनु को ऐहिकता की ओर प्रवृत्त करती है। वह उसकी सहायता से राज्य बनाते हैं और भोग में रत रहते हैं। इडा पर आसक्त हो जाने के कारण देवतागण मनु से रुष्ट हो जाते हैं। प्रजा भी उनसे असंतुष्ट होकर विग्रह करती है। मनु युद्ध में आहत होकर धराशायी हो जाते हैं। यह उनका चरम पतन-बिंदु है।

इस बीच श्रद्धा पुत्रवती हो जाती है। वह मनु की प्रतीक्षा में निराश होकर उनकी खोज में निकल पड़ती है। वह ठीक वक्त पर मनु के पास पहुंचती है। श्रद्धा के स्पर्श से वह जग उठते हैं और वहां से चुपके से निकल भागते हैं। श्रद्धा अपने पुत्र को इडा को सौंपकर मनु की खोज में जाती है। वह भगवान की करुणा की तरह मर्दित मानव की रक्षा के लिए आतुर रहती है। मनु और श्रद्धा हिमालय की ओर गमन करते हैं। मनु उसके प्राप्य के नाम रूप आनंद पर्वत के शिखरों का आरोहण करते हैं। इच्छा, ज्ञान, कर्म के स्वर्गीय त्रिपुर में श्रद्धा उनका परिचय कराती है। तदनंतर मनु मानस-तट पर नित्य आनंद-लोक की प्राप्ति करते हैं, जहां विग्रह के सुख-दुःख व्याप्त नहीं होते।

यहाँ यात्रियों के साथ उनकी खोज में इड़ा और मनुपुत्र भी पहुँचते हैं। सारस्वत सभ्यता को 'सामरस्य' सिद्धान्त के अनुसार चलाने का मनु उन्हें उपदेश देते हैं।

मानव-मन की प्रवृत्तियों का संघर्ष, उत्थान-पतन तथा उन्नयन ही कामायनी के दर्शन की आधारशिला है। तर्कबुद्धि इड़ा तथा श्रद्धा का समन्वय या सामंजस्य ही उसका निःश्रेयस भरा संदेश है। यह सब ठीक है। उसमें वर्तमान युग-संघर्ष का भी थोड़ा आभास मिलता है। लेकिन यह सब जो कुछ है वह केवल चिर-परिचित है। पुरातन है। मनु इड़ा-प्रेरित जीवन-संघर्ष से विरत हो भाग खड़े होते हैं। जीवन की भूमि को छोड़कर मन के सूक्ष्म प्रतिमान रूप त्रिपुर का भी पार कर त्रिपुरारि के उस चेतस-लोक में पहुँचकर जीवन-समस्याओं का समाधान पाते हैं, जो सुख-दुख, भेद भाव के द्वन्द्व से अतीत, समरस चैतन्य का क्रीड़ा स्थल है।

जिस अभेद चैतन्य के लोक में पहुँचकर विश्व-जीवन के सुख-दुखमय संघर्ष से मुक्त होने का संदेश 'कामायनी' में मिलता है, वह आज की युग दृष्टि में अपर्याप्त मालूम होता है।

भौतिकवाद का यक्ष-प्रश्न है जातिवाद, सम्प्रदायवाद तथा वर्गवाद की विषमताओं को नष्ट करने तथा शोषणमूलक सामाजिक विकारों को रोकने का उसके पास क्या उपाय है? उपाय के नाम पर है 'सामरस्य' या 'सामंजस्य' सिद्धांत जो अधिक से अधिक एक मनोवैज्ञानिक अवस्था का नाम है। उसके द्वारा समाजरचना नहीं बदली जा सकती।

नयी युग दृष्टि में कामायनी की कमजोरी क्या है? मूल कथा का घुमाव। मानव-संबंधों के और मानव चरित्रों के भीतर, उद्घाटित होनेवाली समस्याओं को प्रस्तुत करते हुए, उनके हल के लिए उन समस्याओं के क्षेत्र से ही पलायन किया गया है। रहस्यवादी दर्शन पर आधुनिक बुद्धिवादी का आरोप ही यह है कि दर्शन समस्याओं से व्यक्ति का छुटकारा तो कराता है किन्तु बाह्य जीवन-जगत में स्थित उन समस्याओं के अस्तित्व को समाप्त नहीं करता।

जिस आनंद लोक में मनु-श्रद्धा पहुँचते हैं, वह चेतना का स्तर तो है ही और जीवन-संघर्ष से विरत होकर मनुष्य व्यक्तिगत रूप से उस स्थिति पर पहुँच भी सकता है। पर यह तो जीवन की समस्याओं का समाधान नहीं है। मनुष्य के सामने प्रश्न यही नहीं है कि वह इड़ा, श्रद्धा का समन्वय कर उस निर्द्वंद्व भूमि तक कैसे पहुँचे—उसके सामने जो चिरंतन समस्या है वह यह है कि उस सत्य [illegible] उपभोग और उपयोग, मन जीवन तथा पदार्थ के स्तर पर कैसे किया जा सकता है। इसके लिए निःसंशय ही इड़ा श्रद्धा का सामंजस्य पर्याप्त नहीं। श्रद्धा की सहायता से समरस स्थिति प्राप्त कर लेने पर भी मनु लोक-जीवन की ओर नहीं

लौट आये। आने पर भी शायद वहां कुछ नहीं कर सकते। संसार की समस्याओं का यह निदान तो चिर-पुरातन, पिष्टपेषित, पिसा पिटा निदान है, किंतु व्याधि कैसे दूर हो? फिर क्या इस प्रकार व्यक्तिगत रूप से समस्थिति मे पहुँचा जा सकता है?

मानव-मन की प्रमुख चित्त-वृत्तियो का विश्लेषण-संश्लेषण कर तथा उसके पारस्परिक जटिल संबंधो पर प्रकाश डालकर प्रसाद जी ने इच्छा, कर्म, ज्ञान का समन्वय कर सात्विक आनद की उपलब्धि का श्रद्धापथ बताया है। मनु की तरह एकात सेवी ही इस प्रकार दर्शन प्राप्त कर सकता है। प्रसाद जी यहाँ तुलसीदास की व्यापकता को भी नहीं छू पाये हैं। क्योंकि एक तो कथानायक 'मनु' कथा-नायक 'राम' की अपेक्षा संकीर्ण व्यक्तित्व के धनी हैं। दूसरे, तुलसी ने मानव-मनोव्यापारो का अपने युग-जीवन की परिस्थितियो मे प्रवेश कराकर, उस युग की चेतना के सामूहिक संघर्ष का चित्र अंकित किया है, जोकि प्रसाद जी नहीं कर पाये हैं। उन्होंने केवल मनोभूमि पर भावनाओं को परिस्थितियो से स्वतंत्र रख कर, उन्हीं का ऊहापोह या संघर्ष एक दार्शनिक या मनोवैज्ञानिक की तरह दिखाया है।

मनु का मानस केवल अतर्मुखी व्यक्ति मन का संघर्ष प्रतिबिंबित करता है। तुलसी का मानस अतर्मुखी राम-चेतना के बोध के साथ मध्ययुगीन भारतीय मानस का संघर्ष प्रतिबिंबित कर सका है। अब हमें देखना है कि आधुनिक भारतीय मानस का संघर्ष क्या है? केवल व्यक्ति मन की प्रतिक्रिया या परिणति या पलायन नहीं बल्कि अद्यतन पृष्ठभूमि मे, संगत आस्था क्या हो सकती है? व्यवस्थित मर्यादाओं के साथ महान अतरिक्ष और आणविक युग की मान्यताओं के संघर्ष के फलस्वरूप एक व्यापक बहिर्मुखी जीवन दर्शन क्या हो सकता है? व्यक्तिगत मानसी वृत्तियो के घात प्रतिघात के चित्रण पर आधारित एक अतर्मुखी मनोदर्शन अब काफी नहीं। वास्तविक जीवन उपकरणों का, लोक-मर्यादाओं तथा नीतियों का उन्नत प्रासाद क्या हो सकता है? मात्र अमूर्त भाविक तत्वो का, समरस जड चेतन उपकरणो से निर्मित, सिद्धपीठ या आनद विहार अब हमें नहीं चाहिए। आधुनिक लोक-समाज के दृष्टिकोण की सर्वांगीण परिणति हमें 'अयोध्या' के रूप मे चाहिए। केवल व्यक्ति दृष्टि की ऊर्ध्वमुखी उपलब्धि से काम नहीं चलेगा। 'अयोध्या' की ऐसे व्यक्तिगत अन्त सायोजनो की हस्तिदंती मीनारो की नगरी नहीं बनना है। केवल अपने को भीतर से बदलने का मार्ग, जीवन की परिस्थितियो को बदलने या विश्व-परिस्थितियो मे नवीन संयोजन भरने की आवश्यकता पर ध्यान नहीं खींचता।

कामायनी की स्थूल कथा से जो सूक्ष्म कथा ध्वनित होती है, वह यह है :-

मनुष्य स्वभाव से पशु है। मानवता और मृदुलता उसमें श्रद्धा एवं बुद्धि के संयोग से आती है। केवल बुद्धि मनुष्य को ऐहिक संपन्नता दे सकती है किंतु उससे मानसिक शांति नहीं मिलती। उसके रागों को परिष्कृत नहीं कर पाती। परिणाम स्वरूप संसार में युद्ध और अशांति का बोलबाला हो गया है। 'अयोध्या' को वस्तुत अयोध्या बनाने के लिए बुद्धि पर्याप्त नहीं है। हालांकि प्रसाद जी का व्यक्तिवादी आनंदवादी समाधान भी पर्याप्त नहीं है लेकिन सारस्वत प्रदेश की सामरस्य सिद्धांत के आधार पर पुनररचना का आदर्श उपस्थित कर, जहाँ वह असली समस्या के मर्म में प्रवेश करता है, वहीं उसका एक छोर भविष्य के गर्भ-तक जाता है।

इसी भविष्य के संधान में भारतीय मनीषा की साधना और आगे बढ़ी। इस साधना-पथ में उसने वेद की ऋचाओं के अर्थ में और गहरी डुबकी लगाई। देव, दानव, मानव, आर्य, अनार्य आदि संज्ञाओं के पीछे छिपी हुई मात्र प्रतीकात्मक नहीं, बल्कि वास्तविक और मनोवैज्ञानिक शक्तियों में साक्षात्कार किया। अंतिम उसने यह निष्कर्ष निकाला कि 'अयोध्या' एक आध्यात्मिक वास्तविकता है और उसे भौतिक जगत में उतारा जा सकता है। समूची पृथ्वी को 'अयोध्या' यानी युद्धमुक्त भूमि बनाया जा सकता है समूचे विश्व को 'आर्य', समस्त मानव जाति को देव जाति या अतिमानव जाति बनाया जा सकता है। समस्या का यही सम्यक् समाधान है। यही नहीं बल्कि यही इस पृथ्वी पर समूची मानव-सभ्यता का गंतव्य और उद्देश्य है। महर्षि ऋषि दयानन्द और महायोगी श्री अरविन्द के नाम इन मनीषियों में सर्वोपरि हैं। उन्होंने वेदों को अपने दर्शन का आधार बनाया था। महर्षि दयानन्द को यदि हम प्राचीन वेदों के उद्धारक कहें तो महायोगी श्री अरविंद को वेदों के आधुनिकतम भाष्यकार कहा जा सकता है।

इस आधुनिकतम व्याख्या के अनुसार वेद ज्ञात की पवित्र पुस्तक है अतः स्फूर्ति कविता का विशाल संग्रह है। ऋषि द्रष्टा तथा संत होते थे। वे मंत्र द्वारा कुछ घड़कर बनाने की जगह एक अपार, शाश्वत तथा अपौरुषेय (अमानवीय) सत्य को अपने प्रकाशित हो चुके मनों में अंदर ग्रहण करते थे और उन मंत्र अपनी ऋचा में मूर्त करते थे।

मंत्र एक शक्ति युक्त शब्द होते हैं। यह साधारण प्रकार से नहीं होते बल्कि दिव्य स्फुरण तथा दिव्य स्रोत से आते हैं। इन मंत्रों का कवि सत्य का द्रष्टा होता है, वह दिव्य सत्य का श्रवण करता है। वेद या श्रुति यहां इलहाम हुए धर्म-पुस्तक है।

उपनिषद् वेदों के तत्त्वचिंतन का निचोड़ अथवा ज्ञानकाण्ड है, जबकि

ब्राह्मण यज्ञक्रियापरक कर्मकाण्ड। ये दोनो वेद को ज्ञान की पवित्र, परमप्रमाण एव अभ्रात पुस्तक के रूप मे मानते है।

वेदो के अनुसार सूय, चद्रमा, द्यौ, पृथ्वी, वायु, वर्षा, प्रकृति की क्रियाओ का अधिष्ठातृत्व करने वाले देवता हैं। किन्तु इनका उच्चतर, आतरिक मनोवैज्ञानिक या आध्यात्मिक व्यापार भी है।

वैदिक और ग्रीक या रोमन देवताओ मे समानता पाई जाती है क्याकि उनका मूल उत्स, जैसा कि पहले हमने देखा, एक है। जैसे जीस (Zeus) के सिर से (आकाश देवता म) उत्पन्न 'पलास एथिनी' तथा 'द्यौ' मे ज्वालामय रूप मे उत्पन्न 'उषा' देवता। विद्या और ज्ञान की देवता मिनर्वा और वैदिक 'सरस्वती' अपोलो और सूय देवता। हिफास्टस और अग्निदेवता, जो दिव्य कारीगर, श्रम का देवता माना जाता था।

वेद, इन देवताओ के बाह्य तथा आतरिक आध्यात्मिक व्यापार के साकेतिक भाषा मे लिखे हुए अभिलेख हैं। वैदिक देवताओ का ही इस उच्चतर प्रयोजन के लिए एक नई पौराणिक देवमाला के रूप मे विकास हुआ। जैसे बृहस्पति या ब्रह्मणस्पति से 'ब्रह्मा' विकसित हुए। विष्णु, रुद्र, शिव, लक्ष्मी, दुर्गा आदि इसी तरह विकसित हुए।

यह विकास क्यो और कैसे हुआ? आदिकालीन जातियो के साम्कृतिक विकास के कारण तथा उसके साथ ही। सस्कृति क्रमश अधिकाधिक मानसिकता पन्न होती गई। जातियाँ भौतिक जीवन मे कम-कम रत होती गईं। सभ्यता मे इस प्रगति के साथ धर्म तथा देवताओं के अधिक सूक्ष्म, अधिक परिष्कृत पहलू देखने की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। यह अनुभव करने वाले, गभीरतर ज्ञान और आत्मज्ञान रखने वाले लोग ही ऋषि, पुरोहित, मुनि कहलाए। ये एक तरफ के रहस्यवादी (Mystic) थे अपने अभ्यास साधन, अर्थपूर्ण विधिविधान तथा प्रतीको की स्थापना द्वारा उन्होंने आदिकालीन बाह्य धर्मों के अदर या उनके एक सिरे पर गुह्यविद्या को रखा। ग्रीस मे ऑर्फिक तथा एलुसीनियन, मिस्र और खाल्डिया मे पुरोहित, ईरान मे मागी ऐसे ही रहस्यवादी थे।

उनकी खोज यह थी कि मनुष्यो मे एक गम्भीरतर आत्मा है, एक अधिक आतरिक सत्ता है, जो बाह्य भौतिक मनुष्य के उपरितल के पीछे छिपी है। उसे 'स्व' या 'आत्मा' या 'सत्य' का नाम दिया गया। इन रहस्यवादियो ने प्रकृति के रहस्यो तथा ऐसी शक्तियो को खोजा, जिनके द्वारा भौतिक वस्तुओ पर प्रभुत्व प्राप्त किया जा सकता था।

इस गुह्यविद्या तथा शक्ति को व्यवस्थित रूप देने के लिए कठोर, प्रमाद रहित प्रशिक्षण, नियत्रण तथा प्रकृति-शोधन आवश्यक था। यदि मनुष्य बिना कठोरतापूर्वक परखे हुए, बिना प्रशिक्षण पाये इन बातो मे पड जाएँ तो वह उनके

लिए तथ्य अयोग्यों के लिए खतरनाक हो सकता था। क्योंकि इस ज्ञान और शक्ति का दुरुपयोग किया जा सकता था। अनेक अर्थ का अनर्थ किया जा सकता था। उन्हें सत्य से मिथ्या की ओर, कल्याण से अकल्याण की ओर मोड़ा जा सकता था। अतः ज्ञान को कठोर गुप्तता बरतते हुए, पर्दे की ओट, गुरु से शिष्य को पहुँचाया जाता था।

यह पर्दा प्रतीकों द्वारा रखा गया था। इनकी ओर से ये रहस्यमय बातें आश्रय ग्रहण कर सकती थीं। खोलने के कुछ ऐसे सूत्र बनाये गये, जो दीक्षितों द्वारा ही समझे जा सकते थे। ये दूसरों को अविदित होते थे, जैसा कि कोई कूट-भाषा होती है। दूसरों द्वारा ये सूत्र एक ऐसे बाह्य अर्थ में ही समझे जाते थे, जिसमें उनका असली अर्थ, और रहस्य सावधानतापूर्वक छिपा बना रहता था।

उदाहरणार्थ ऋषि वामदेव कहते हैं, "मैं अतः प्रकाश में युक्त अपने विचार शब्दों के द्वारा व्यक्त कर रहा हूँ। ये पथ प्रदर्शक या आगे ले जाने वाले गुह्य वचन हैं। ये द्रष्ट (देखे गये) ज्ञान के शब्द हैं और द्रष्टा या ऋषि के लिए अपने आन्तरिक अर्थ को बोलने वाले हैं।" अथवा दीर्घतमा ऋषि पूछते हैं, "ऋचाएं रहती हैं उस परम आकाश में, जो कि अविनाशी तथा अपरिवर्तनीय है। उस आकाश में सबके सब देव स्थित हैं। वह, जो कि उस आकाश को नहीं जानता, वह ऋचा से क्या करेगा?

"चार स्तरों से वाणी निकलती है। इनमें से तीन गुह्यता में छिपे हुए हैं। चौथा स्तर ही मानवीय है और वहीं से मनुष्यों के साधारण शब्द आते हैं। परन्तु वेद के शब्द और विचार उन उच्चतर तीन स्तरों से सम्बन्ध रखते हैं।"

वेदवाणी परम (प्रथम) वाणी है। वाणी का उच्चतम शिखर है। श्रेष्ठ तथा परम निर्दोष वाणी है। यह एक ऐसी वस्तु है, जो गुह्यता में छिपी हुई है। वहीं से निकलती तथा अभिव्यक्त होती है। वह सत्य द्रष्टा में, ऋषियों में प्रविष्ट हुई है। परन्तु सब कोई इसके गुह्य अर्थ में प्रवेश नहीं पा सकते। वे, जो इसके आन्तरिक अभिप्राय को नहीं जानते, ऐसे हैं, जो देखते हुए भी नहीं देखते, सुनते हुए भी नहीं सुनते। 'कोई बिरला ही होता है जिसे कि चाहती हुई यह वाणी अपने आपको प्रकट कर देती है। जैसे कि सुन्दर वस्त्र पहने हुई पत्नी अपने पति के प्रति प्रकट होती है। अन्य लोग, जो कि वेदरूपी गौ के दूध को स्थिरतया पान में असमर्थ होते हैं, यों ही साथ-साथ फिरते हैं, मानो वह गौ दूध देने वाली है ही नहीं। उनके लिए वेदवाणी एक वृक्ष के समान है, जो फल रहित और पुष्प रहित है।

वेदों के आद्य व्याख्याकार यास्काचार्य ने भी कहा है कि मन्त्रों के अर्थ त्रिविध होते हैं—अधियज्ञ या कर्मकाण्डिक, अधिदैवत अर्थात् देवता सम्बन्धी और अन्त में आध्यात्मिक जो कि वेद का सच्चा अर्थ है। श्री अरविन्द की आधुनिकतम

व्याख्या के अनुसार जब यह आध्यात्मिक अर्थ प्राप्त हो जाता है, तो शेष अर्थ झड़ जाते हैं। यही वह अर्थ है, जो त्राण करने वाला है, बाकी सब बाह्य और गौण है। यह सच्चा अर्थ प्रत्यक्षतः जाना जा सकता है ध्यान-योग और तपस्या द्वारा। जो इन साधनों को उपयोग में ला सकते हैं, उन्हें वदज्ञान के लिए किन्हीं बाह्य सहायकों की आवश्यकता नहीं है।

वेदों की ऋचाएं, याज्ञिक पूजाविधि, देवताओं की प्रार्थना या प्रशंसा के मंत्र हैं। इनमें हम भौतिक वरदानों के लिए उदा. बहुत सी गौएं, घोड़े, लड़ाकू वीर, पुत्र, अन्न सब प्रकार की सम्पत्ति, रक्षा, युद्ध में विजय, प्रार्थनाएं पाते हैं। आकाश में वर्षा लाने, सूर्य को बादलों में या रात्रि के पंजे में छुड़ा लाने के लिए सात नदियों के उन्मुक्त प्रवाहित होने, दस्युओं से अपने-अपने पशु छुड़ा लाने के लिए ये प्रार्थनाएं हैं। गहराई से सोचने पर पता चलता है कि आध्यात्मिक या रहस्यमय ज्ञान वाले वेद के ऋषि युगानुकूल साधारण प्रचलित विचारों के वशी-भूत भी थे, जैसे कि हर युग के चिंतक और प्रतिभाशाली व्यक्ति दुनियादारी में होते हैं। उन आदिम प्रतिभाओं ने भी लौकिक अलौकिक तत्वों का अपने वैदिक सत्यों में घुलामिलाकर रखा। वेदों की अधिकांश ऋचाओं के दोहरे और प्रतीकात्मक अर्थ लगते हैं। एक गुह्य अर्थ और दूसरा लौकिक अर्थ। स्वयं प्रतीकों का अपना अर्थ गुह्य अर्थ का एक-एक भाग होता है। गुह्य शिक्षा तथा ज्ञान का एक तत्व उसकी ओट या माध्यम से सम्प्रेषणीय बनाना, वेद के ऋषियों की शैली बन गई थी।

इन गुप्त-विद्याविदों का विश्वास था कि आंतरिक अथवा मनोवैज्ञानिक (जिसे हम परामनोवैज्ञानिक भी कह सकते हैं।) साधनों द्वारा आंतरिक ही नहीं किन्तु बाह्य परिणाम भी उत्पन्न किये जा सकते हैं। विचार व वाणी का ऐसा प्रयोग किया जा सकता है जिससे 'मानुषी' और 'दैवी' दोनों प्रकार की सिद्धि की जा सकती है।

इस गुह्य अर्थ की कुंजी के रूप में कुछ वैदिक शब्द हमारे काम आते हैं। उदाहरणार्थ एक वैदिक शब्द है 'ऋतम्'। इसका शाब्दिक अर्थ है, सीधा, सरल, सहज स्वाभाविक, नियमानुसार अंग्रेजी का 'राइट' (Right) इसी का रूपान्तर है। वैदिक रहस्यवादियों की खोज का यह केन्द्रीय विषय है। इसके अंतर्गत आध्यात्मिक या आंतर सत्य, हमारे अपने-आप का सत्य, वस्तुओं का सत्य, जगत् का तथा देवताओं का सत्य, हम जो कुछ हैं, और वस्तुएं जो कुछ हैं, उन सबके पीछे विद्यमान सत्य आ जाता है।

इसी तरह वेदों के कथानक और रूपक भी ऐसा दोहरा अर्थ रखते हैं। जैसे वृत्त पर विजय तथा वृत्तों (उसकी शक्तियों) के साथ युद्ध, सूर्य की, जलों की और गौओं की पणियों तथा अन्य दस्युओं से पुनर्प्राप्ति आदि। इस दोहरे अर्थ के

अनुसार वदों की 'सरस्वती, एक भौतिक नदी होने के साथ अत प्रेरणा की शक्ति भी है। वह सत्य क वचनों की प्रेरयित्री, ठीक विचारों को जानने वाली 'देवी भी है'। वह विचारों म समृद्ध म प री ऐसी वाणी है, जो कि हमारे विचारों मे अपन प्रकाश को ला रही है। हमारे अदर उस सत्य की, एक आतरिक ज्ञान की रचना कर रही है।

इसी तरह 'यज्ञ' एक बाह्य प्रतीक होने के साथ एक आतरिक कर्म का प्रतीक भी है। यह देवों और मनुष्यो के बीच एक आतरिक लेन-देन का प्रतीक है। (यह हम बाद मे देखेंगे कि देव वास्तव मे हैं क्या) मनुष्य देता है समर्पित करता है, जो कुछ उसके पास है। और बदले म उसे देवता देते हैं, शक्ति के घोडो को प्रकाश की गौओ का बलशाली अनुचर वीरो को, और इस प्रकार वे मनुष्य को अधकार की, वृत्रों दस्युओ और पणियो की सेनाओ के साथ उसके युद्ध मे उसे विजय प्राप्त कराते हैं।

हमारे 'विचार' क्या हैं ? वेदो की भाषा में ये हमारी मानुषी मत्य वस्तुओ का अमर्तो म बृहत् द्युलोकों म (उच्च आतरिक व्योमो मे पोषित करने वाली शक्तियाँ हैं। यह मनुष्य क दिव्यीकरण की एक प्रक्रिया है। वहा के महान और प्रकाशमय ऐश्वर्यों का नीचे उतार लाने की प्रक्रिया है। यज्ञ की आतरिक क्रिया द्वारा देवा म प्राप्त की गई निधियो को नीचे उतार लाने की प्रक्रिया है।

'गौ' शब्द का ही लीजिए। वेद की सस्कृत मे 'गाय' के अतिरिक्त यह 'प्रकाश' या 'प्रकाश की किरण' का वाचक भी है। 'गौतम' 'प्रकाशिततम मन का धनी भी है। 'गविष्ठिर' वह है जो 'प्रकाश मे स्थिर' है। 'गाएं' सत्य, प्रकाश और ज्ञान के सूय की किरणें भी है। 'घृत' जहाँ एक ओर निर्मल किया हुआ मक्खन है, वही दूसरी ओर निर्मल या प्रकाश, विचार या विचार का अभिव्यञ्जक शब्द भी है। घृत चुआने वाला मन, प्रकाश को प्रसूत करने वाला मन है। प्रकाश प्राप्त या प्रकाशित हुए मन की निर्मलता लाने की क्रिया भी है।

इस दोहरे अर्थ क अनुसार जहाँ अग्नि भौतिक आग है, वहीं यज्ञ का पुरोहित भी है। वह एक आतरिक ज्वाला है। हमारा रहस्यमय द्रष्टा (भूत भविष्य वर्तमान सब सकल्प वाला) 'सकल्प' (will) भी है। 'कविक्रतु' वह है जो इस प्रक्रिया द्वारा देवा को और लोकों को, तथा सत्ता (अस्तित्व) क सभी स्तरो को अभिव्यक्त कर सकता है।

द्रष्टा' वह दिव्य दृष्टि सपन्न ऋषि है, जो वस्तुओ को अपन ध्यान मे, आकृतियो क रूप म रखता है। इस वह प्राय प्रतीकात्मक आकृतियों क रूप मे देखता है, जो किसी अनुभूति के पहले या उसके साथ-साथ हो सकती है। वह इस अनुभूति का मूर्त रूप म उपस्थित करता है। उसके विषय मे पहले स बता सकता है या उसे पुष्ट मूर्त रूप प्रदान कर सकता है। वह एक साथ ही आतरिक

अनभूति को और प्रकृति के रूप मे इसको प्रतीकात्मक घटना को देख सकता है। वह इस 'घृत' को, यानी निमलताकारक प्रकाश के प्रवाह को आतरिक आत्म-हवि पर उडेलने वाला पुरोहित-देव है। इस आतरिक आत्म-होम ने ही उस अनुभूति को जन्म दिया है। द्रष्टा इस दोहरी घटना को एक साथ देख सकता है। वह सब भौतिक वस्तुओ और घटनाओ तक को, आतरिक सत्यो, तथा वास्तविकताओ के ही प्रतीक रूप मे देख सकता है। अपने बाह्य स्वरूपो, जीवन की घटनाओ और अपने चारो तरफ जो कुछ है, उस सब को वह देखता है। इसमे एक वस्तु और उसके प्रतीक के विषय मे उसका तादात्म्यकरण या साहचर्य-सम्बन्ध सहज ही हो जाता है यानी उसका अभ्यास पुष्ट हो जाता है।

इस गुह्य प्रतीकार्थ मे 'अश्व' शक्ति है, आध्यात्मिक सामर्थ्य है, तपस्या के बल का प्रतीक है। 'जल' अप्रकेत या ज्ञानरहित निश्चेतना का समुद्र है, जिसमे परमेश्वर निर्वापित (अतर्लीन) हुआ है और जिसमे से वह अपनी महिमा द्वारा उत्पन्न होता है। 'महो अर्ण' यही महान समुद्र है। ऊपर के जल अथवा सात नदिया दिव्य जल हैं, जो जानते हैं, जो सत्य से आता है। और जब वे मुक्त होते हैं, हमारे लिए महान द्युलोक के पथ को ढूढ लेते हैं।

सूर्य वेद मत्रो मे उच्चतर प्रकाश और सत्य का प्रतीक है। एक निम्न कोटि कोटि के सत्य के द्वारा ढके हुए सत्य मे हम सूर्य के घोड़े खोल दिये जाते है। निम्न कोटि का यह आच्छादनकारी सत्य ही वह सुनहरा पात्र है। 'धी' विचार, समझ, प्रज्ञा या अनेक विचार हैं। केतु किरण अथवा बुद्धि, निर्णय या बौद्धिक बोध का प्रतीक है। अतर्ज्ञान की किरण है। 'क्रतु' कर्म या यज्ञ है। यह प्रज्ञा, बल या निश्चय का प्रतीक है। यह प्रज्ञा का वह बल है जो कि कर्म का निर्धारण करता है, अर्थात् हमारा 'सकल्प' है। 'श्रवम्' वह सुनी हुई वस्तु या ज्ञान है, जो श्रवण के द्वारा आता है। यह अत प्रेरणा या अत प्रेरित ज्ञान है, जो ऊपर सत्य तक चढ जाता है और सत्य को हम तक ले आता है।

वेद का गुह्य आशय खोजने पर हमे तीन सिद्धात प्राप्त होते हैं। सत्य की खोज, प्रकाश की खोज और अमरत्व की खोज। एक सत्य है, जो बाह्य सत्ता के सत्य से गभीरतर है, उच्चतर है।

एक प्रकाश है जो मानवीय समझ के प्रकाश से बृहत्तर और उच्चतर है। जो अत प्रेरणा तथा स्वत प्रकाशन (इलहाम) द्वारा आता है। एक अमरत्व है, जिसकी तरफ आत्मा को उठाना है।

इनकी प्राप्ति के लिए हमे अपना रास्ता निकालना है। इनके साथ स्पर्श मे आने के लिए, सत्य मे 'उत्पन्न' होने के लिए, उसमे बढने के लिए, सत्य के लोक मे आमत आरोहण करने और उसमे निवास करने के लिए हमे रास्ता खोजना है। इसका अर्थ परमेश्वर के साथ अपने को युक्त करना और मर्त्य अवस्था से

अमरत्व में पहुँच जाना है।

यहाँ मर्त्यलोक में इस लोक का एक निचली कोटि का सत्य है। यह बहुत से अनृत और भ्रांति से मिश्रित है। वहाँ 'द्युलोक' में ऊपर एक सत्य का घर या लोक है, जहाँ सब कुछ सत्य सचेतन है, ऋत चित् है।

त्रिविध द्युलोकों तक बीच में अनेक लोक हैं, और उनके प्रकाश हैं परंतु वह है उच्चतम प्रकाश का, सत्य के सूर्य का लोक, स्वर्लोक या बृहत् द्यौ। उस तक ले जाने वाले 'देवों के मार्ग' की खोज हमें करनी है।

हमारा जीवन सत्य और प्रकाश की शक्तियों, अमर देवों की शक्तियों, और अंधकार की शक्तियों के बीच चलनेवाला युद्ध है। अंधकार की इन शक्तियों वृत्र, बल, पणि, दस्यु आदि का नष्ट करने के लिए हमें देवों की सहायता की पुकार करनी होती है, क्योंकि ये विरोधी शक्तियाँ हमारे प्रकाश को छिपा देती हैं, या इसे हमसे छीन लेती हैं। ये सत्य की धाराओं, द्युलोक की धाराओं के बहने में बाधा डालती हैं और आत्मा की ऊर्ध्वगति में प्रत्येक प्रकार से बाधक होती हैं।

हमें आंतरिक यज्ञ द्वारा देवताओं का आवाहन करना है और 'शब्द' के द्वारा उन्हें अपने अंदर पुकार लाना है। ऐसा कर सकने की 'मंत्र' (शब्द) में विशेष शक्ति होती है। उन्हें यज्ञ की हवि की भेंट अर्पण करना है और इस यज्ञीय दान के द्वारा उनसे आने वाले प्रतिदान को सुरक्षित कर लेना है। इस प्रक्रिया के द्वारा हम लक्ष्य की तरफ अपने आरोहण के मार्ग का निर्माण कर सकते हैं। हम जो कुछ हैं, हमारे पास जो कुछ है, उसे हम देते हैं जिससे कि दिव्य सत्य और ज्योति के ऐश्वर्य हमारे जीवन में अवतरित हो सकें और 'सत्य के अंदर हमारे आंतरिक जन्म के तत्व' बन सकें। एक सच्चा विचार, सच्ची समझ, सच्ची क्रिया हमारे अंदर विकसित होनी चाहिए जो उस उच्चतर सत्य का विचार प्रेरणा और क्रिया हो। यह यज्ञ एक यात्रा है, तीर्थयात्रा है, युद्ध है, जो आंतरिक अग्नि—'द्रष्टा संकल्प'—को अपना मार्गदर्शक और नेता बनाकर किया जाता है।

वेद भाषा का यह रूपक बड़ा प्रिय है। स्थान-स्थान पर उसकी पुनरावृत्ति हुई है। हमारी इस यात्रा का लक्ष्य है विशालता, वास्तविक अस्तित्व, प्रकाश, आनंद। सत्य का यह पथ कठिन किंतु आनंदपूर्ण है। दिव्य संकल्प की ज्वाज्वल्यमान बन इस पर हम ले जाता है। हम पर्वत एक अधित्यका से दूसरी अधित्यका पर चढ़ना होता है। शरीर के इस यान के द्वारा सत्ता के समुद्र को पार करना होता है। इसकी नदियों को लाँघना होता है। गहरी और वेगवती धाराओं का अतिक्रमण करना होता है। इस यात्रा का उद्देश्य असीमता और प्रकाश के सुदूरवर्ती समुद्र पर पहुँचना है।

यह लंबे समय तक एक भयंकर और क्रूर युद्ध होता है। निरंतर ही 'आर्य-पुरुष' को श्रम करना है, लड़ना है और विजय प्राप्त करनी है। उसे अथक परिश्रमी, अर्थात पथिक और कठोर योद्धा होना है। एक के बाद एक नगरी का भेदन करना, आक्रांत, लुंठन करना एक के बाद के एक राज्य को विजय करना है, एक के बाद एक शत्रु को पछाड़ना है और निर्दयतापूर्वक पददलित करना है।

आर्य पुरुष की समग्र प्रगति एक संग्राम होता है। देवों और दानवों का, इंद्र और वृत्र का, आर्य और दस्यु का। उसे आर्यों के शत्रुओं से सामना तो खुले क्षेत्र में भी करना होता है। क्योंकि पहले के मित्र और सहायक भी शत्रु बन जाते हैं', आर्य राज्यों के राजा जिन्हें उसे जीतना और अतिक्रमण करना (पीछे छोड़ना) होता है, वे दस्युओं से जा मिलते हैं, और उसके मुक्त और पूर्ण अभिगमन को रोकने के लिए चरम युद्ध में उसके-उसके विरोध में जा खड़े होते हैं।

जीवन की इस युद्ध यात्रा में उसके शत्रु होते हैं दस्यु, विभाजक, लुटेरे हानिकारक शक्तियाँ, दानव (विभाजन) (दिति) की माता के पुत्र दैत्य खानेवाले और हड़प जाने वाले 'राक्षस' चीर डालने वाले 'वृक' या भेड़िये, क्षति पहुँचाने वाले, घृणा करने वाले, द्वेष करने वाले निंदा करने वाले, सीमित करने वाले।

वृत्र उसका प्रधान शत्रु है। यह सर्प अंधकार की कुंडलियों द्वारा दिव्य सत्ता और दिव्य क्रिया की सब संभावनाओं को रोकता है। 'शुष्ण' अपने अपवित्र और और असिद्धि कर बल से उसे पीड़ित करता है। 'नमुचि अपनी दुर्बलताओं के द्वारा ही मनुष्य से लड़ता है। बल और पणि, वह मूर्तिमान किंतु मनोवैज्ञानिक शक्तियाँ हैं जो इंद्रिय जीवन में कृपण व्यवहार करती हैं। उच्चतर प्रकाश और उसकी ज्योतियों को चुराती हैं छिपाती हैं, उन्हें वे अंधकारावृत और दुरुपयुक्त ही कर सकती हैं। ये वे अशुचि मनुष्य हैं जो उनकी संपदा ईर्ष्यालु होते हैं किंतु यज्ञ पर कभी देवों को हवि प्रदान नहीं करना चाहते।

हमारी अज्ञानता, बुराई, दुर्बलता तथा कई सीमितताओं के ये व्यक्तित्व सतत मनुष्य पर युद्धरत रहते हैं। ये समीपता से घेरे रहते हैं या दूर से अपने तीर मारते हैं अथवा उसके 'द्वारोंवाले घर' (शरीर) में देवों के स्थान पर रहते हैं। अपने आकार रहित, हकलाते हुए मुखों द्वारा, अपने बल के अपर्याप्त निश्वास के द्वारा वे मनुष्य की आत्म-अभिव्यंजना को दूषित करते हैं। उन्हें हमें निकाल बाहर करना है, इन्हें पराभूत करना, या इनका वध करना अथवा इनके नीचे के अंधकार में इन्हें धकेल देना है।

इस युद्ध में हमारे सहायक हैं, 'देव'। ये विश्वव्यापी देवताओं के विभिन्न नाम, शक्तियाँ और व्यक्तित्व हैं, जो दिव्यसत्ता के किसी विशेष सारभूत बल का

प्रतिनिधित्व करते हैं। ये विश्व को अभिव्यक्त करते हैं, और इसमें अभियुक्त हुए हैं। ये प्रकाश की संतान, एकता अथवा असीमता (अदिति) के पुत्र हैं। ये मनुष्य की आत्मा के अंदर अपने बंधुत्व और सख्य को पहचानते हैं और उसे सहायता पहुँचाना और उसके अंदर अपने आपको बढ़ाने के द्वारा उसे बढ़ाना चाहते हैं।

देवता केवल रूपक नहीं हैं। वे केवल निर्विशेष भावों के, प्रकृति के मनोवैज्ञानिक और भौतिक व्यापारों के कवित्व कृत व्यक्तित्वोपपादन नहीं हैं। वे सजीव वास्तविकताएँ हैं। (इनका और बुद्धिग्राह्य विवेचन हम आगे करेंगे) मानव आत्मा के उलटफेर, अवस्थांतर एवं वैश्व संघर्ष के ये निदर्शक हैं। न केवल सिद्धांतों और प्रवृत्तियों के संघर्ष के, किंतु उन्हें आश्रय देने वाली तथा उन्हें मूर्त करने वाली वैश्व शक्तियों के संघर्ष के निदर्शक हैं। ये वैश्व शक्तियाँ हैं देव और दैत्य। विश्व के रंगमंच पर और वैयक्तिक आत्मा में दोनों जगह वही वास्तविक नाटक उन्हीं पात्रों के साथ निरंतर खेला जा रहा है।

यानि देव, दानव, सुर, असुर शक्तियाँ केवल ऐतिहासिक पात्र नहीं रह जातीं। उनसे हमारा केवल पारलौकिक सरोकार भर नहीं है। वे अब भी हमसे जुड़े हुए हैं और व्यक्तिगत एवं समष्टिगत जीवन को एक दिशा में ले जा रहे हैं।

देवताओं में 'अग्नि' संकल्प की सप्तजिह्व शक्ति है। परमेश्वर की ज्ञान से प्रेरित शक्ति है। यह सचेतन तथा बलशाली संकल्प हमारी 'मर्त्यता' के अंदर एक 'अमर्त्य अतिथि' है। यह एक पवित्र पुरोहित और दिव्य कार्यकर्ता है। यह पृथ्वी और 'द्यौ' के बीच मध्यस्थता करता है। जो कुछ हवि हम प्रदान करते हैं, उसे वह उच्चतर शक्तियों तक पहुँचाता है और बदले में उनकी शक्ति, प्रकाश और आनंद हमारी मानवता के अंदर ले आता है।

'इंद्र' शुद्ध अस्तित्व की शक्ति है। दिव्य मन के रूप में स्वतः अभिव्यक्त हुई शक्ति है। यदि अग्नि एक ऐसा ध्रुव है जो ज्ञान से आविष्ट शक्ति के रूप में अपनी धारा को ऊपर पृथ्वी से द्यौ की तरफ भेजता है, तो इंद्र दूसरा ध्रुव है, जो शक्ति से आविष्ट प्रकाश-रूप में द्यौ से पृथ्वी पर उतरता है। एक पराक्रमी, वीर योद्धा के रूप में अपने चमकीले घोड़ों के साथ अपनी विद्युता, वज्रों के द्वारा अंधकार तथा विभाजन का हनन करता है जीवनदायक दिव्य जलों की वर्षा करता है 'शुनि (अंतर्ज्ञान)' की खोज के द्वारा खोयी हुई या छिपी हुई ज्योतियों को ढूँढ निकालता है। हमारी मनोमयता के द्युलोक में सत्य के सूर्य को ऊँचा चढ़ा देता है।

सूर्य है सत्य का स्वामी। वह सत्ता, ज्ञान, क्रिया, प्रक्रिया, गति और व्यापार का सत्य है। वह सब वस्तुओं का स्रष्टा अभिव्यंजक-बाहर ले आने वाला, सत्य

और संकल्प के द्वारा प्रकट करने वाला है। वह हमारी आत्माओं का पिता, पोषक तथा प्रकाशदाता है। जिन ज्योतियों को हम चाहते हैं वे इसी सूर्य के गोयूथ हैं, गौएँ हैं। यह हमारे पास दिव्य उषाओं के पथ से आता है, और हमारे अंदर रात्रि में छिपे पड़े, एक के बाद एक जगत को खोलता तथा प्रकाशित करता जाता है जब तक कि हमारे लिये सर्वोच्च, परम आनंद का नहीं खोल देता।

सूर्य के सत्य की पांच शक्तियां हैं

एक—'सोम' इसी आनंद की प्रतिनिधिभूत देवता है। उसके आनंद का रस (सुरा) पृथ्वी के उपचयों में छिपा हुआ है। पौधों में, सत्ता के जलों में, हमारी भौतिक सत्ता तक में उसके अमरता दायक रस हैं। उनको निकालना है, सब देवताओं को हवि रूप में प्रदान करना है। उसके बल से ही देव बढ़ेंगे और विजयशाली होंगे।

दो—वरुण। सूर्य के सत्य को बरतें प्रकृति में दृढतया स्थापित होने के लिए कुछ पूर्ववर्ती अवस्थाएं अनिवार्य हैं। वरुण है एक वृहत् पवित्रता और स्वच्छ विशालता की शक्ति जो समस्त पाप एवं कुटिल मिथ्यात्व की विनाशक है।

तीन—मित्र। यह प्रेम और समायोजन (एडजस्टमेंट) की एक प्रकाशमय शक्ति है जो हमारे विचारों कर्मों और आवेगों को आगे ले जाती है और उन्हें सामंजस्ययुक्त कर देती है।

चार—अर्यमा। यह सुस्पष्ट, विवेचनशील अभीप्सा (Aspiration) है। प्रयत्न की एक अपार शक्ति और पराक्रम है।

पांच—भग। यह सब वस्तुओं का समुचित उपभोग करने की एक सुखमय, स्वयंस्फूर्ति है, जो कि पाप, भ्रांति और पीड़ा के दुःस्वप्न का निवारण करती है।

'अश्विनौ' (युगल अश्विनी कुमार) हमें मन, प्राण और शरीर की वह एक सुखमय प्रकाशमय और अविकलांग अवस्था प्रदान करते हैं जो 'सोम' का समग्र आनंद हमारी प्रकृति में पूर्णतया स्थापित हो जाए इसके लिए आवश्यक है। ये हमारे ज्ञान के तथा कर्म के भागों को अधिष्ठित करते हैं। हमारी, मानसिक, प्राणिक तथा भौतिक सत्ता को एक सुगम और विजयशाली आरोहण के लिए तैयार कर देते हैं।

'ऋभु' गण इंद्र अथवा दिव्य मन के सहायक होते हैं। ये मानसिक रूपों का निर्माण करते हैं। ये ऐसी मानवीय शक्तियाँ हैं, जिन्होंने यज्ञ के संपादन से और 'सूर्य' के ऊँचे निवास स्थान तक अपने उज्ज्वल आरोहण के द्वारा अमरत्व को प्राप्त किया है। ये अपनी इस सिद्धि की पुनरावृत्ति के लिए मनुष्य जाति की सहायता करते हैं। ये मनके द्वारा इंद्र के घोड़ों का, अश्विनौ के रथ का, देवताओं के शस्त्रों का, तथा यात्रा और युद्ध के समस्त साधनों का निर्माण करते हैं।

'मरुत्' भी इन्द्र के सहायक देवता हैं। ये सत्य के प्रकाश के प्रदाता तथा वृत्रहता के रूप में इन्द्र की सहायता करते हैं। नक्षत्र की तथा वात या प्राण के बल की शक्तियाँ हैं, जिन्होंने विचार के प्रकाश और आत्म प्रकटन की वाणी को प्राप्त किया है। समस्त विचार और वाणी के पौद्गिक प्रेरक के रूप में रहते हैं और परम चेतना के प्रकाश, सत्य और आनंद को पहुंचने के लिए युद्ध करते हैं।

वेदों में स्त्रीलिंगी देवशक्तियों के मंत्र हैं। ये सक्रिय करने वाली आत्माएं, निष्प्रतिरोध रूप में कार्य संपन्न करनेवाली और यथा क्रम विन्यास करनेवाली शक्तियाँ हैं।

'अदिति' देवों की माता है। यह परम एकता की चेतना है और उन्मुक्त देव' शक्तियों की निर्मात्री है।

'मही' अथवा 'भारती' वह विशाल वाणी है जो सब वस्तुओं का दिव्य स्रोत से हमारे लिए ले आती है।

इडा' सत्य की दृढ़ आदिम वाणी है, जो हमें इसका सक्रिय दर्शन का प्रदान करती है।

'सरस्वती' सत्य की बहती हुई धारा और अंतःप्रेरणा की वाणी है।

'सरमा अंतर्ज्ञान की देवी है। वह पुलार की शुनि (खोजी कुतिया) जाकर अवचेतना की गुफा में उतर आती है और वहाँ छिपी हुई ज्योतियों का सूत्र लेती है।

'दक्षिणा' का व्यापार है ठीक-ठीक विवेचन करना, क्रिया और हवि का विनियोग करना तथा यज्ञ में प्रत्येक देवता का उसका भाग वितरित करना।

इनके अलावा प्रत्येक देव की अपनी-अपनी स्त्रीलिंगी शक्ति है।

द्यौ' तथा 'पृथिवी' देवों के माता पिता माने गये हैं। ये क्रमशः शुद्ध मानसिक आन्तरात्मिक चेतना का एवं भौतिक चेतना का वहन करते हैं। ये समस्त क्रिया, सर्जन और आरोहण के आधार हैं। इनका विस्तृत और मुक्त अवकाश ही हमारी सिद्धि की शर्त है।

इसी गुह्य आध्यात्मिक अर्थ से मंत्र पूरित एक शब्द है 'अयोध्या।'

अथर्ववेद के द्वितीय खण्ड में इसे अष्टचक्रा नवद्वारा देवाना पुरी अयोध्या' कहा गया है। यानी देवताओं द्वारा निर्मित इस 'अयोध्या' नगरी में आठ चक्र (मण्डल) नौ द्वार तथा अपार वैभव है। जहाँ रामायण का श्लोक 'अयोध्या नाम तत्रासित नगरी लोक विश्रुता। मनुना मानवेन्द्रेण पुरवे निर्मिता स्वयं।' इसे अयोध्या के भौतिक पक्ष को प्रतिबिंबित करता है वहीं अथर्ववेद का उपरोक्त मंत्र हमें उसके प्रकट और गुह्य दोनों अर्थों का संकेत देता है।

वेदमंत्रों एवं वैदिक शब्दों की उपरोक्त आधुनिकतम व्याख्या के प्रकाश में आइये अब इस दोहरे अर्थ को हृदयंगम करें

५. अष्टचक्रा, नवद्वारा, देवानां पुरी

वेदो की दोहरे अर्थवाली इस रहस्यवादी और प्रतीकात्मक शैली के अनुसार अयोध्या एक भौतिक नगरी या भूप्रदेश का नाम है। यही नाम उसके गुह्य अर्थ का संकेत भी देता है। यह एक ऐसी भूमिका या लोक अथवा अस्तित्व का स्तर है जहाँ युद्ध या तो संभव ही नही होता, या अनावश्यक हो जाने के कारण अपने आप निरस्त हो जाता है।

वह कौन सा लोक या चेतना का स्तर है, जहाँ ऐसी निर्द्वंद्व अवस्था स्वाभाविक है। क्या प्रसाद जी का कैलास या निर्वाण ही वह अवस्था है? नही, वेदो मे लोको के क्रम-विन्यास की एक तर्कसंगत परम्परा हमे प्राप्त होती है। उनकी आधुनिकतम व्याख्या के अनुसार तब अष्टचक्रा नगरी केवल आठ मण्डलो (सर्किलों या वार्डों) वाली नगरी भर नही रह जाती। उसके नवद्वार एक अलग ही आध्यात्मिक या तान्त्रिक अर्थ प्राप्त कर लेते है। तब वह मात्र उन देवो की सहायता से निर्मित मनु की राजधानी नही रह जाती, जो मध्य पूर्व एशियाई क्षेत्रो मे मानव-सभ्यता से पहले स्थापित थे और जिन्होंने असुर या दानव जातियो को खदेड भगाया था। तब यह समूचा प्रतीको और रूपको का अतीतकालीन संसार, हमारे आज के ठोस यथार्थ से जुड जाता है और इसीलिए ज्यादा दिलचस्प बन जाता है। आइये, देखें कि इन लोको का इतिहास-भूगोल क्या है।

वेदो के अनुसार विश्व अतिचेतन सच्चिदानन्द का विकसित रूप है। 'अति-चेतन' क्या है? मनुष्य एक विशेष माप के भीतर ही शब्दो या रंगो को ग्रहण कर सकता है जो कुछ उस माप के ऊपर या नीचे है, वह उसके लिए अश्रव्य और अदृश्य होता है। अथवा कम से कम वह उसमे भेद नही कर सकता। ऐसी ही उसकी मानसिक चेतना के माप के विषय मे है। इसके ऊपर और नीचे दोनो ओर एक चरम सीमा है, जिससे बाहर जाने मे वह असमर्थ है। पशु के साथ मनुष्य भाषण आदि द्वारा घनिष्ठ संपर्क नही रख सकता। इसी तरह 'अतिचेतन' विश्व-चेतना या समग्र चेतना उसके लिए एक ऐसी बन्द पुस्तक के समान है, जिसमें भलीभाँति केवल कोरे पन्ने ही हो सकते हैं।

लेकिन उसके पास 'अन्तःस्फूर्ति' (इंट्यूशन) जैसा एक साधन भी है, जिससे वह इन उच्च श्रेणी के स्तरों या लोकों में संसर्ग और प्रवेश का मार्ग खोजता है।

इसी साधन के द्वारा अपने मन की गहराइयों में बैठते हुए ऋषियों ने यह पाया कि सच्चिदानन्द ने अपने-आपको एक व्यवस्थित श्रेणी क्रम में विकसित किया है। ये स्तर या लोक, एक प्रकार से भौतिक विश्व के सामंजस्य से भिन्न प्रकार के सामंजस्य हैं, व्यवस्थाएँ हैं। जैसा कि 'स्तर' शब्द सूचित करता है, वे सत्ता के सोपान-क्रम में एक भिन्न तल या स्तर रखते हैं, तथा अपने तत्त्वों का भिन्न संस्थान और व्यवस्थापन रखते हैं। उनका द्रव्य हमारे पार्थिव लोक की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है। वैज्ञानिक भाषा में उनका तरंग-दैर्घ्य (वेवफ्रीक्वेंसी) इतनी अधिक है कि हमारी इंद्रियों की शक्तियाँ उनका ग्रहण या आकलन नहीं कर पातीं। जैसे इलेक्ट्रान भौतिक स्तर का सूक्ष्म द्रव्य है लेकिन वही बढ़ी हुई कंपन संख्या में 'यूटान' नामक अर्ध-मानसिक द्रव्य बन जाता है। आधुनिक वैज्ञानिक, विचारों को 'यूटान' समूहों के रूप में देखने तक अपनी मशीनों के द्वारा ही आ पहुंचे हैं।

इन लोकों के उस अति, अतितर तथा अत्यन्त सूक्ष्म द्रव्यों की गति-प्रवृत्तियाँ भिन्न प्रकार की हैं। लेकिन ये अपने-आप में भिन्न विश्व नहीं हैं बल्कि सत्ता के एक ही श्रेणी-बद्ध और परस्पर में ओतप्रोत तंत्र के विभिन्न स्तर हैं। इसलिए एक ही जटिल वैश्व-तंत्र के अंग हैं। इन लोकों की मूल सृष्टि भौतिक सृष्टि के बाद नहीं अपितु पहले है। काल में पूर्ववर्ती यदि न भी हो तब भी परिणाम-संबंधी अनुक्रम में यह पहले हुई है। यह एक नीचे उतरने वाली (अवरोहण) और चढ़नेवाली (आरोहण) श्रेणी परम्परा के ऊपरी डंडे या सोपान हैं। सच्चिदानन्द अपनी लीला के लिए जड़ तत्त्व में उतरता है, तो इस अधोगामी यात्रा में ये ऊपरी स्तर उसके 'विकासिक आरोहण' (Evolutionary Ascent) के लिए एक सामग्री प्रदान करते हैं। उसके प्रयास के लिए एक विरचना-कारिणी शक्ति देते हैं। उसे सहायक और अनुकूल तत्त्व प्रदान करते हैं। ठीक उसी तरह जैसे एक बीज में उसके विकास का पूर्वनिर्धारित मानचित्र कूटस्थ (Codifide) होता है। इन्हीं सीढ़ियों में उतरते हुए सच्चिदानन्द की सत्ता निश्चेतना के तल में अन्तर्लीन होती है। फिर प्राण, मन और आत्मा के रूप में उन्मज्जित होती है।

ये लोक हमारे सामने भौतिक विश्व के रूप में जो उपस्थित है, उसके समवयस्क और सहवर्ती हैं। ये लोक यहाँ एक दूसरे के साथ सहयोग करने वाली दो शक्तियों के द्वारा विकसित हुए हैं। इनमें एक है ऊपर से नीचे की ओर दबाव डालने वाली और नीचे के तत्त्व को ऊपर आकृष्ट करने वाली शक्ति और दूसरी है नीचे से ऊपर की ओर उन्मुख होने वाली शक्ति। एक ओर नीचे निश्चेतना में, जो कुछ उसके भीतर अव्यक्त दशा में विद्यमान है, उसे व्यक्त करने की आवश्यकता है। दूसरी ओर ऊपर के उच्चतर स्तरों में जो उत्कृष्ट तत्त्व है,

उनका दबाव है। यह दबाव अपने-आपको चरितार्थ करने की इस सामान्य आवश्यकता को केवल सहायता ही नहीं पहुँचाता, बल्कि जिन विशेष विधियों से वह अंत में चरितार्थ होती है, उसे भी बहुत अधिक अंश में निर्धारित कर सकता है। भौतिक स्तर पर आध्यात्मिक, मनोमय और प्राणमय लोकों या स्तरों का सतत प्रभाव इसी ऊपर की ओर आकर्षण करने वाली क्रिया और इसी दबाव के कारण हमें महसूस होता है।

इस तरह यह एक ग्रथित विश्व है। इसके गठन के प्रत्येक भाग में सात तत्व परस्पर ग्रथित हैं। इसलिए जहाँ कहीं भी वे मिलते हैं, तो स्वभावतः उन्हें एक दूसरे पर क्रिया और उसके प्रति अनुक्रिया करनी होती है। यह इस विश्व के स्वरूप में अंतर्निहित है। इसकी आरोह-अवरोहण श्रेणी इस प्रकार बनती है—

सत्	भौतिक तत्व
चित्	प्राण
आनंद	अंतरात्मा या चैत्य तत्व
विज्ञान (दिव्यमान)	मन

इस उभय-पक्षी दबाव, खिंचाव और क्रिया-प्रतिक्रिया के प्रथम परिणाम स्वरूप ही जड़ तत्व में से प्राण और मन उन्मुक्त होते हैं। पार्थिव प्राणों में आध्यात्मिक चेतना, आध्यात्मिक इच्छा और सत्ता के सम्बन्ध में आध्यात्मिक भावना के उभार में सहायता इसका अंतिम परिणाम है। इसी सहायता के कारण मनुष्य अब केवल अपने अत्यंत बाहरी जीवन में स्वयं को सीमित नहीं रख पाता अपने मानसिक लक्ष्यों और अभिरुचियों मात्र में उसे संतोष नहीं होता। वह अब अपने भीतर देखना चाहता है। अपनी आंतरिक सत्ता को, अपनी आध्यात्मिक सत्ता को पाना चाहता है। अपनी आत्मा की खोज निकालना, पृथ्वी और उसके बंधनों का उल्लंघन करने की आकांक्षा करना उसने सीख लिया है। जैसे-जैसे वह भीतर की ओर अधिकाधिक बढ़न करता जाता है, तो उसके प्राण, मन और आत्मा के सीमांत चौड़े होने लगते हैं। जो बंधन उसे सीमाओं में जकड़े हुए थे, वे शिथिल होने लगते हैं या टूटने लगते हैं।

इस अंतर्यात्रा के दौरान उसे पता चलता है कि जड़ विश्व से ऊपर ऐसे प्राणमय लोक हैं जो विश्वात्मक प्राण-तत्व के अथवा वैश्व प्राण-पुरुष के नैसर्गिक आवास हैं। जड़ जगत में जहां प्राण एक किरायेदार की तरह होता है, वहां प्राण लोक उसका निजी क्षेत्र और आवास है। यहाँ अपनी क्रिया के लिए उसे जड़ का अवलंबन करना पड़ता है किंतु वहां वह निजी स्वरूप में क्रिया करता है। ऐसी क्रिया का कुछ अनुभव हम स्वप्न में करते हैं।

इस लोक से परे मनोमय स्तर है। मनोमय लोक विश्वात्मक मनस्तत्व

(Universal Mind) अथवा वैश्व मनोमय पुरुष का नैसर्गिक आवास है। पार्थिव जगत में जहाँ वह प्राण और जड़ तत्व पर निर्भर है, वहाँ मनोमय लोक उसका अपना क्षेत्र और घर है। वहाँ वह निजी स्वरूप में क्रिया करता है।

लेकिन मनुष्य संपूर्ण रूप में मनोमय नहीं है। मनोमय लोक ही उसकी अन्तिम मामाय भूमिका नहीं है। मनुष्य मन नहीं है, अपितु अन्तरात्मा है। इसे नवीन आध्यात्मिक परिभाषा में चैत्य-पुरुष भी कहा गया है। यही मृत्यु और जन्म के बीच यात्रा करता है। मनोमय पुरुष उसकी स्वाभिव्यक्ति का संपूर्ण आकार नहीं बल्कि केवल एक प्रधान अंग है। शुद्ध चैत्य सत्ता या अंतरात्मा का एक ऐसा स्तर है जहाँ मृत्यु के बाद जीवात्मा आश्रय ग्रहण करता है और पुनर्जन्म की प्रतीक्षा करता है। वहाँ अपने अतीत अनुभव और जीवन की ऊर्जाओं को आत्मसात् करता है। अपने भविष्य की तैयारी करता है।

इस लोक में पहुँचने से पहले अन्तरात्मा जब सूक्ष्म भौतिक प्राणमय और मनोमय स्तरों में से गुजरता है तो अपने व्यक्तित्व-गठन के बाहरी, अल्पकालिक अंश निकालता और फेंकता जाता है। जिस प्रकार मृत्यु द्वारा उसने भौतिक देह रूप कोश को उतार फेंका है। किंतु अपने अनुभवों का सारतत्व भविष्य के निगूढ़ स्मृति के रूप में सवार कर रखता है। क्रियात्मक शक्यता (Practical Possibility) के रूप में भी यह बरकरार रहता है।

अन्तरात्मा अपने नैसर्गिक आवास (धाम) में पहुँचकर समाकलनकारी भावात्मक तैयारी करता है और नवीन जीवन के विशिष्ट स्वरूप को निश्चित करता है। किन्तु इस आन्तरिक सत्ता के प्रति इसी जीवन में जब हम जागृत होते हैं, तभी से सच्ची आध्यात्मिकता और उच्चतर लोकों की ओर हमारी यात्रा शुरू होती है। आध्यात्मिकता कोई उच्च बौद्धिकता नहीं है। आदर्शवाद नहीं है। मन की नैतिक दिशा में प्रवृत्ति या नैतिक पवित्रता एवं तपस्या नहीं है। धार्मिकता या कोई उग्र भावावेग या उत्साह नहीं है। वह इन समस्त उत्कृष्ट पदार्थों का सम्मिश्रण भी नहीं है। मानसिक विश्वास, धर्मभक्तिमयी श्रद्धा, भावावेगमयी अभीप्सा आध्यात्मिकता नहीं है। किसी धार्मिक या नैतिक नियम के अनुसार आचरण का नियमन, आध्यात्मिक उपलब्धि या अनुभव नहीं है। इनका मूल्य यही है कि ये हमारी प्रकृति को तैयार करते हैं, मंथन करते हैं या उपयुक्त रूप देते हैं।

आध्यात्मिकता का सार है आत्मा या अन्तरात्मा के प्रति जागरण, जो हमारे मन, प्राण और शरीर से भिन्न है। वह उसे जानने, मर्मज्ञान करने और वही बन जाने की आन्तरिक अभीप्सा है। वह उस महत्तर परमार्थ तत्व के साथ हमारा संयोग स्थापित करती है। जो विश्व से परे है, उसमें व्याप्त है और हमारी सत्ता में भी निवास करता है, उसके साथ हमारा संगम और मिलन कराती है। इस

अभीप्सा, सयोग और मिलन के परिणामस्वरूप हमारी सम्पूर्ण सत्ता में एक घुमाव आता है। एक परिवर्तन या रूपांतर हो जाता है। हमारे इसी जन्म मे एक नवीन सत्ता, नवीन आत्मा का सभवन हो जाता है। एक नवीन प्रकृति मे हमारा सवर्धन या जागरण होता है।

हमारे ऊपरी व्यक्तित्व मे, हमारे विचार और कर्म का मुख्य उपकरण तर्क-बुद्धि है। अर्थात् वह बुद्धि जो निरीक्षण करती है, समझती है और व्यवस्थित करती है। अतरात्मा के साक्षात् अनुभव के साथ हम बुद्धि को भी प्रकाशित एव सतुष्ट करना होगा। हमारे विचारशील और मनन शील मन को इस अनुभव का सहायक बनाना होगा। अनेक सिद्ध, औलिया किस्म के तथा तान्त्रिक आदि कहलाए जाने वाले व्यक्ति इस बुद्धि के बिना काम चला सकते हैं। लेकिन परम सत्य यदि आध्यात्मिक परमार्थ तत्व है तो मनुष्य की बुद्धि के लिए यह जानने की आवश्यकता है कि उस मूल सत्य का स्वरूप क्या है, शेष सत्ता के साथ, हमारे साथ, और विश्व के साथ उसके सबधो का सिद्धात तत्व क्या है। बुद्धि अपने-आप हमें परम-सत्य तक पहुँचने में समर्थ नही है। किन्तु वह उसे मनोमय, विचार-गम्य रूप देकर इस कार्य मे सहायता कर सकती है। मनोमय लोक की यही क्रिया-विधि है। किसी सरकार मे सचिवालय का जो स्थान होता है, वही इस विश्व व्यवस्था मे मनोलोक का है। इस लोक का प्रमुख कार्य है समझना, दूसरा कार्य है समीक्षा करना और अतिम कार्य है सगठित करना, नियन्त्रित करना, विरचित करना।

जिस समय आध्यात्मिक या आतरिक जागरण मनुष्य मे होता है तो उसमे सत, भक्त, मुनि, ऋषि, देवदूत, भगवान का सेवक या आत्मा का सैनिक प्रकट होता है। ये सभी अपनी समूची प्राकृतिक सत्ता के ऐसे किसी एक भाग को अपना आधार बनाते हैं जिसमें आध्यात्मिक प्रकाश का इलहाम हुआ है, शक्ति का सचार हुआ है या आनन्द उतर आया है उनका वह भाग अपने स्तर से ऊपर उठ जाता है। मुनि और ऋषि आध्यात्मिक मन मे निवास करते हैं। उनमे ज्ञान का एक आतरिक या महत्तर दिव्य प्रकाश होता है। उनके विचार और अतर्दर्शन इस प्रकाश के द्वारा नियंत्रित व सचालित होते हैं। भक्त हृदय की आध्यात्मिक अभीप्सा मे जीता है। उसकी खोज मे रहता है, उसके आत्म निवेदन मे निवास करता है। सत अपने आतरिक हृदय मे स्थित और जागृत उस अतरात्मा या चैत्यपुरुष द्वारा सचालित होता है। उसका यह अतरात्मा, सत्ता के उन हिस्सो का शासन करने के लिए बलशाली हो गया होता है जो आवेगमय है, प्राणिक है।

देवदूत, मसीहा, भगवत्सेवक आदि अपनी सक्रिय, प्राणिक (Vital) प्रकृति (Nature) मे स्थित होते हैं। यह उच्च आध्यात्मिक ऊर्जा से चालित होती है। इस ऊर्जा के द्वारा वे किसी अत प्रेरित कर्म की ओर, किसी ईश्वर प्रदत्त कार्य

या उद्देश्य की ओर प्रवृत्त होते हैं। किसी दिव्य शक्ति, विचार या आदर्श की सेवा में प्रेरित होते हैं।

इस चढ़ाई का अंतिम शिखर वह मुक्त मनुष्य होता है, जिसने अपने भीतर आत्मा का अनुभव किया है। वह वैश्व चैतन्य अथवा ईश्वर में प्रविष्ट हो जाता है, ब्रह्म के साथ एकता प्राप्त करता है। वह जीवन एवं कर्म को अभी भी स्वीकार करता है। यह कर्म वह अपने भीतर की ज्योति एवं शक्ति से करता है। यह ज्योति एवं शक्ति उसके प्रकृति-निर्मित मानव उपकरणों के द्वारा क्रिया करती है। हिमालय जैसी उच्चता रखने वाला उसके व्यक्तित्व का प्रसार अपनी प्रकृति के उच्चतम शिखरों तक ऊपर उठ जाता है।

किन्तु हम जब विश्व-स्तर पर देखते हैं तो इस आध्यात्मिकता का अभी तक कोई निर्णायक परिणाम हुआ नजर नहीं आता। इसका मात्र अंशदायी परिणाम हुआ है। चेतना के परिणाम में कुछ नवीन, अधिक सूक्ष्म, अधिक उत्कृष्ट तत्त्व जुड़े हैं। लेकिन जीवन का गुणात्मक या मौलिक रूपांतर नहीं हुआ है। इसका कारण हम यह देखते हैं कि जन सामान्य ने सर्वथा आध्यात्मिक प्रवृत्ति को पथ भ्रष्ट किया है। वह आध्यात्मिक आदर्श से पीछे हटा है अथवा उसने उसे केवल एक बाहरी रूप में ही ग्रहण किया है और आंतरिक परिवर्तन का परित्याग किया है।

मन जीवन के रोगों की चिकित्सा अपने रामबाण उपायों से करता है। अर्थात् राजनीति, सामाजिक या दूसरे यांत्रिक उपायों से, जो कुछ भी समाधान करने में सर्वथा विफल होते रहे हैं और होते रहेंगे। क्योंकि पुराने दोष नवीन रूप में बने रहते हैं, बाहरी पर्यावरण का पक्ष बदल जाता है, परन्तु मनुष्य जैसा पहले था वैसा ही बना रहता है। वह अपने ज्ञान का दुरुपयोग करता है, या उसका प्रभावशाली ढंग से उपयोग नहीं कर पाता। वह अपने अहंकार से चालित होता है। प्राण की कामनाओं, रागावेशों और शारीरिक आवश्यकताओं से शासित होता है।

लेकिन मनुष्य का उसके इस वर्तमान स्वरूप से परे के जगत से अब तक की आध्यात्मिकता विफल ही प्रतीत होती है। एक तो यह आध्यात्मिकता जीवन की ओर देखने की अपेक्षा जीवन से परे की ओर देखने की अपेक्षा जीवन से परे की ओर देखने की अधिक रही। यह भी सत्य है कि आध्यात्मिक परिवर्तन व्यक्तिगत ही हुआ है, सामूहिक नहीं। उसका परिणाम मानव व्यक्ति में सफल रहा है, किंतु मानव समूह में विफल।

सामूहिक आध्यात्मिक जीवन के लिए प्रयत्न पहले भी किये गये हैं। किंतु ये अधिकांश में व्यक्ति की आध्यात्मिकता के संवर्धन के लिए रक्षा-क्षेत्र के रूप में बनाये गये हैं। किंतु ये प्रयत्न दूषित होते रहे हैं। क्योंकि उसके क्रियात्मक पक्ष में

आध्यात्मिक ज्ञान का कोई अपूर्णता रही है, व्यक्तिगत साधकों की अपूर्णताएं रही हैं। आध्यात्मिकता को मानव-समूह में मन को उपकरण बनाकर ही कार्य करना पड़ता है। अतः यह पार्थिव जीवन पर प्रभाव तो डाल सकती है, किंतु उस जीवन का रूपांतर नहीं साधित कर सकती। इसी कारण उसमें यह प्रवृत्ति प्रचलित रही है। कि वह ऐसे प्रभाव से ही संतुष्ट रही है। उसने परिपूर्णता को किसी अन्य लोक में या दूसरे जीवन में खोजने के लिए निलंबित रख दिया है। इस प्रकार से बहिर्मुख प्रयास का सर्वथा परित्याग कर दिया है और एकमात्र व्यक्तिगत आध्यात्मिक मुक्ति या सिद्धि पर एकाग्रता की है।

इसीलिए अज्ञान के द्वारा सृष्ट प्रकृति के पूरे रूपांतर के लिए मन की अपेक्षा एक उच्चतर उपकरण-रूप शक्ति की आवश्यकता है। इस आवश्यकता को पूर्ण करने की कुंजी भी हमें वेदों में प्राप्त होती है। यह है 'विज्ञान' तत्त्व। यह शब्द अंग्रेजी 'साइंस' का पर्यायवाची नहीं बल्कि ऋत-चेतना, या ऋतंभरा-प्रज्ञा आदि के प्रयासों द्वारा वेद में वर्णित और व्याख्यायित है। आधुनिक व्याख्या में इसे ही विज्ञ मन, अतिमन, अतिमानस, सत्य चेतना, समग्र चेतना आदि संज्ञाओं से परिभाषित किया गया है।

मन यहाँ ज्ञान की खोज करने वाले और ज्ञान में वर्धन करने वाले अज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित हुआ है। अब आध्यात्मिक मनोमय प्राणी को पूर्णतया अतिमन या विज्ञान में आरोहण करना है। अतिमन ज्ञान पर आधारित चेतना है। यह अंधकार से प्रकाश में नहीं बल्कि प्रकाश से अधिक प्रकाश में वर्धन करने वाले ज्ञान की चेतना है। वैदिक ऋषि इस चेतना में आरोहण तो कर गये। किंतु उसकी शक्तियों को पार्थिव सत्ता में उतार लाने का काम बाकी है। आधुनिक मनुष्य के जिम्मे यह आया है कि उसे मन और अतिमन के बीच जो खाई है, उस पर पुल बनाना है। उनके बीच में बंद मार्गों को खोलना है। जिसे हम 'आध्यात्मिक चेतना' कहते हैं, वहाँ अभी तक शून्यता एवं शांत-निश्चलता है। वहाँ आरोहण और अवरोहण के पथों का निर्माण करना होगा।

मन और विज्ञान अर्थात् अतिमन एक विभाजक पर्दे के बीच में रखते हुए मिलते हैं। यह ज्ञान के परार्ध और अज्ञान के अपरार्ध को विभाजित करने वाली सीमा रेखा है और इसे 'अधिमन' (overmind) नाम दिया गया है। यह व्यक्ति चेतना से ऊपर वैश्व चेतना का लोक है। जिन्हें हम देवी देवता कहते हैं व इसी स्तर की शक्तियां अथवा व्यक्तित्व हैं।

ज्ञान से अज्ञान में यह पतन क्यों और कैसे हुआ? चेतना का विभाजन ही अज्ञान का आधार है। व्यक्तिगत चेतना का उस विश्व चेतना और विश्वातीत चेतना से विभाजन हुआ है। जबकि वह अब भी उसका अंतरंग भाग है। सार रूप में उससे अपृथक्करणीय है। मन का उस अतिमन से विभाजन हुआ है जबकि

उसका यह एक अधीनस्थ कार्य है। प्राण का आधा चित्शक्ति से विभाजन हुआ है, जबकि यह उसका एक ऊर्जा रूप है। भौतिक द्रव्य का उस मूल सत्ता से विभाजन हुआ है, जबकि यह उसका एक द्रव्य-रूप है। अविभक्त में यह विभाग कैसे हुआ ?

इस समस्या की विवेचन को हम अभी आगे के लिए स्थगित रखते हैं। यहाँ हमें देखना है कि ज्ञान-अज्ञान का यह द्विविध रूप ही कैसे हमारी चेतना को प्रकाश और अन्धकार का एक मिश्रण बनाता है। एक ओर अतिमना के सत्य का पूर्ण दिवस है तो दूसरी ओर भौतिक निश्चेतना की रात्रि। हमारी चेतना इन दोनों के बीच एक अर्ध-प्रकाश सी है। इस क्रम-परंपरा में एक ऐसी मध्यवर्ती शक्ति और स्तर मौजूद है जिसके द्वारा ज्ञान वाले मन से अज्ञान वाले मन में चेतना उतरकर और संक्रमित हो सकी है। इसी के द्वारा फिर विकासात्मक विपरीत संक्रमण संभव होता है।

यह उस महत्तर सत्य ज्योति का मध्यस्थ है, जिसके साथ हमारा मन सीधा संसर्ग नहीं कर सकता। यह अतिमानस ऋत-चित से सीधा संपर्क रखता है। यह एक ऐसी मूलभूत शक्ति है, जो अपने से नीचे की संपूर्ण क्रियाओं का निर्धारण करती है। मन की सभी ऊर्जाओं का निर्धारण करती है। मानो किसी 'सप्टा अधीश्वर के चौड़े पंखों में' यह ज्ञान-अज्ञान के निचले अपराध पर छाया हुआ है। यह इसका उस महत्तर ऋत-चेतना से संबन्ध जोड़ता है और साथ ही अपने 'चमकदार स्वर्णमय ढक्कन से उस ऋत के मुख को हमारी दृष्टि के लिए ढक देता है।'

जब हम अपनी सत्ता के उच्चतम लक्ष्य का अन्वेषण करते हैं तो यह लोक अनन्त संभावनाओं की अपनी बाढ़ के द्वारा मध्य में स्थित होकर एक साथ बाधक और मार्गरूप हो जाता है। यही वह गुप्त कड़ी है, जो कि परम ज्ञान और विश्वव्यापी अज्ञान का संयोग और विभाग करती है।

अधिमन अतिमन का अज्ञान की सृष्टि के लिए प्रतिनिधि है। वह एक दोहरे कार्य जैसा काम करता है। यह अतिमन से सादृश्य और असादृश्य रखने वाला एक पर्दा है। सबके द्वारा अतिमन अज्ञान पर क्रिया कर सकता है। अज्ञान का अंधकार पराज्योति के सीधे आघात को सहन या ग्रहण नहीं कर सकता। अतिमन अधिमन में अपनी समस्त यथार्थताओं का संचार कर देता है, किंतु उन्हें एक क्रिया धारा का रूप देने के लिए अधिमन पर ही छोड़ देता है।

अतिमन और अधिमन को एक रेखा विभक्त करती है। निम्नतर शक्ति को उच्चतर में निर्बाध ग्रहण करने देती है, परंतु उसे संक्रमणात्मक परिवर्तन के लिए भी सहज भाव से विवश करती है। अधिमन में अतिमन की समग्रता नहीं रह जाती। उसकी ऊर्जा, समग्र और अविभक्त सर्वसमावेशी ऐक्य के पक्षों और

शक्तियों में जोड़-तोड़ की अपरिमित सामर्थ्य रखती है वह प्रत्येक पक्ष या शक्ति को लेकर उसे एक ऐसा स्वतन्त्र कर्म प्रदान करती है जिसमे कि वह (पक्ष या शक्ति) एक पूरा पृथक् महत्व प्राप्त करता है। यही देवताओं की सृष्टि है, जिसमें वे अपने निजी लोक को कार्यान्वित करने की सामर्थ्य रखते हैं।

अतिमानस जैसा कि हम आगे देखेंगे पूर्ण सामंजस्य का लोक, या चेतना का स्तर है। वहाँ विषमता अथवा एक की दूसरे पर प्रधानता नहीं हो सकती। इस तरह अधिमन में हमें विभाजन और अज्ञान का मूल मिलता है। एक और बहु, व्यक्तित्व और निर्व्यक्तित्व, सगुण और निर्गुण आदि पक्ष यहीं पृथक् होने लगते हैं। देवता एक ही परमार्थ तत्व की विभिन्न शक्तियाँ हैं। हम कह सकते हैं कि अधिमन ऐसे लाखों देवताओं को कर्म करने के लिए प्रकट करता है। इनमें से प्रत्येक अपने स्वतन्त्र लोक की सृष्टि करने की सामर्थ्य रखता है। प्रत्येक लोक दूसरे लोकों के साथ संपर्क करने, संबंध करने और एक दूसरे पर क्रिया प्रतिक्रिया करने की सामर्थ्य रखता है।

वेद मे देवों की प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूप हैं। यह कहा गया है कि ये समस्त देव एक सत् हैं जिसे ऋषि भिन्न-भिन्न नाम प्रदान करते हैं। परन्तु फिर भी प्रत्येक देव की इस प्रकार उपासना की जाती है, मानो वह स्वयं ही वह सत् हो। मानो वही एक साथ दूसरे समस्त देव हो या उन्हें अपनी सत्ता में धारण करता हो, और फिर भी प्रत्येक एक पृथक् देवता है। कभी वह अपने साथी देवताओं के साथ मिलकर, कभी पृथक् रूप में, कभी उसी सत् के दूसरे देवों के साथ आपाततः विरोध में कार्य करता है। इस प्रकार अधिमन एकतम सत्-चित्-आनंद को अनंत संभावनाओं के प्रसव करने का स्वभाव प्रदान करता है। ये ऐसी संभावनाएं हैं, जो कि असंख्य लोकों के रूप में परिणत हो सकती हैं।

हमारी मानवी मानसिक चेतना जगत् को ऐसे खण्डों में देखती है जिन्हें कि बुद्धि और इन्द्रियाँ काटती हैं और फिर एक साथ जोड़कर ऐसा रूप बनाती है, कि वह भी खंड ही होता है। वह सत्य के किसी एक या दूसरे सामान्यीकृत रूप का स्वीकार करती है, किंतु शेष का बहिष्कार कर देती है। अधिमानस चेतना अपने ज्ञान में वर्तुल होती है। वह एक सर्गातिकारक दृष्टि में आपाततः मूलभूत भेदों की किसी भी संख्या को एक साथ धारण कर सकती है। उदाहरणार्थ मानसिक बुद्धि सगुण और निर्गुण को विरोधी देखती है। लेकिन अधिमानस बुद्धि के लिए ये एकतम सत् की पृथक्-पृथक् होने योग्य शक्तियाँ हैं। अलग-अलग और मिलकर, दोनों प्रकार से ये ऐसी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं की सृष्टि कर सकती हैं जो कि सभी न्यायसंगत और समर्थ हों। अभिव्यक्ति के ये दोनों पक्ष चेतन सत् की अनंत विविधता में एक दूसरे के आमने-सामने होते हैं।

मानम बुद्धि को जो भेद अमगतनीय जान पडते हैं, वे अधिमानस बुद्धि को परस्पर सबध रखने वाले सहवर्मी ज्ञात होते हैं। जो मानम बुद्धि के लिए विरोधी हैं, वे अधिमानस बुद्धि के लिए पूरक हैं। मानस बुद्धि की सामान्य पृथक्कारी दृष्टि के लिए प्रत्येक दृष्टिकोण दूसरो का अपवजन करता है। अधिमानस चेतना यह देखती है कि प्रत्येक दृष्टि जिस किसी तत्व का निर्माण करती है, उसके कर्म के विषय मे सत्य है। वह चेतना यह देख सकती है कि जिस प्रकार भूलोक है, उसी प्रकार प्राणमय लोक, मनोमय लोक और अध्यात्म लोक हैं और प्रत्येक तत्व अपने लोक मे प्रधान हो सकता है। साथ ही सबके सब तत्व एक तत्व के लोक म, उसकी अगभूत शक्तियो के रूप मे एक साथ सयुक्त हो सकते हैं। अत अधिमन एक ऐसा, जादूगर शिल्पी है, जो केवल एक ही तत्व को अनेक रगवाले ताने और बाने का रूप देकर एक चित्र-विचित्र विश्व का निर्माण करने की सामर्थ्य रखता है।

अधिमानस मे प्रत्येक सत्य, अपने आपके एक मात्र सत्य होने का दावा नही करता अथवा दूसरो को निकृष्ट सत्य नही मानता। प्रत्येक देव समस्त देवो को और विश्व सत्ता मे उनके समुचित स्थान को जानता है।

उदाहरण स्वरूप, अधिमन के लिए समस्त धर्म तत्त्वत सनातन धर्म के विकास के रूप मे सत्य होंगे। समस्त दर्शन प्रामाणिक होंगे। कारण, प्रत्येक दर्शन-शास्त्र अपने क्षेत्र मे, अपने दृष्टिकोण से स्वय अपनी विश्व सबधी दृष्टि (ग्लोबल विजन) का प्रतिपादन है। सपूर्ण राजनीतिक सिद्धात और उनके व्यावहारिक रूप, एक सकल्प शक्ति के न्यायसगत कार्यान्वयन हैं। यह सकल्पशक्ति प्रकृति की ऊर्जाओ की क्रीडा मे लगाए जाने का और व्यावहारिक विकास का अधिकार रखती है। हमारी पृथक्कारी चेतना मे ये वस्तुए विरोधी रूप मे रहती हैं, इनमें से प्रत्येक अपने आपको सत्य होने का दावा करती है, और दूसरा को भ्रात और मिथ्या ठहराती है। इसलिए कि केवल वही सत्य रहे और अपना अस्तित्व बनाए रखे, प्रायश दूसरो का खडन या विनाश करने की अत प्रेरणा का अनुभव करती है। यहाँ सत्य अब एक ऐसा कठोर मतव्य है, जोकि प्रायश दूसरे मतव्य को इस कारण मिथ्या ठहराता है, कि वह उससे भिन्न है और दूसरी सीमाओ म बद्ध है।

हमारी मानस चेतना नि सदेह अपने ज्ञान मे पूर्ण व्यापकता और सार्वभौमता के काफी समीप पहुच सकती है, किंतु उसे कर्म और जीवन मे गठित करना उसकी सामर्थ्य से बाहर जान पडता है। इसीलिए जिस लोक मे हम रहते है, वह अज्ञान का और असामजस्य एव प्रयास-सघर्ष का लोक है। *अधिमानस लोक सामजस्य का लोक है।*

और फिर भी अधिमन म आधारभूत माया को हम पहचान सकते हैं। यह माया अविद्या माया (अज्ञानरूपिणी माया) नही है अपितु विद्यामाया

(ज्ञानमयी माया) है। किंतु फिर भी यह ऐसी शक्ति है जिसने अज्ञान को संभव और यहां तक कि अनिवार्य बनाया है। क्योंकि यदि प्रत्येक तत्व जो कि कर्म में उन्मुक्त हुआ है, अपने स्वतंत्र पथ का अनुसरण करता है, और अपने संपूर्ण परिणामों को व्यक्त करता है, तो पृथकता के तत्व को भी अपनी यात्रा को पूरा करने का अवकाश मिलना चाहिए और उसे अपने चरम परिणाम पर पहुंचना चाहिए। यह अवतरण अनिवार्य है। चेतना (चित्, जब एक बार पृथक्कारी तत्व को स्वीकार कर लेती है तो वह तब तक इस अवतरण का अनुसरण करती रहती है, जब तक कि वह अणु-परमाणु के जड़भाव द्वारा, भौतिक निश्चेतना में प्रवेश नहीं कर जाती। ऋग्वेद की भाषा में यही निश्चेतन समुद्र (सलिलमप्रकेतम्) है।

अधिमन अपने अवतरण में एक ऐसी रेखा पर पहुंचता है, जो वैश्व सत्य को वैश्व अज्ञान से विभक्त करती है। इस रेखा पर चित् शक्ति के लिए यह संभव हो जाता है कि वह अधिमन से सृष्ट प्रत्येक स्वतंत्र गति की पृथकता पर बल दे, उनकी एकता को छिपाकर, या अंधकार में ढककर मन को उसके उपादान अधिमन में विभक्त कर दे। एक अन्यापवर्जी सकेंद्रण (Exclusive concentration) द्वारा वह ऐसा करता है। (इस प्रक्रिया के बारे में हम आगे पढ़ेंगे,)

ऐसा एक अलगाव अधिमन का अपने उपादान (स्रोत) अतिमन से पहले ही हो चुका है, परंतु वहां जो पर्दा है, उसमें ऐसी पारदर्शकता है, कि जिससे वह पर्दा एक सचेतन संक्रमण होने देता है। वह इन दोनों में एक विशेष ज्योतिर्मय सादृश्य को बनाए रखता है। परंतु अधिमन और मन के बीच जो पर्दा है, वह अपारदर्शी है और अधिमानस उद्देश्यों का मन में संक्रमण गुह्य और धुंधला है। पृथक् हुआ मन इस प्रकार किया करता है, मानो वह एक स्वतंत्र तत्व हो। इस क्रिया के द्वारा ही हम वैश्व सत्य से वैश्व अज्ञान में आते हैं।

विज्ञान, अतिमन अथवा अतिमानस लोक के वर्णन में वेद के रहस्यपूर्ण मंत्र हमारी सहायता करते हैं। इन वेद वचनों में हमें विज्ञान या ऋत-चेतना का यह भाव मिलता है कि वह एक बृहता है। वह हमारी चेतना के सामान्य आकाशों (उच्चताओं) से परे है। उस बृहता में (सत्पुरुष की) सत्ता का सत्य, उसे अभिव्यक्त करने वाले सबके साथ ज्योतिर्मय, एकत्व बनाए रखता है। वह सत्ता का अनिवार्यतया निश्चय कराता है कि वहां जो दर्शन, रचना, व्यवस्था, शब्द, कर्म और गति होते हैं, वे सब सत्य ही होते हैं। इसलिए गति का परिणाम, कर्म तथा अभिव्यक्ति का परिणाम भी सत्य ही होता है। वहां का नियम या अध्यादेश भी निर्दोष, अचूक होता है।

यह बृहता सर्वव्यापकता है जो सर्व का अपने भीतर समावेश करती है। उस बृहता में (सत्पुरुष की) सत्ता का ज्योतिर्मय सत्य और सामंजस्य रहता है,

अनिश्चित अस्त व्यस्तता या आत्म-विस्मृति से युक्त अधकार नहीं होता। वहाँ नियम का, कर्म का और ज्ञान का सत्य रहता है। वह मन् की सत्ता के उस सामजस्यपूर्ण सत्य को अभिव्यक्त करता है। देवता, अपने उच्चतम गुह्य रूप में इस अतिमन की शक्तियाँ हैं। वे उसमें उत्पन्न होते हैं, उसमें इस प्रकार स्थित हैं जैसे अपने निजी घर (धाम) में हों। ये अपने ज्ञान में ऋत-चित् (सत्य-चेतन) हैं और अपने कर्म में प्रत्यक्षदर्शी इच्छा वाले (कविक्रतु) हैं।

उनकी चेतन शक्ति जब कर्मों और सृष्टि की ओर प्रवृत्त होती है, तो वह (चेतन शक्ति) सृष्टि किये जाने वाले पदार्थ का साक्षात् ज्ञान रखती है। उस (पदार्थ) के सारतत्त्व का सम्पूर्ण ज्ञान से अधिकृत और पथप्रदर्शित होती है। यह ज्ञान एक ऐसी पूर्णतया प्रभावी इच्छा शक्ति का निर्धारित करता है, जो अमोघ होती है। यानी यह अपनी प्रक्रिया में या अपने परिणाम में पथभ्रष्ट होती या डगमगाती नहीं है। जो कुछ द्रष्टा दृष्टि द्वारा देखा गया है, उसे कर्म में अनायास तथा और अनिवार्य रूप से अभिव्यक्त और परिपूर्ण करती है। यहाँ ज्योति शक्ति के साथ एक है, ज्ञान के स्पंदन इच्छा के छंद के साथ एक है और दोनों इस प्रकार पूर्ण तथा एक हैं कि इन्हें किसी की खोज नहीं करनी पड़ती। अधकार में टटोलना या प्रयास नहीं करना होता। इनके परिणाम सुनिश्चित होते हैं।

जिस अतिमन की ये विशेषताएं बतलाई गई हैं, वह भी एक मध्यवर्ती रचना है। उसके ऊपर शुद्ध सच्चिदानन्द की एकत्वमयी या अविभक्त चेतना है, जिसमें पृथक्कारी भेद नहीं है। उसके नीचे का तत्त्व मन की विश्लेषक और विभाजक चेतना है। अतिमन एक ओर पीछे से अपने ऊपरी तत्त्व का और दूसरी ओर सामने अपने से नीचे के तत्त्व का निर्देश करता है। यह एक ऐसी सयोजक चेतना भी है और साधन भी है, जिसके द्वारा निम्न कोटि का तत्त्व, उच्च कोटि के तत्त्व में विकसित होता है। और इसी प्रकार वह ऐसा सयोजक तत्त्व है और साधन है, जिसके द्वारा नीचे की कोटि का तत्त्व अपना विकास करके फिर अपने उपादान की ओर लौट सकता है।

इस चेतना की दो शक्तियाँ हैं। पहली शक्ति है, पदार्थ के भीतर व्याप्त होने और उसे अपने अन्दर करके ज्ञान प्राप्त करने वाली। इसे हम तदात्मिका चेतना (Comprehending Consciousness) कह सकते हैं। इस प्रकार के ज्ञान वाली चेतना उस तादात्म्य रूप आत्म संवित् की सन्तति है जो कि ब्रह्म की स्वरूप स्थिति है। दूसरी शक्ति है, अपने आपको अपने सामने प्रक्षेप करने की, पदार्थ को अपने अन्तर्गत न कर अपने सामने रखने की, उसे ज्ञातृरूप में न जान कर ज्ञेय रूप में ग्रहण करने की। इसे भेदात्मिका चेतना (Apprehending Cons ciousness) कहा गया है। जैसे एक कलाकार तदात्मिका चेतना से शकाकृति की

कल्पना करता है और भेदात्मिका चेतना से उसका प्रत्यक्ष निर्माण करता है। इस शक्ति के कारण वह चेतना भेदात्मक ज्ञान की जननी है। भेदात्मक ज्ञान मन की प्रक्रिया है।

अतिमन ब्रह्म का वह बृहत आत्म विस्तार है, जो सबको धारण करता और परिवर्धित करता है। ब्रह्म सत्ता, चेतना और आनंद रूप त्रयात्मक तत्व है। अतिमन सकल्प (भाव) के द्वारा इस तत्व को इनके अविभक्त एकत्व से परिवर्धित करता है। यह उन्हें भिन्न-भिन्न तो करता है, परंतु विभक्त नही करता। वह त्रित्व की स्थापना करता है। मन जैसे इन तीन को पृथक्-पृथक् मानकर एकत्व पर पहुंचता है, वैसी अतिमन की प्रक्रिया नही है। वह एकत्व से तीन को अभिव्यक्त करता है और फिर भी उन्हें ऐक्य मे बनाए रखता है। क्योकि वह जानता है और धारण करता है।

इस भेदकरण के द्वारा अतिमन उन तीनो मे से किसी एक या दूसरे तत्व को कार्यसाधक देव के रूप मे प्रमुख बनाता है। यह देव दूसरे तत्वों को अतर्लीन या सुव्यक्त रूप मे अपने भीतर धारण करता है। वह इसी प्रक्रिया को दूसरे समस्त भेद करणों का आधार बनाता है। वह उस त्रित्व के परिवर्धन, विकास और सुव्यक्त करने की शक्ति रखता है साथ ही अपने साथ अतर्लयन, आच्छादन और अव्यक्त करने की विपरीत शक्ति भी रखता है। इस अर्थ मे यह कहा जा सकता है कि संपूर्ण सृष्टि दो अतर्लयनो (Involution) के मध्य की क्रिया है। एक ओर आत्मा है, जिसमे सब कुछ अतर्लीन है और जिससे नीचे की ओर दूसरे सिरे जडतत्व तक सब कुछ विकसित होता है। दूसरी ओर जडतत्व है, जिसके भीतर भी सब कुछ अतर्लीन है और जिसमे ऊपर दूसरे सिरे आत्मा तक सबका विकास होता है।

अतिमन या दिव्य मन विश्व की सृष्टि करने वाला सत्य-सकल्प (सत्य भाव) है। उसके द्वारा भेदकरण की यह प्रक्रिया विभिन्न तत्वो, शक्तियो और रूपो को प्रकट करती है। ये सभी अतिमन की अतर्दृष्टी तदात्मिका चेतना के लिए (Comprehending Consciousness) शेष संपूर्ण सत्ता को अपने भीतर धारण करते हैं। उनकी अभिमुख दृष्टी भेदात्मिका चेतना (Apprehending Consciusness) को अपने सामने रखते हुए (या उसके सम्मुख होते हुए) शेष संपूर्ण सत्ता को अव्यक्त रूप मे अपने पीछे रखते हैं। इसलिए सब प्रत्येक मे है और साथ ही प्रत्येक सब मे है। अत पदार्थों का प्रत्येक बीज विभिन्न सम्भावनाओ की संपूर्ण अनतता को अपने अतगत रखता है, परतु चेतन सत्पुरुष की इच्छा अर्थात् ज्ञानशक्ति द्वारा, प्रक्रिया और परिणाम के केवल एक नियम से बधा होता है।

यह चेतन-सत्पुरुष वह है, जो अपने आप को अभिव्यक्त कर रहा है। वह अपने भीतर सकल्प के विषय मे सुनिश्चित है अत उसके द्वारा अपने रूपो और गतियो को पहले से ही निर्धारित कर देता है। सम्पूर्ण प्रकृति उसकी सत्य दृष्टि इच्छा अथवा ज्ञान शक्ति है। वह उस सकल्प के अनिवार्य सत्य को शक्ति और रूप म विकसित करने का काय करती है। मनोमयी चेतना का 'विचार' एक ऐसा पदार्थ है, जो सत्ता से पृथक् है, सत्व विहीन और यथार्थता से भिन्न है। परन्तु अतिमन का 'सकल्प' रूप में आविर्भाव एक यथार्थ वस्तु है। यह यथार्थता सदा स्वय अपनी शक्ति और अपनी चेतना के द्वारा अपने-आप को विकसित करती है। वह सदा सकल्प मे अतर्निहित इच्छा के द्वारा अपने-आपको विकसित करती है। उसके प्रत्येक अतर्वेग मे सकल्प का ज्ञान अतर्निहित होता है। उसके द्वारा सर्वदा वह अपने-आपको उपलब्ध करती है। यही कारण है कि एक नियमित विकासमान व्यवस्थित विश्व उत्पन्न होता है—कोई सनक भरा गडबडझाला नही।

अतिमन एक ऐसी गति है जिस के तीन परिणाम जनक पक्ष हैं। प्रत्येक का अपना स्वतन्त्र परिणाम होता है। सत्ता का परिणाम होता है द्रव्य, चेतना का परिणाम होता है ज्ञान। यह ज्ञान एक आत्म-निर्देशक और आकार प्रद सकल्प होता है। यह तादात्म्य रूप अतदर्शन होने के साथ भेदात्मक अभिमुख (सामने रखा गया) दर्शन भी होता है। इच्छा का परिणाम होता है, आत्म-परिपूरक शक्ति। यह सकल्प उस परमार्थ तत्व का ही एक प्रकाश है, जो अपने आपको प्रकाशित कर रहा है। यह न मानसिक विचार है, न मानसिक कल्पना। अपितु यह परिणाम जनक आत्म-ज्ञान है। यह यथार्थ भाव, सत्य सकल्प है।

अतिमन के सकल्प के अतर्गत जो ज्ञान है, वह इच्छा से अलग नही है, अपितु उसके साथ एक है। एक ज्ञान सत्ता या द्रव्य से भिन्न नही है, जिस प्रकार प्रज्वलित प्रकाश की शक्ति अग्नि के द्रव्य स भिन्न नही है। हमारे मन में सभी भिन्न हैं। मैं हू, यह सकल्प (भाव) एक रहस्यपूर्ण वस्तु निरपेक्ष अवस्था है, जो मुझमें प्रकट होती है। इच्छा इस मन का दूसरा रहस्य है, यह ऐसी वस्तु है जो मेरा अपना स्व नही है, जिस मैं रखता हू, परन्तु मैं वह नही हू। मैं अपनी इच्छा, इसके साधना और परिणामो मे भी खाई बनाता हू, कारण मैं इन्हे अपने स बाहर और भिन्न ठोस वस्तुए मानता हू। इसलिए मैं, मेरा सकल्प और मेरी इच्छा इनमें स कोई भी स्वय परिणाम उत्पन्न करन मे समर्थ नही है। सकल्प मुझसे दूर हो सकता है। हो सकता है इच्छा पूरी न हो। साधनो की कमी हो सकती है। इन सबको या इनमें से किसी एक की कमी के कारण मैं अपूर्ण रह सकता हू।

परन्तु अतिमन मे ऐसा पक्षाघाती विभाग नही है। यहा ज्ञान, शक्ति, सत्ता स्व विभक्त नही हैं। न ये स्वय अपने मे खण्ड-खण्ड हैं और न एक दूसरे से अलग। क्योंकि अतिमन बृहत् है, इसका प्रारभ एकत्व मे होता है, मन की तरह विभाग मे नही। यह मुख्यतया समग्र-ग्राही है, विभेद करना तो इसका केवल गौण कर्म है। अत सत्ता का चाहे कुछ भी सत्य क्यो न व्यक्त हो, सकल्प (भाव) उसके ठीक अनुरूप होता है, इच्छा शक्ति सकल्प के अनुरूप होती है। (शक्ति तो केवल चेतना की ही सामर्थ्य होती है।) और परिणाम इच्छा के अनुरूप होता है। वहाँ एक सकल्प दूसरे सकल्पो मे, एक इच्छा या शक्ति दूसरी इच्छा या शक्ति मे नही टकराते, जिस प्रकार कि वे मनुष्य मे और उसके जगत् मे टकराते हैं। अतिमन किसी को पीछे रोकता है, किसी को आगे बढाता है, परन्तु अपनी पूर्व-निर्णयकारी सकल्प इच्छा के अनुसार ऐसा करता है।

यही यह अयुद्ध भूमि या अयोध्या है। यह सर्व व्यापक, सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान भगवान का ऐसा 'साकेत लोक' है जहाँ सब सत्ता, चेतना इच्छा और आनद मे एकाकार होता है। परन्तु फिर भी उसमे अनत विभेद करने की ऐसी सामर्थ्य है जो एकत्व का विस्तार करती है, विनाश नही करती। वहां सत्य ही द्रव्य है, सत्य ही सकल्प होता है, सत्य ही रूप बनता है। यहाँ ज्ञान और इच्छा का एक ही सत्य है—आत्म परिपूर्णता का। इसलिए आनद का एक ही सत्य है, आत्म परिपूर्णता का कारण समस्त आत्म परिपूर्णता सत्ता की वृत्ति है। अत इस भूमिका पर सर्वदा सभी परिवर्तनो और सयोगो मे स्वय-सत् और अविच्छेद सामजस्य विद्यमान रहता है।

इस 'अष्ट चक्रा' भूमि के तीन चक्र या लोक अतिमन से ऊपर हैं—सत्, चित् और आनद। हम सबको अपने भीतर धारण करने वाले, सबकी उत्पत्ति करने वाले, सब को पूर्ण बनाने वाले अतिमन को परमदेव का स्वभाव मानना चाहिए, परन्तु यह परमदेव की उस अवस्था का स्वभाव नही है जबकि वह अपनी निरपेक्ष आत्म सत्ता मे होता है। अपितु यह उस अवस्था का स्वभाव है जब कि वह अपनी सक्रिय अवस्था मे अपने लोकों का ईश्वर और सृष्टा होता है।

परमदेव की निरपेक्ष आत्म-सत्ता के लोक अपने शुद्ध रूप मे कैसे हैं? जब हम जगत् को तटस्थ और जिज्ञासु नेत्रो से देखते हैं तो हमे अनन्त सत् की असीम ऊर्जा का, अनत गति का, अनत क्रिया का प्रत्यक्ष होता है। यह ऊर्जा अपने-आप को सीमा रहित देश और सनातन काल मे उडेल रही है। यह ऐसा सत् है, जो हमारे या किसी भी अहकार मे या अहकारो के किसी भी समूह मे अनत गुना महान है। इस सत् के मानदण्ड के अनुसार कल्पो मे होने वाली बडी से बडी सृष्टियाँ केवल एक क्षण की धूल जैसी हैं।

यह विश्व-गति स्वयं अपने लिए अपना अस्तित्व रखती है न कि हमारे लिए। इसके स्वयं अपने अतिविशाल लक्ष्य हैं, स्वयं अपने पेचीदे और असीम भाव हैं, स्वयं अपनी बृहत् कामना या आनंद है, जिसे कि वह पूरा करने की चेष्टा कर रही है। उसके स्वयं अतिविशाल मान्य हैं, जिन्हें देखकर ही मनुष्य भयभीत हो जाता है और जो हमारी क्षुद्रता की ओर मानो सदय और व्यंग्यपूर्ण मुस्कान के साथ देखते हैं।

किन्तु यह असीम विश्व गति अपनी दृष्टि में हम मनुष्यों को महत्वहीन नहीं समझती। भौतिक विज्ञान हमारे सामने यह प्रकट कर रहा है कि वह गति जैसे अपने बड़े-बड़े कार्यों में ऐसे अपने छोटे-से छोटे कार्यों में भी कितनी सूक्ष्मता के साथ सावधानी रखती है, कितनी चालाकी के साथ उनको दिखाती है। और कितनी प्रगाढ़ता के साथ उनमें तल्लीन रहती है। यह महती ऊर्जा एक सम और निरपेक्ष माता है। यदि हम परिमाण के ढेर पर दृष्टि न रखें गुण की शक्ति पर डालें तो हम यह कहेंगे कि सौर मण्डल की अपेक्षा उसमें वास करने वाली चींटी कहीं बड़ी है। सम्पूर्ण निर्जीव प्रकृति को एक साथ एकत्रित कर देने पर भी मनुष्य उससे बड़ा है। किन्तु हमारी यह गणना भी एक भ्रम है।

इस गणना को ठीक करते हुए हमें यह जानना होगा कि यह सबमहा, यह अनन्त और सर्वशक्तिमती ऊर्जा क्या है। वेदान्त कहता है कि यह गति भी अपने से भिन्न किसी दूसरे तत्त्व की अधीनस्थ और उसका एक पक्ष है। वह तत्त्व यानी सत् एक महान काल रहित, देश रहित स्थाणु है। वह अक्षर, अव्यय, अभय है। विश्व के समस्त व्यापार को धारण करते हुए भी अचल है। युक्ति यह कहती है कि यदि ऐसा कोई सत है तो वह अवश्य ही ऊर्जा के समान ही अनन्त होना चाहिए। कहीं किसी अंतिम सीमा की संभावना नहीं है। समस्त अंत और आदि यही सूचित करते हैं कि अंत और आदि से परे कुछ है।

जब हम सत् को उसके अपने स्वरूप में देखते हैं तो काल और देश लुप्त हो जाते हैं। वहाँ यदि कोई विस्तार होता भी है तो देश (Space) का नहीं बल्कि मानसिक होता है। यदि स्थायित्व होता है तो वह काल (Time) का नहीं बल्कि मानसिक होता है। यह विस्तार और स्थायित्व केवल ऐसे प्रतीक मात्र हैं जो मन को किसी ऐसे तत्त्व का आभास कराते हैं जिसे बुद्धि ग्राह्य भाषा में अनूदित नहीं किया जा सकता। वह तत्त्व एक ऐसा नित्य है, जो सबको अपने भीतर धारण करता है और फिर भी नित्य नवीन क्षण प्रतीत होता है। वह ऐसी अनन्तता है, जो इतनी विशाल है कि सबको अपने भीतर धारण करती है, और सब में व्याप्त रहती है और फिर भी विस्तार रहित बिन्दु प्रतीत होती है।

यह तत्त्व केवल अनन्त ही नहीं, अपितु अनिर्देश्य भी है। जब मन और वाणी

जब उसका निर्देश करने का यत्न करते है तो अपनी स्वाभाविक सीमाओ का अतिक्रमण कर जाते है और एक अनिर्वाच्य तादात्म्य मे विलीन हो जाते है। इस तरह शुद्ध सत् अपने स्वरूप मे हमारे बौद्धिक विचार के लिए अज्ञेय है, यद्यपि अतिमन की तदात्मिका चेतना के द्वारा फिर उसे प्राप्त कर सकते हैं। वेदात ने इसे एक मूलभूत आकाश तत्व कहा है। जैसा कि हमने देखा, अतिमन द्वारा हम इस मूल तत्व मे यानी सत्य लोक मे प्रवेश कर सकते है, और उसमे पूर्णतया निवास कर सकते हैं, और इस प्रकार अपने बाहरी जीवन मे अपनी अभिवृत्ति मे और जगत् की गति पर होने वाले अपने कर्म मे पूरा परिवर्तन कर सकते है। क्योकि वेदात यह भी कहता है कि "यह स्थाणु, यह आकाश तत्व प्रकृति के प्रपचो मे अत प्रविष्ट है, उनका घटन करता है, उन्हे अपने भीतर धारण करता है, और फिर भी उनमे इतना अधिक भिन्न है कि उसमे प्रविष्ट हो जाने पर जो कुछ वे अब हैं, वह नही रहते।" यह ठीक आधुनिक विज्ञान के 'अपदार्थ' या 'प्रति पदार्थ' (एन्टी मैटर) की अवधारणा से मेल खाता है जिससे या जिसके प्रविष्ट होने पर पदार्थ द्रव्य मे गुणात्मक बदलाव आता है।

अत शुद्ध सत् केवल एक धारणा ही नही, अपितु एक तथ्य है। यही मूलभूत पदार्थ तत्व है। वह एक ओर स्थाणु मे शाश्वत रूप से प्रतिष्ठित रहता है और वहा से अपने चारो ओर गतिशील रहता है। वह मे अनत भाव से, अचिंत्य एव सुरक्षित रूप से चक्कर काटता रहता है। यह स्थाणु तत्व यदि शिव है तो यह चित् या विश्व सत्ता उनका एक ऐसा आनदमय नृत्य है, जो ईश्वर के देह को हमारी दृष्टि के सामने असख्य गुणा बढाता है। इस नृत्य के होते हुए भी वह श्वेत (शुद्ध) सत् जहा था वही और जैसा था वैसा ही, जो कुछ सदा मे है और सदा रहेगा, ठीक वही बना रहता है। यह नृत्य उसमे कोई विकार उत्पन्न नही करता। इस विश्व नृत्य का एक मात्र परम उद्देश्य है नृत्य का आनद।

हमारी समस्त क्रियाए उन तीन शक्तियो की क्रीडा है, जिन्हे प्राचीन दार्शनिको ने ज्ञान शक्ति, कामना शक्ति और कर्म शक्ति कहा है। ये सब यथार्थ मे एकमात्र आद्या चित् शक्ति की तीन धाराए है। हमारा विश्राम भी इस चित् शक्ति की साम्यावस्था है। शक्ति की विश्व का सपूर्ण स्वभाव है। किंतु प्रश्न यह है कि सत् के शात-निश्चल हृदय मे यह गति उत्पन्न ही कैसे हुई? प्राचीन भारतीय मनीषियो के अनुसार शक्ति सत् के भीतर अतर्निहित है। शिव और काली, ब्रह्म और शक्ति एक है, दो पृथक्-पृथक् तत्व नही है। शक्ति का स्वभाव है युगवत् या बारी-बारी से निश्चलता की और गति की दो शक्यताओ को अपने भीतर रखना। दूसरे शब्दो मे शक्ति मे सकेन्द्रण करने और आत्म प्रसारण करने की दोनो शक्यताए है। इसलिए यह प्रश्न ही नही उठ सकता कि यह गति कैसे

प्रारम्भ हुई। इसी तरह यह प्रश्न भी नहीं उठ सकता कि क्यों हुई। जैसे हम उस सनातन स्वयंभूत में यह प्रश्न नहीं कर सकते कि वह क्यों अपना अस्तित्व रखता है, अथवा वह किस प्रकार अस्तित्व में आया, उसी तरह उसकी आत्मशक्ति या चित् में यह प्रश्न कर सकते हैं। चित् शक्ति ने लोकों का निर्माण किया है। उनमें जो सत् अपने आपको व्यक्त करता है वह चेतन पुरुष है और इन लोकों '(?)' ने विस्तार और रूपों की सृष्टि की है, उसका एकमात्र युक्ति संगत उद्देश्य यही है कि वह अपनी संभावनाओं को सम्पूर्णता के साथ अभिव्यक्त करे। चेतन पुरुष यह केवल एकमात्र हेतु के लिए, आनंद के लिए ही करता है।

यह चेतन सत् ऐसा है, जिसकी सत्ता का स्वरूप, जिसकी चेतना का स्वरूप ही आनंद है। जिस प्रकार परम निरपेक्ष सत् में अस्तित्व का अभाव नहीं हो सकता। निश्चेतना की रात्रि नहीं हो सकती। कोई न्यूनता या अर्थात किसी भी कार्य के करने में शक्ति की असमर्थता या विफलता नहीं हो सकती। कारण यदि उसमें इनमें से कोई भी वस्तु हो तो वह निरपेक्ष नहीं हो सकता। इसी प्रकार उसमें कोई दुःख, आनंद का कोई अभाव नहीं हो सकता।

किन्तु चेतन पुरुष की इस सृष्टि में हम इन सभी विपरीत वस्तुओं को देखते हैं, पाते हैं, भोगते हैं। यहाँ मृत्यु यानी अस्तित्व का अभाव है, निश्चेतना है, दुर्बलता और विफलता है। और युद्ध भी है। युद्ध दो विरोधी शक्तियों की अपेक्षा रखता है। एकमेव चेतन सत्ता में जो कि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी—यह विरोधी कैसे और क्यों उत्पन्न हुआ?

अष्टचक्रा भूमि 'अयोध्या' के इस सरसरे तौर पर किये गये सर्वेक्षण के बाद हम यही देखने के लिए फिर 'नीचे की ओर' लौटना होगा।

७. युद्ध

जिस प्रकार ब्रह्म की चेतना की शक्ति अपने-आपको अनंत रूपो मे और अनंत विभिन्नताओ मे व्यक्त करने मे समर्थ है, इसी प्रकार उसका आत्मानंद भी गतिशील होने और विभिन्न रूप धारण करने मे समर्थ है। वह अपनी उस अनंत गतिशीलता और परिवर्तन शीलता मे आमोद-प्रमोद करने की सामर्थ्य रखता है। अनंत जीवो और पदार्थों मे भरपूर इस विभिन्नता का रसास्वाद लेना ही उसकी शक्ति की सृजनकारी (और ध्वंसकारी भी) क्रीडा का उद्देश्य है। जो भी पदार्थ अस्तित्व रखते है, वे सब उस सत् के, उस चेतन शक्ति के, उस आनंद के ही नाम रूप हैं। प्रत्येक अस्तित्व रखने वाले पदार्थ में सत्ता का आनंद रहता है। उस पदार्थ का अस्तित्व और जो कुछ भी वह है, वह सब उस आनंद के ही कारण है।

तो फिर सर्वत्र विद्यमान जो शोक, दुख और पीडा है, उसकी व्याख्या हम कैसे करेंगे ? ये आनंद से कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ? यह जगत् तो हमे आनंदमय के बजाय, दुखमय ही प्रतीत होता है।

किंतु जगत् के विषय मे हमारी जो यह दृष्टि है, यह अतिरंजित है, भ्रात है। यदि हम तटस्थ होकर मूल्यांकन करें, तो हमे यह दिखाई देगा कि जीवन मे सुख का कुल परिमाण दुख के कुल परिमाण से बहुत अधिक है। चाहे इनके बाहरी रूप और व्यक्तिगत घटनाएं कितने भी विपरीत क्यो न प्रतीत होते हैं। अस्तित्व का सुख प्रकृति की सामान्य अवस्था है। दुख एक विपरीत घटना है जो उस सामान्य अवस्था को स्वल्प काल के लिए निलंबित या आच्छादित कर देती है। परन्तु केवल इसी कारण दुख का न्यून परिणाम भी हमे सुख के अधिक परिमाण की अपेक्षा अधिक तीव्रता से प्रभावित करता है। और बहुधा विशालतर दिखाई देता है।

किंतु यह हमारी मूल समस्या का समाधान नही है। अधिक हो या कम, दुख का अस्तित्व मात्र ही संपूर्ण समस्या को खडी कर देता है। जब सब कुछ सच्चिदानंद ही है तो दुख और कष्ट का अस्तित्व ही कैसे हो सकता है।

दुख आखिर क्या है ? विश्व की जटिल क्रीडा के मध्य मे व्यक्ति एक

सीमित निर्मित प्राणी के रूप में खड़ा है। उसकी शक्ति सीमित है। वह ऐसे असंख्य आघातों के प्रति खुला हुआ है, जो उसके उस निर्मित रूप को—जिसे वह अपना स्व कहता है—घायल, विकलांग, खंड-खंड या विघटित कर सकते हैं। शारीरिक तौर पर, किसी संकट जनक या हानिप्रद संयोग से जो तंत्रिकाओं और शरीर का संकुचन होता है, वही दुख है। इस दृष्टिकोण से दुख प्रकृति के द्वारा इस बात का संकेत है कि अमुक पदार्थ या घटना से बचना चाहिए। न बचा जा सके तो उसका प्रतिकार करना चाहिए। जब तक भौतिक जगत् में प्राण का प्रवेश नहीं होता तब तक दुख अस्तित्व में नहीं आता। तब तक संकुचन आदि यांत्रिक विधियाँ ही पर्याप्त होती हैं। दुख की क्रिया तब आरंभ होती है, जब प्राण रंगमंच पर आता है, वह शक्ति में दुर्बल होता है। भौतिक तत्व पर उसका अधिकार अपूर्ण होता है।

जैसे-जैसे प्राण में मन वृद्धि करता जाता है, वैसे-वैसे दुख भी वृद्धि करता जाता है। किंतु जब मन अपने आपको स्वतंत्र करके, वैश्व शक्तियों की क्रीडा के साथ सामंजस्य स्थापित करने में समर्थ हो जाता है, तब दुख की उपयोगिता और क्रीडा कम हो जाती है। भौतिक तत्व के प्रति आधीनता पर जब अंतरात्मा विजय पा लेगी, मनोगत अहंकार की परिसीमा पर आखिरी लड़ाई जब वह जीत जायेगी, तो अंततोगत्वा दुख का विलोप हो जायेगी। यह विजय पूर्वनिर्दिष्ट है। चेतना में विभाजन का आदि कारण हमने देख लिया है। इसी के परिणामस्वरूप व्यक्ति संयोगों को विश्वात्मक रूप में ग्रहण नहीं करता। इसके बजाय वह उन्हें अहंकारिक रूप में और खंड-खंड में ग्रहण करता है। हमारे साथ जब किसी पदार्थ का संयोग होता है, तो हम उसके सारतत्व को नहीं खोजते अपितु जिस रूप में हमारी कामनाओं और हमारे भयों को, हमारी तृष्णाओं और जुगुप्साओं को प्रभावित करता है, केवल उसी पर अपनी दृष्टि सीमित रखते हैं।

किंतु विश्वात्मा के लिए समस्त पदार्थ और उनके संयोग अपने भीतर आनंद के उस सार तत्व को रखते हैं। संस्कृत में इसे 'रस' कहा है। इसके भीतर पदार्थ का सार तत्व और स्वाद दोनों भाव विद्यमान हैं। किंतु अपनी व्यष्टि चेतना में इस सार तत्व को ग्रहण करने में हम नितांत असमर्थ होते हैं। इस कारण उस पदार्थ का रस या आनंद, शोक या दुख, अपूर्ण और क्षणिक सुख या उदासीनता के रूपों को धारण कर लेता है।

कला और काव्य के पदार्थों में जब हम सौंदर्य का ग्रहण करते हैं, तब हम विविधता पूर्ण परन्तु विश्वात्मक आनंद के ग्रहण करने की सामर्थ्य के कुछ अंश को प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ तक कि जो पदार्थ शोक प्रद, भयानक, बीभत्स होते हैं वहाँ भी हम करुण, भयानक और बीभत्स रसों का आयु लेते हैं। 'युद्धस्य कथा

रम्या यानी भीषण युद्ध की कहानी भी हमारे लिए नितांत रमणीय हो जाती है। इसका कारण यह है कि उस समय हम असग, नि स्वार्थ होते हैं। अपने-आपको या अपने बचाव को नहीं सोचते अपितु केवल पदार्थ और उसके सार पर ही ध्यान रखते हैं। यह रसास्वाद शुद्ध आनद का ठीक-ठीक प्रतिरूप या प्रतिबिम्ब तो नही है क्योंकि शुद्ध आनद अतिमानसिक होता है और शोक, भय, बीभत्सता और घृणा को, कठोर सघर्ष को और युद्ध को उनके कारणो के साथ हटा देता है, जबकि सौंदर्यात्मक मानसिक अनुभव उन्हें अगीकार करता है।

यह पूछा जा सकता है कि एकमेवाद्वितीय सत्, इस प्रकार की गति मे क्यो आनद लेता है। क्योंकि वह एक होते हुए अनत भी है और उसकी अनतता मे समस्त सभावनाए निहित है। उसके अक्षर स्वरूप मे जैसे सत्ता का आनद है, उसी तरह क्षर भाव का आनद इस बात मे है कि उसकी सभावनाए विभिन्न रूपो मे अभिव्यक्त हो जायें। और इस विश्व मे जिसके कि हम एक अश हैं, सभावना का कार्यान्वित होना तब प्रारभ होता है जब जैसाकि पिछले अध्याय मे हमने देखा—सच्चिदानद अपने-आपको उसमे तिरोभूत कर लेता है जो कि स्वय उसका विरोधी प्रतीत होता है। उस विरोधी के अपवर्गो और शर्तों के भीतर ही वह अपने आपको प्राप्त करता है।

अनत सत् अपने आपको उसमें विलीन कर देता है, जो असत् प्रतीत होता है और फिर प्रतीयमान् सात आत्मा के रूप मे प्रकट होता है। अनत चेतना अपने-आपको उसमें विलीन कर देती है, जो एक वृहत् विश्चेतना प्रतीत होती है और फिर उसमे प्रकट होती या उभरती है जो आपातत सीमित चेतना प्रतीत होती है। अनत आत्म-धारिणी शक्ति अपने-आपको उसमे विलीन कर देती है, जो परमाणुओ की अस्त-व्यस्त अवस्था प्रतीत होती है और फिर जगत् के अस्थिर सतुलन के रूप मे उन्मज्जित (प्रकट) होती है। अनत आनद अपने-आपको उसमे विलीन कर देता है जो वेदनाशून्य जडतत्व प्रतीत होता है, और फिर उसमें प्रकट होता है जो विविध दु ख, सुख और तटस्थ भाव, प्रेम घृणा और उदासीनता का विसवादी छद है।

युद्ध कब, क्यों और कैसे उत्पन्न होता है? अनत एकत्व अपने-आपको उसमे विलीन कर देता है जो बहुत्व की अस्तव्यस्तता प्रतीत होती है। वहां वह ऐसी शक्तियों और सत्ताओ के विसवाद और टकराव मे प्रकट होता है, जो एक-दूसरे को भक्षण, अधिकृत और लय करने के द्वारा पुन एकत्व को प्राप्त करने की चेष्टा करती हैं।

दुःख और युद्ध कब खत्म होगा? जब इस सृष्टि मे सच्चिदानद अपने यथार्थ स्वरूप मे प्रकट होगा। मनुष्य, व्यक्तिगत जीव विश्व-मानव बनेगा और रहेगा।

उसकी सीमित मानसिक चेतना उस अनिर्वचनीय एकत्व में विस्तृत होगी जिसमें प्रत्येक व्यक्ति समष्टि का परिग्रहण करेगा। जब वह उसका संकीर्ण हृदय अनंत का परिग्रहण करेगा। जब वह अपनी भोगकामनाओं और विमर्शादिनाओं के स्थान पर वैश्व प्रेम को स्थापित करना सीख लेगा।

उसकी सीमित प्राणसत्ता को ऐसा बनना होगा कि वह अपने ऊपर होने वाले विश्व के समस्त आघातों को बलपरीक्षण के तौर पर लेगी। इनका सामना करने के लिए उसके समान बलशाली हो जायेगी और उनमें विश्वात्मक आनंद ग्रहण करने की सामर्थ्य रखेगी। उसकी शारीरिक सत्ता को भी यह जानना होगा कि वह कोई पृथक् सत्ता नहीं है। वह उस अविभक्त शक्ति के जो समस्त पदार्थ हैं—समस्त प्रवाह के साथ एकता रखती है और उस प्रवाह को अपने भीतर धारण किए हुए है। मनुष्य की सगुण प्रकृति को परम् सत्-चित् आनंद के एकत्व साम जस्य और सब में एकत्व को व्यक्ति में अभिव्यक्त करना होगा? ऐसा व्यक्ति ही विज्ञानमय प्राणी या अतिमानव होगा। ऐसे अतिमानवों की समाज व्यवस्था में युद्ध नहीं होगा। उनकी सृष्टि ही 'अयोध्या' होगी। यही है अयोध्या का गुह्यार्थ और आदर्श, जो अभी भी इस पृथ्वी पर प्राप्त किया जाना है।

विज्ञानमय लोक, सत्य-चित् या ऋत-चित् का कुछ आदर्श हमने पिछले अध्याय में लिया है। किंतु इस पर कुछ और प्रकाश डालना जरूरी है ताकि इस आदर्श तक पहुंचने वाला हमारा पथ कुछ और प्रकाशित और प्रशस्त हो सके।

विज्ञान' एक व्यवस्था जनक आत्मज्ञान है। इसके द्वारा एकमेव ब्रह्म अपने अनंत रूपता रखने वाले बहुत्व के सामंजस्यों को अभिव्यक्त करता है। इस व्यवस्था जनक आत्मज्ञान के बिना अभिव्यक्ति केवल एक परिवर्तनशील अव्यवस्था ही होगी। क्योंकि एकतम ब्रह्म अनंत प्रकार से व्यक्त होने की सम्भावना रखता है। यह सम्भावना अपने आपमें केवल अनियंत्रित और असीमित यदृच्छा की क्रीड़ा की ओर ही ले जा सकती है। यदि केवल ऐसी अनंत सम्भावना हो, वह किसी भी पथप्रदर्शक सत्य के नियम से रहित हो, सम्भवतः आत्म-दर्शन के नियम से रहित हो तो क्या होगा? जो पदार्थ विकास के लिए बाहर रखे गए हैं उनके बीच में ही कोई पूर्व निर्धारित सत्य-संकल्प न हो, तो क्या होगा? तो जगत् केवल एक बहुरूपी अनियमाकार, अव्यवस्थित, अनिश्चिततामय जगत् ही होगा। परन्तु जैसा कि हमने देखा है जो ज्ञान सृष्टि करता है वह अपनी सत्ता में सत्य और नियम के इस अवलंबन को रखता है। यह नियम ही प्रत्येक सम्भावना का संचालन करता है व उसके अपने ही रूप और शक्तियाँ हैं। व उससे भिन्न पदार्थ नहीं हैं।

इसके अतिरिक्त वह सृष्टि का ज्ञान प्रत्येक सम्भावना के साथ दूसरी सम्भावना के सम्बन्धों को जानता है। उनके बीच में जो भी सामंजस्य सम्भव है उनके

आंतरिक ज्ञान को भी रखता है। किसी कलाकार या वैज्ञानिक की तरह वह इन सबको व्यापक निर्धारक सामंजस्य में पहले से ही कल्पित करके धारण किये रहता है। यह सष्टा ज्ञान ही जगत् में नियम का मूल कारण और धारक (बनाये रखने वाला है।)

यह नियम स्वच्छंद नहीं है। यह नियम उसके स्वभाव की अभिव्यक्ति है। यह स्वभाव सत्य संकल्प के बाध्यकारी सत्य से निर्धारित होता है। यदि आम के बीच में पेड़ विकसित होना है तो वह आम का ही होना है। सृष्टि का सम्पूर्ण विकास प्रारंभ से उसके स्वज्ञान में पूर्व-निर्धारित रहता है। इसकी प्रतिक्षण जो अपनी क्रिया होती है, वह भी पूर्वनिर्धारित रहती है। प्रतिक्षण वह वही है, जो कि उसे स्वयं अपने मूल अंतर्निहित सत्य के द्वारा होना चाहिए। और वह अपने उस मूल अंतर्निहित सत्य के द्वारा ही उस ओर गति करता है, जो कि उसे दूसरे क्षण में होना चाहिए। अंत में वह वही होगा, जो कि उसके बीच में अंतर्दृष्टि और अभिप्रेत था।

विश्व सत्ता का जिस रूप में हमें दर्शन होता है, उसमें प्रकट होता है कि यह विश्व पदार्थों और घटनाओं की शक्तियों और आकृतियों का एक अनवरत अनुक्रम है। काल का एक अनुक्रम है। देश (Space) का एक संबंध है। इनमें परस्पर संबंधित पदार्थों की एक नियमित पारस्परिक क्रिया है। इसे काल का अनुक्रम कार्य-कारण-भाव का रूप प्रदान करता है।

देश और काल एकतम चेतन पुरुष का वह स्वरूप है, जबकि वह अपने-आप को विस्तार में देखता है। जब वह अपने-आपको आत्म परक (Subjective) विस्तार में देखता है तो वह काल है और जब वस्तु परक (Objective) विस्तार में देखता है तो देश है।

मन के लिए काल एक गतिशील विस्तार है, जिसका माप, भूत वर्तमान और भविष्य के अनुक्रम के द्वारा किया जाता है। इस अनुक्रम में मन अपने-आपको एक विशेष आधार बिन्दु पर खड़ा करता है। जहाँ से वह आगे और पीछे की ओर देखता है। देश एक स्थिर विस्तार है जिसका माप द्रव्य की विभाज्यता से होता है। उस विभाज्य विस्तार में एक विशेष स्थल पर मन अपने-आपको स्थित करता है। और उस स्थल के चारों ओर द्रव्य के विन्यास को देखता है। वह काल को घटना से और देश को भौतिक द्रव्य से मापता है।

अतिमन या विज्ञान की चेतना भूत, वर्तमान और भविष्य को एक दृष्टि में देख सकती है, क्योंकि वह उन्हें अपने भीतर धारण करती है। वह अपने दृष्टि-बिन्दु के लिए काल के किसी विशेष क्षण पर स्थित नहीं होती। वहाँ काल भली-भांति नित्य वर्तमान दिखाई दे सकता है। वह देश के किसी भी विशेष बिन्दु पर

स्थित नहीं होती अपितु सभी बिन्दुओं और प्रदेशों को अपने भीतर धारण करती है। अत देश भी भली भांति आत्मपरक और अविभक्त विस्तार दिखाई दे सकता है।

अतिमन की दृष्टि सर्वग्राही होती है। उसके द्वारा वह काल के अनुक्रमों और देश के विभागों का परिग्रहण और एकीकरण करता है। काल और देश के इस क्षेत्र (विश्व) में भिन्न भिन्न शक्यताएं मूर्तिमान हुई हैं, स्थापित हुई हैं और एक दूसरे के साथ सबंधित हैं। इनमें से प्रत्येक शक्यता अपनी अपनी शक्तियों और संभावनाओं को साथ में रखकर दूसरी शक्यताओं की शक्तियों और संभावनाओं के सम्मुख खड़ी होती है। इसका परिणाम यह होता है कि मन को ऐसा प्रतीत होता है कि काल के अनुक्रम, आघात और संघर्ष के द्वारा पदार्थों का कार्यान्वित होना है, वह स्वत स्फूर्त अनुक्रम नहीं है। परन्तु अतिमन इस यथार्थ को देखता है कि पदार्थ अपने भीतर से स्वत स्फूर्ततया कार्यान्वित होते हैं। बाह्य आघात एवं संघर्ष इस विस्तार के केवल बाहरी पक्ष हैं। क्योंकि एकत्व और समग्र का आतरिक और अंतर्निहित नियम वहीं है, जो कि अवश्य ही एक सामंजस्य है। वही खड़ी और रूपों के बाह्य और प्रक्रिया सम्बन्धी नियमों का सचालन करता है। अतिमानस दृष्टि में सामंजस्य का यह सत्य सदा विद्यमान रहता है। जो वस्तु मन को इस कारण विसंगत प्रतीत होती है, क्योंकि वह प्रत्येक पदार्थ को अपने आप में स्वतंत्र, पृथक् मानता है, वही वस्तु अतिमन के लिए व्यापक सामंजस्य का एक अंग है। यह सामंजस्य सदा विद्यमान और सर्वदा परिवर्धमान है। क्योंकि वह समस्त पदार्थों को एक बहुत्वमय ऐक्य में देखता है। वह काल और देश के संपूर्ण विस्तार को देखता है। पदार्थों को स्थिरता पूर्वक और समग्र रूप में देखना मन के लिए संभव नहीं है, परन्तु ऐसा करना अतिमन का स्वधर्म है।

अतिमन अपने सचेतन दर्शन में उन रूपों को, जिन्हें उसकी चेतन शक्ति सृष्ट करती है, धारण करता है। केवल धारण ही नहीं करता अपितु उनमें व्याप्त भी रहता है। वह एक अंतर्यामी उपस्थिति और स्वयं प्रकाशक ज्योति के रूप में उनमें व्याप्त रहता है। वह विश्व के प्रत्येक रूप और शक्ति में विद्यमान है, यद्यपि छिपा हुआ है।

यही वह है जो रूप, शक्ति और क्रियाओं पर प्रभुत्व रखता है। इस प्रभुत्व के साथ वह उन्हें स्वत स्फूर्ततया निर्धारित करता है। जिन विभिन्नताओं को वह सृष्ट और विकास करता है, उन्हें सीमित भी करता है। वह जिस ऊर्जा का उपयोग करता है उसे संग्रहित, विस्तारित और परिवर्तित करता है। यह सब वह उन सर्वप्रथम नियमों के अनुसार करता है। ये नियम रूप के उत्पत्तिकार में ही निर्धारित किए गए होते हैं। उन्हें उसके आत्म ज्ञान ने शक्ति की सर्वप्रथम प्रवृत्ति के अवसर पर निर्धारित किया है। वैदिक वर्णन के अनुसार—"ऋतस्य

देवा अनुव्रता गु । (ऋ०१/६५/३)" । देवता सर्वप्रथम नियमों के अनुसार कार्य करते हैं। ये नियम आदि और इसलिए उच्चतम है। ये नियम पदार्थों के ऋत (सत्य) के नियम है।

यह अतिमन "उस सर्वभूतस्थ ईश्वर के रूप मे, अपनी माया की शक्ति के द्वारा उन्हें इस प्रकार घुमाता रहता है, मानो वे यन्त्र पर आरूढ हो।" यह प्रत्येक पदार्थ के भीतर, यहा तक कि प्रत्येक कण या तरंग मे, प्रत्येक क्षण या काल क्रम मे स्थित है। वह ऐसा दिव्य द्रष्टा (कवि) है जिसने सनातन से पदार्थों को विभिन्न प्रकार से रचा है, प्रत्येक को उसके स्वधर्म के अनुसार यथातथ रूप मे रचा है और व्यवस्थित किया है। वह उनके भीतर स्थित है, और उनका परिग्रहण करता है।

इसीलिए प्रत्येक पदार्थ, चाहे वह सजीव हो या निर्जीव, उसमे मन हो या न हो, अपनी सत्ता मे एक अंतःस्थ मार्गदर्शन रखता है। अपनी क्रियाओं मे एक अंतःस्थ शक्ति से सचालित होता है। अतः प्रत्येक पदार्थ बुद्धि को न रखते हुए भी, बुद्धि के कार्यों को करता प्रतीत होता है। परन्तु यह वह मनोमयी बुद्धि नही है। वह सत्पुरुष का एक आत्मचेतन सत्य है। उसमें आत्मज्ञान आत्मसत्ता से अलग नही है। वह पदार्थों के विषय मे विचार नही करता, बल्कि उन्हे सीधे कार्यान्वित करता है। यह अपने निर्भ्रान्त आत्मदर्शन द्वारा यह करता है। एक अप्रतिरोध्य (इररेजिस्टिबल) शक्ति के द्वारा यह क्रियान्वय वह करता है। यह शक्ति आत्म-परिपूरक सत् की शक्ति है। बुद्धि विचार करती है क्योंकि वह केवल एक प्रतिबिम्ब ग्राही शक्ति है। वह जानती नही है, अपितु जानने का प्रयास करती है। अतिमन उससे उच्च है। एकमात्र और समग्र है, काल को अपने अधिकार मे रखता है। उसका ईश्वरीय ज्ञान और ईश्वरीय इच्छा एक हैं। एक ही मूलभूत गति या क्रिया है। सुनिश्चित परिणाम लाने वाली है।

उदाहरणार्थ वृक्ष और उसकी प्रक्रिया, जो कुछ वे अब है, वह न होते, यदि पृथक् सत्ता होते। रूपवान पदार्थ जो कुछ वे हैं वे विश्वीय सत्ता की शक्ति के द्वारा हैं। उनका परिवर्धन उस विश्वीय सत्ता की शक्ति के साथ उनके सम्बन्ध का परिणाम होता है। उनका विशिष्ट स्थान, व्यापक परिवर्धन मे उनका जो स्थान है, उस स्थान से निर्धारित होता है।

यह स्रष्टा अतिमन की पहली शक्ति है। यही 'अन्तर्दृष्टि तदात्मिका चेतना' है। उसकी दूसरी शक्ति—जैसाकि पहले हम देख चुके हैं—अभिमुख 'दृष्टि भेदात्मिका चेतना' है। यह अपनी चेतना को प्रक्षेप करने की और ज्ञेय को अपने सम्मुख उपस्थित करने की शक्ति है। ज्ञेय से अपने-आपको पृथक् रखते हुए उसे जानने की शक्ति है। इस चेतना मे स्रष्टा ज्ञान अपने आपको सकेन्द्रित करता है और अपने कार्यों का प्रेक्षण करने के लिए उनसे मानो पृथक् स्थित होता है।

ज्ञाता अपने-आपको विषयी मानता हुआ ज्ञान में सर्वोदित करता है। वह अपनी चेतना की शक्ति को ऐसा मानता है कि मानो वह उसमें अपने (विषयी के) ही रूप में निरन्तर बाहर जाती है, निरन्तर उस रूप में क्रिया करती है, निरन्तर वहाँ से अपने (विषयी के) भीतर लौट आती है। निरन्तर फिर बाहर जाती रहती है। यह आत्म-रूप भेदन का उसका एकाकी क्रम है। इन्हीं में समस्त व्यावहारिक भेदों का उद्भव होता है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के बीच में एक व्यावहारिक भेद की सृष्टि हो जाती है। ईश्वर, उसकी शक्ति, शक्ति के भोक्ता और कार्यों के बीच में व्यावहारिक भेद उत्पन्न हो जाता है।

इसके अनन्तर ज्ञान में सर्वोदित यह चेतन पुरुष, अपने से बाहर गई हुई अपनी शक्ति या प्रकृति का निरीक्षण और संचालन करता है। उसकी अध्यक्षता करता है। वह प्रत्येक रूप में अपनी पुनरावृत्ति करता है। वह अपनी चेतना की शक्ति के साथ बार-बार उसके कार्यों में जाता है। वहाँ वह आत्मविभाजन के इस क्रम का पुनरुत्पादन करता है। यानी प्रत्येक रूप में यह पुरुष अपनी प्रकृति के साथ निवास करता है। यहीं चेतना के उस कृत्रिम और व्यावहारिक केन्द्र यानी जीवात्मा का रूप उदित होता है। इस केन्द्र में वह दूसरे रूपों में अपने आपको देखता है। इस तरह केन्द्रों का बहुवचन हो जाता है। इसका उद्देश्य है, भेद की, अर्थात पारस्परिक सम्बन्ध की, पारस्परिक रसास्वादन की क्रीड़ा का आरम्भ करना। यह ऐसा भेद है, जो कि मूलभूत ऐक्य पर प्रतिष्ठित है। ऐसा ऐक्य है जो कि भेद के व्यावहारिक आधार पर प्राप्त किया जाता है।

यहाँ ऋतचित या अतिमन एक ऐसी अवस्था में आ गया है जो हमारे मन को तैयार करती है। यहाँ वह आत्मा के सार तत्व में सर्वत्र समान है किन्तु आत्मा के रूप में विभिन्न है। इन दो में कोई मूलभूत भेद नहीं है, केवल क्रीड़ा के लिए व्यावहारिक भेद है जो यथार्थ ऐक्य को नष्ट नहीं करता। यहाँ जिस एकतम ब्रह्म ने अपने बहुत्व को अभिव्यक्त किया है, उसकी इनके साथ क्रीड़ा है जो बहु अभी भी एक बने हैं। इसके साथ-साथ वह सब भी रहेगा जो इस क्रीड़ा को बनाये रखने और चलाने के लिए आवश्यक है।

अतिमन की तीसरी शक्ति या अवस्था वह है जिसे हम 'अपावर्ती संकेन्द्रण' (Exclusive Concenration) कह सकते हैं। इस अवस्था में गति का आश्रयभूत संकेन्द्रण उस गति के पीछे नहीं खड़ा होता। एक विशेष उद्देश्य के साथ वह उस गति में निवास नहीं करता। इस प्रकार उसका अनुसरण एवं रसास्वादन नहीं करता होता। इसके बजाय वह उस गति में अपने-आपको प्रक्षिप्त कर देता है और इस प्रकार से उसमें अन्तर्लीन हो जाता है। इस ढंग का पहला परिणाम यह होता है कि जीव का अविद्या के अज्ञान में पतन हो जायगा। यह अज्ञान या इस अज्ञान-वश जीव यह मानता है कि बहु सत्ता का यथार्थ तथ्य है और एकतम बहु का

केवल विश्वीय सवसन है। इसी सिरे पर मन का उद्भव होता है। अन्यापवार्जी सकेन्द्रण की यही प्रक्रिया आगे बढते हुए प्राण और जड द्रव्य तक पहुच जाती है। यहाँ यह ध्यान रखना है कि एकत्व बहुत्व से पूर्ववर्ती तो है। किन्तु यह पूर्ववर्तिता कालगत नहीं है, अपितु चेतना-सम्बन्धी (ज्ञान सम्बन्धी) है।

हमने बौद्धिक रूप मे यह ग्रहण कर लिया है कि ब्रह्म अर्थात् सनातन परमार्थ-तत्व क्या है। हम समझने लगे है कि उससे जगत किस प्रकार उद्भूत हुआ। हम यह भी देखने लगे है कि जो ब्रह्म से उद्भूत हुआ है, उसे किस प्रकार अनिवार्य रूप म ब्रह्म मे लौट जाना होगा। अब हमारी समस्या यह है कि हम केवल अपनी सत्ता की गहराइयो मे, (दूसरो से सम्बन्ध न रखते हुए) ब्रह्म मे नही लौटना चाहते। अकेले निर्जनता मे प्राप्त की हुई आनन्दानुभूति के द्वारा मात्र ब्रह्म मे पहुचना नही चाहते। अपितु हम अपनी प्रकृति मे, अपने जीवन म, दूसरो के साथ अपने सम्बन्धो मे भी ब्रह्म मे पहुचना चाहते है। इसके लिए हममे किस प्रकार का परिवर्तन होना चाहिए और हमे क्या बन जाना चाहिए। क्या हमे देवता बन जाना चाहिए ?

हमने देखा है कि परिसीमित प्रकृति की ओर जब ब्रह्म अवतरण करता है तो एक स्तर विशेष मे देवता उत्पन्न होते है। देवताओ के जीवन मे कभी पतन नही होता। एक तरह से वे स्थिर और प्रारूप जीव (Static Protolypal Beings) है। हम यानी मनुष्य पतन के ऐसे सिरे पर है जहाँ हमने प्रकृति मे ब्रह्म के पूर्ण अवतरण को स्वीकार करके अपने देवत्व को एक बारगी खो दिया है। इसके बदले हमे मिला क्या है ? अपनी साधना और तपस्या द्वारा हम इस ज्ञान और अनुभव को प्राप्त कर सकते है कि हम वास्तव मे व्यक्ति के भीतर विद्यमान वह ब्रह्म है। यह ब्रह्म परिसीमित प्रकृति मे अपने स्वरूपभूत देवत्व की ओर पुन आरोहण कर रहा है। देवताओ की और हमारी गति मे इस भेद के कारण हम अपने भीतर विशेष अनुभव को धारण किए हुए है। हमने नवीन ऐश्वर्यो का सचय किया है। किन्तु देवताओ के जीवन मे यह बात नही है।

अब हमारे सामने अतरात्मा के अपने लोक से सम्बन्धित प्रश्न उपस्थित होता है। यानी जो दिव्य अतरात्मा (जीवात्मा) भौतिक द्रव्य मे ब्रह्म का पतन होने के कारण अभी अज्ञान से अवतीर्ण नही हुआ है, उसकी सत्ता कैसी होगी ? जो अभी भौतिक प्रकृति से आवृत नही हुआ है वह अपने लोक मे क्या करता होगा ?

यह दिव्य अतरात्मा स्वय ब्रह्म के समस्त पदार्थो के मूलभूत सत्य मे, अविच्छेद्य ऐक्य मे, अपनी अनत सत्ता के लोक मे निवास करता है। वह ईश्वर से अभेद के साथ भेद का भी रसास्वादन करता है। उसकी सत्ता सर्वदा स्वत पूर्ण होगी। वह अपने स्वरूप मे शुद्ध और अनत आत्म सत्ता रूप होगा। अपने सभवन (becoming) मे वह अमर जीवन की स्वतत्र लीला होगा। यह जीवन लीला मृत्यु, जन्म

और शारीरिक परिवर्तन (बाल, यौवन, वृद्धता) से आक्रांत नहीं होगी। क्योंकि वह अज्ञान से आवृत्त और हमारी भौतिक सत्ता के अंधकार से ग्रस्त नहीं होगा। अपनी ऊर्जा में शुद्ध होगा। चेतना में असीम होगा। यह चेतना प्रगतिशील आधार में स्थित होगी। फिर भी ज्ञान के और क्षमता के विभिन्न रूपों में स्वतंत्रता पूर्वक क्रीड़ा कर सकेगी। मानसिक भूलों, स्खलनों और त्रुटियों से अप्रभावित होगी। अपनी सनातन स्वानुभूति में एक शुद्ध और अविच्छेद्य आनंद होगा।

इसी अंतरात्मा के लोक से हम च्युत हुए हैं। यह च्युति अंतरात्मा की अज्ञान में महती निमग्नता के लिए आवश्यक शर्त थी। अज्ञान में यह निमग्नता विश्व में अन्तरात्मा का साहसिक कर्म है और इसमें ही हमारी दुःखी, युद्धग्रस्त किन्तु अभी-प्सावान मानवता का जन्म हुआ है।

हमारा यह मानव जीवन सत्ता के दो लोकों, मन और शरीर रूपी दो आकाशों के बीच क्रिया करता है। दूसरी ओर अतिमानस जीवन पर हमने जो विचार किया है, उसमें यह प्रतीत होता है कि वह दैहिक रूपों से रहित है। यह ऐसा लोक है, जिसमें अन्तरात्माओं का भेद तो हो गया है, किन्तु शरीरों का भेद नहीं हुआ है। यह लोक सक्रिय और हर्षयुक्त अनन्तताओं का (अनन्त आत्माओं का) लोक है। वह रूपबद्ध, शरीरस्थ, शरीरधारी आत्माओं का लोक नहीं है। किन्तु हमने देखा है कि यह जो अदिव्य प्रतीत होता है, वह उन दिव्य तत्वों का ही कार्य है। रूपों के इस विश्व की सृष्टि करने के लिए यह कार्य आवश्यक था।

जिन तीन निम्न तत्वों से हमारी मानव सत्ता बनी है, उनमें मन उच्चतम है। यह दिव्य चेतना का क्रिया का अन्तिम सूत्र है। यह प्रपंचात्मक भेदों की रचना करता है। अतिमन से च्युत हुए जीव को ये भौतिक विभाग जान पड़ते हैं। यही उसकी मूलभूत विकृति है। इस मूलभूत विकृति का अनेक हान के कारण वह उन समस्त विकृतियों का जनक है जो परस्पर विपरीत द्वंद्व, और विरोध के रूप में जान पड़ती हैं।

मन कोई स्वतंत्र और मूलभूत तत्व नहीं, केवल अतिमन का अन्तिम कार्य है। इसीलिए जहाँ मन है वहाँ अतिमन अवश्य होना चाहिए। यहाँ तक कि जब मन अपनी अंधकारमयी चेतना में अपने मूल कारण से पृथक् हो जाता है, तब भी मन की क्रियाओं के भीतर अतिमन की यह विशालतर क्रिया सदा विद्यमान रहती है। अतिमन की यह विशालतर क्रिया मन की क्रियाओं को विवश करती है कि वे अपने यथा तथ्य सम्बन्ध को परिरक्षित (बनाए) रखें। वही यथातथ बीज में यथातथ वृक्ष को उत्पन्न करती है। वह भौतिक शक्ति जैसी मूढ़, जड़, अंधकारमयी वस्तु की क्रियाओं को भी विवश करती है कि वे एक नियमित, व्यवस्थित, यथातथ्य सम्बन्ध वाले विश्व का निर्माण करें—न कि अनजनून,

गड़बड़झाले वाले किसी विश्व का, जैसाकि इसके बिना हुआ होता।

मन से प्राण अभिव्यक्त होता है। यह भौतिक शक्ति का ही एक ऊर्जारूप विशिष्टीकरण है। मूलतः यह सनातन सत्पुरुष ने आनन्द की ही शक्ति है। उसने ही अपने आपको देश और काल के अन्तर्गत प्राण के निरन्तर विस्फुटित होते रहने वाले लक्ष लक्ष रूपों में प्रकट किया है। अपने सारतत्व में प्राण एक ही विश्वीय ऊर्जा का एक रूप है। यह उस ऊर्जा की भावात्मक (पॉजिटिव) और निषेधात्मक (निगेटिव) दो रूपों वाली क्रियात्मक गति या धारा है। यह उस शक्ति की ऐसी अखंड क्रिया या क्रीड़ा है जो कि रूपों का निर्माण करती है। उन्हें उद्दीपित कर रहने वाली ऊर्जा प्रदान करती है। उनके द्रव्य का विघटन और पुनर्नवीकरण करती रहती है। इस अविरत प्रक्रिया द्वारा उन्हें अस्तित्व में बनाये रखती है।

इसके यह प्रकट हो जाता है कि मृत्यु और जीवन में जो हम स्वाभाविक विरोध मानते हैं वह हमारे मन का मूल-भ्रम है। यह विरोध बाहरी व्यावहारिक अनुभव में तो सत्य प्रमाणित होता है, किन्तु आन्तरिक तत्त्व की दृष्टि से मिथ्या है। मृत्यु की यथार्थता केवल यही है कि वह जीवन की एक क्रिया-विधि है। रूप विषयक अनुभव का परिवर्तन और वैविध्य जीवन की आवश्यकता है। द्रव्य का विघटन और पुनर्नवीकरण इस आवश्यकता को पूर्ण करने वाली जीवन की सतत प्रक्रिया है। इसमें यह केवल द्रुत विघटन ही मृत्यु है। यहां तक कि शरीर की मृत्यु होने पर भी प्राण का अन्त नहीं होता। उस समय केवल प्राण के एक रूप का उपादान द्रव्य छिन्न-भिन्न हो जाता है, जिससे कि वह प्राण के दूसरे रूपों का उपादान द्रव्य हो सके। इसी प्रकार दैहिक रूप में जो मानसिक या अन्तरात्मा की ऊर्जा है, उसका भी विनाश नहीं होता। वह दूसरे रूपों को ग्रहण करने के लिए एक रूप का परित्याग करती है। सभी अपना नवीनीकरण करते हैं, कुछ भी नष्ट नहीं होता।

यह प्राण नित्य और अविनाशी है। यदि विश्व का सम्पूर्ण आकार नष्ट हो जाये तब भी प्राण विद्यमान रहेगा। और पूर्ववर्ती विश्व के स्थान पर नवीन विश्व की सृष्टि करने में समर्थ होगा। प्राण ही अपने-आपको पृथ्वी के रूप में, पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाली वनस्पति के रूप में अभिव्यक्त करता है। वनस्पति के भीतर की प्राण शक्ति को खा कर अथवा एक दूसरे की प्राण शक्ति को खा कर जीवन धारण करने वाले पशु के रूप में वही प्रकट होता है। वही भौतिक द्रव्य का रूप धारण करता है।

पशु में प्राण वह है, जो गति करता है, श्वास-प्रश्वास की क्रिया करता है। खाता है। सम्प्रतीत करता है। कामना करता है। किन्तु ये केवल प्राण की क्रियाएं हैं, न कि स्वयं प्राण। ये क्रियाएं हमें निरन्तर उद्दीपना देती रहने वाली ऊर्जा को

उत्पन्न या उन्मुक्त करने के साधन हैं। उस ऊर्जा को हम जीवन शक्ति कहते हैं। यह जीवन शक्ति वनस्पति में भी होती है। उद्दीपक पदार्थ के प्रति अनुक्रिया प्राण के अस्तित्व का चिह्न है। यह चिह्न धातु में भी पाया जाता है। प्राण सर्वत्र है। चाहे वह अन्तर्गूढ़ हो या प्रकट, गठित हो या मूलभूत तत्वों की अवस्था में किन्तु है वह विश्वात्मक, सर्वव्यापी, अविनाशी। केवल उसके रूप और गठन भिन्न होते हैं।

परमाणु में भी कोई ऐसा तत्व है, जो कि मनुष्य में इच्छा और कामना का रूप धारण करता है। उसमें आकर्षण और विकर्षण रहते हैं, जो स्थूल रूप में भिन्न होते हुए भी मारतः वही हैं जो हममें राग और द्वेष हैं। परन्तु वे परमाणु में निश्चेतन या अवचेतन हैं। ये परमाणु में इस कारण विद्यमान हैं क्योंकि ये उस शक्ति में विद्यमान हैं, जो परमाणु का निर्माण और गठन करती है। यह मूल रूप में वही चित्-तपस् या चित् शक्ति है। प्राण वैश्व ऊर्जा का एक ऐसा सोपान है कि जिसमें निश्चेतना से चेतना की ओर संक्रमण किया जाता है। यह सब सत्तामय ब्रह्म का ही एक बलशाली स्पंदन है।

प्राण सबसे नीचे के भौतिक तत्व पर इस प्रकार खड़ा है, जैसे कोई स्तम्भ अपने आधार पर खड़ा होता है। अथवा उसमें वह इस प्रकार विकसित होता है, जैसे अनेक शाखाओं वाला वृक्ष उसे अपने भीतर धारण करने वाले बीज में विकसित होता है। मनुष्य के मन, प्राण और शरीर इसी भौतिक तत्व पर आश्रित हैं।

शरीर का या भौतिक तत्व का महत्व स्पष्ट है। मनुष्य ने एक ऐसे शरीर और मस्तिष्क का विकास किया है, या वे उसे दिये गये हैं, जो कि प्रगतिशील मानसिक प्रकाश को ग्रहण करने में समर्थ हैं। उसकी क्रिया के लिए उपयोगी हो सकते हैं। इसलिए वह पशु से ऊपर उठ गया है। इसी प्रकार शरीर का अथवा उसके अंगों की क्रिया शक्ति का ऐसा विकास हो सकता है, जो और भी उच्चतर प्रकाश को ग्रहण कर सके। यदि वह अतिमन की क्रिया के लिए उपयोगी होने में समर्थ हो जाये तो मनुष्य अपने से ऊपर उठ सकता है। तब वह न केवल विचार में और अपनी आन्तरिक सत्ता में बल्कि अपने जीवन में पूर्ण दिव्य मनुष्यत्व या अतिमानवत्व को प्राप्त कर लेगा।

ब्रह्म ने विश्व का रूप धरते समय जो कार्य प्रारम्भ किया था वह यही है। उसके लिए वह अभी भी परिश्रम कर रहा है। जो संग्राम और विसंगति आज पायी जाती है, वह उसकी सत्ता के सनातन और मूलभूत तत्व नहीं है। उनका अस्तित्व तो इस बात की सूचना देता है कि हमें इनके एक सुपूर्ण समाधान और पूर्ण विजय के लिए परिश्रम करना चाहिए।

यह महत्वपूर्ण भौतिक तत्व आखिर है क्या ? ऊर्जा का भौतिक तत्व का रूप

धारण करती है ? केवल शक्ति धाराओं के रूप में क्यों नहीं बनी रहती ? अथवा ब्रह्म भौतिक तत्व के इस रूप को क्यों धारण करता है ? केवल सूक्ष्म आकांक्षाओं और ज्ञान दों के ही रूप में क्यों नहीं बना रहता ? जैसाकि हमने देखा है, भौतिक तत्व की निश्चेतना, जड़ता, नामसिकता उसका आणविक विघटन, इन सबका मूल मन के सर्व विभाजक कर्म में है। उसके आत्म-अतलयन में है। उसी प्रक्रिया में है जिसके द्वारा कि हमारा यह विश्व अस्तित्व में आया। सृष्टि की ओर अवतरण करते हुए अतिमन का अन्तिम कार्य मन है। मन के अवतरण द्वारा अज्ञान की अवस्था उत्पन्न हुई। इस अवस्था में क्रिया करने वाले चेतन पुरुष का जो शक्ति पक्ष है, उसका कार्य प्राण है। इसी प्रकार इस क्रिया के परिणाम स्वरूप, चेतन पुरुष का सत् पक्ष जो अंतिम रूप धारण करता है, वही भौतिक तत्व है। यह चेतन सत् का ही द्रव्यात्मक रूप है। भौतिक द्रव्य एक सृष्टि है, रचना है और उसकी रचना के लिए प्रारंभ बिंदु या आधार न रूप में अनत के अंतिम खण्ड की आवश्यकता थी।

भौतिक द्रव्य मन न रूप प्रदान किया है। प्राण ने इसे संपूर्त किया है। यह आणविक विभाग और संयोग के द्वारा प्रकट हुआ है। इसका यथार्थ स्वरूप जो चेतना है, उसे यह अपने भीतर धारण करता है। यह चेतना स्वयं अपने में छिपी रहती है। यह अपने आत्म-निर्माण के परिणाम में स्वयं अतर्लीन और निमग्न है और इसलिए आत्म-विस्मृत है।

भौतिक द्रव्य का ब्रह्म के साथ पहला मूलभूत विरोध यह है कि ब्रह्म ज्ञान-स्वरूप है। प्रज्ञानघन है। भौतिक द्रव्य अज्ञान की पराकाष्ठा है। यहाँ चेतना ने अपने कर्मों के एक रूप में अपने-आप को खो दिया और भुला दिया है। यह ठीक ऐसा है, जैसे कोई मनुष्य किसी कर्म को करते समय उसमें अत्यंत लीन हो जाता है। न केवल यह भूल जाता है कि "मैं कौन हूं" अपितु यह भी भूल जाता है कि "मैं हूं।" वह क्षण भर के लिए वह स्वयं क्या है, वह क्या सृष्टि करती है, सृष्टि करती ही क्यों है, अथवा जिसे उसने एक बार सृष्ट किया उसका विनाश क्यों करती है। वह इसे नहीं जानती। क्योंकि उसके पास मन नहीं है। वह इसकी परवाह नहीं करती, क्योंकि उसके पास हृदय नहीं है।

भौतिक विश्व का यह एक अत्यंत विलक्षण राक्षसी कर्म है कि इस मन हीन जड़ में एक मन या असंख्य मन उद्भूत होते हैं। यह एक भीषण और निर्दय चमत्कार है कि ये मन व्यक्तिगत रूप में असहाय होकर प्रकाश के लिए दुर्बल प्रयास करते रहते हैं। जब वे आत्मरक्षार्थ विश्व के स्वयम महा-अज्ञान के मध्य में मिलकर एक साथ प्रयास करते हैं, अपनी व्यक्तिगत दुर्बलताओं को एक साथ मिला देते हैं, तभी कुछ कम असहाय होते हैं। इस हृदय-हीन निश्चेतना में हृदय

उत्पन्न हुए हैं। वे इसके कठोर अधिकार क्षेत्र के भीतर ही रहने को विवश हैं। इस लौह-सत्ता की अंध और संवेदनहीन क्रूरता के बोझ के नीचे आकांक्षा करते हैं, यंत्रणा भोगते हैं और अपना रक्त बहाते हैं।

यह क्रूरता अपने नियम को उन पर लादती है। उसके संवेदनाहीन होने के कारण यह क्रूरता, नृशंस, भीषण, भयंकर अनुभूति होती है। किंतु अंतिम विश्लेषण में हम देखते हैं कि यह वही चेतना है, जिसने अपने आपको खो दिया था। और वह अब फिर अपनी ओर को लौट रही है। वह आत्म चेतन, मुक्त, अनंत और अमर होने का, पुनः दिव्य स्वरूप पाने का प्रयास कर रही है। परंतु यह कार्य उसे उस नियम के आधीन करना होता है जोकि इन सबका विरोधी है। उसे भौतिक द्रव्य की अवस्थाओं के आधीन यह करना है। अर्थात् अज्ञान के बंधन के विरोध में करना है। यह जड़ और विभक्त भौतिक द्रव्य पद-पद पर उस पर अज्ञान और परिसीमा को लादता है।

भौतिक द्रव्य का आत्मा के प्रति दूसरा मूलभूत विरोध यह है कि यह यांत्रिक नियम के प्रति बंधन की पराकाष्ठा है। इस बंधन से मुक्त होने के लिए जो कोई भी प्रयत्न करता है, उस सबके विरोध में यह भीषण जड़ता को उपस्थित कर देता है। जब मन अपने ज्ञान का उपयोग भौतिक पदार्थों पर अपने अधिक स्वतंत्र नियम और आत्मनिर्देशक क्रम को लादने के लिए करता है तो एक हद तक भौतिक प्रकृति आत्म समर्पण करती है। किन्तु उससे आगे वह एक हठी जड़ता, बाधा निषेध को उपस्थित करती है। वह मन और प्राण को यह मानने के लिए विवश करती है कि वे आगे नहीं बढ़ सकते। जिस आंशिक विजय को उन्होंने प्राप्त किया है, उसे अंत तक वे नहीं बढ़ा ले जा सकते।

इस जड़ता और बाधा की सफलता का कारण है भौतिक द्रव्य की तीसरी शक्ति या तीसरा मूलभूत विरोध जो ब्रह्म के प्रति वह रखता है। भौतिक तत्व विभाग और संघर्ष के तत्व की पराकाष्ठा है। अपने यथार्थ स्वरूप में यह अविभक्त है किंतु इसके क्रम का सम्पूर्ण आधार विभाग है जिसे छोड़ने के लिए इसे सदा के लिए मना किया गया मालूम होता है। विभक्त एकक निरंतर एक दूसरे के साथ संघर्ष करते हैं। प्रत्येक एकक अपने-आपको बनाए रखने, अपने संघटना को बनाए रखने के लिए प्रयास करता है। जो इसका प्रतिरोध करता है, उसे अपने वश में करने या उसका विनाश करने का प्रयास करता है। यदि कोई दूसरा एकक ऐसा प्रयत्न करता है तो वह उसके प्रति विद्रोह करता है, उससे दूर भागना चाहता है।

जब मनुष्य में प्राण पूर्णतया आत्म-सचेतन हो जाता है, तो यह युद्ध, यह परिहार्य संघर्ष, प्रयास और आकांक्षा अपनी पराकाष्ठा को पहुंच जाते हैं। संसार के दुःख और विसंगतियाँ अत्यधिक तीक्ष्णता के साथ अनुभूत होते हैं। उन्हें सहन

करने में संतुष्ट बने रहना असंभव हो जाता है। मनुष्य पृथ्वी का सबसे पहला ऐसा पुत्र है जो कि अपने भीतर ईश्वर का, अपनी अमरता का अथवा अमरता की आवश्यकता का अस्पष्टतया अनुभव करता है। इस अस्पष्ट ज्ञान को जब तक वह अनंत ज्योति, हर्ष और शक्ति के स्त्रोत के रूप में परिणत नहीं कर लेता तब तक यह अस्पष्ट ज्ञान ही एक क्रीडा बना रहता है। यह उसे फटकारता हुआ आगे चलाता है और हर प्रकार का बलिदान करने को विवश करता है।

मनुष्य से उच्चतर जिस अतिमानसिक प्राणी की अवधारणा हम कर रहे हैं वह मन को उसकी विभक्त सत्ता की ग्रंथि से मुक्त करेगा। मन के व्यक्तिगत रूप का सर्वपरिग्राही अतिमन के केवल एक उपयोगी, अधीनस्थ कर्म के रूप में उपयोग करेगा। वह प्राण को भी उसकी विभक्त सत्ता की ग्रंथि से मुक्त करेगा। उसके व्यक्तिगत रूप का एकतमा चित् शक्ति के केवल एक उपयोगी अधीनस्थ कर्म के रूप में उपयोग करेगा। इसी तरह वह अपने शरीर को भी वर्तमानकालीन मृत्यु, विभाग और परस्पर भक्षण रूप धर्म से मुक्त करेगा। वह विज्ञानमय प्राणी, शरीर का एकतम दिव्य चेतन-सत् के केवल एक उपयोगी अधीनस्थ द्रव्य के रूप में उपयोग करेगा। वह दिव्य मन और प्राण के साथ दिव्य शरीर का भी विकास करेगा।

इस दिशा में अबतक मानवजाति ने क्या प्रयास किये हैं?

प्राचीनतम वेदान्त ने कहा है कि हमारी सत्ता की पाँच भूमिकाएं होती हैं। अन्नमय, (भौतिक), प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आध्यात्मिक या आनंदमय। इनमें प्रत्येक के अनुरूप हमारे द्रव्य की भूमिका होती है, जिन्हें कोष कहा गया है। इसके पीछे आनेवाले मनोविज्ञान ने यह ज्ञान किया कि हमारे द्रव्य के ये पांच कोष हमारे स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों शरीरों के उपादान हैं। हमारा अंतरात्मा (पुरुष) इन तीनों में वस्तुतः और एक साथ निवास करता है। किंतु यहाँ और वर्तमान समय में हम स्थूल रूप में केवल भौतिक शरीर की ही चेतना रखते हैं। परंतु जिस प्रकार हमें स्थूल शरीर की चेतना है, उसी प्रकार दूसरे शरीरों में सचेतन होना भी संभव है।

इस तरह सचेतन होने का अर्थ उनके बीच में पर्दे को हटाना है। हमारे अन्नमय मनोमय और विज्ञानमय व्यक्तित्वों के माध्यम में पर्दे हटते हैं तो क्या होता है? जिन्हें सिद्धि और चमत्कार कहा जाता है ऐसी घटनाएं होती हैं। भारत के प्राचीन हठयोगियों और तांत्रिकों ने इस विषय को बहुत पहले विज्ञान का रूप दे दिया था। यह विषय उच्च मानव प्राण और शरीर से संबंध रखता है। उन्होंने यह ज्ञात किया था कि स्थूल देह के भीतर प्राण के छः चक्र (नाड़ी केन्द्र) हैं। ये चक्र सूक्ष्म देह में प्राण और मन की शक्ति के छः चक्रों के अनुरूप हैं। उन्होंने ऐसे अष्टांग योग मार्ग या सूक्ष्म दैहिक अभ्यासों को भी खोजा था, जिनके

द्वारा ये चक्र, जोकि इस समय बंद हैं, खोले जा सकते हैं। इससे मनुष्य, अपनी सूक्ष्म सत्ता के अनुरूप उच्च आत्मिक जीवन में प्रवेश कर सकता है।

योग विद्या की इस मुख्यधारा को इस शताब्दी में श्री अरविंद जैसे महान योगियों ने आगे बढ़ाया। उन्होंने सहस्त्राब्ध चक्र में ऊपर स्थित अधिमन तथा अतिमन के चक्रों की खोज की। मूलाधार से नीचे, पृथ्वी तक स्थित चक्रों का अनुसंधान किया। यहाँ इस विषय की तकनीकी सूक्ष्मता में जाने का अवकाश नहीं है। हम सिर्फ यह देखेंगे कि उन्होंने मनोमय मनुष्य से उच्चतर विज्ञानमय प्राणी या अतिमनुष्य के विषय में क्या निरूपण किया है, उसकी भावी समाज-व्यवस्था के बारे में क्या अवधारणाएं की हैं। यह इसलिए जरूरी है, कि इसका हमारे प्रतिपाद्य विषय से सीधा संबंध है।

भावी मानव और विश्व-व्यवस्था के विषय में निःसन्देह दूसरे दार्शनिकों और मनीषियों ने अपनी अवधारणाओं का प्रतिपादन किया है। इन युक्तियों के आधार में उनके अपने आध्यात्मिक अनुभव और तीक्ष्ण बुद्धि विद्यमान है। किंतु श्री अरविंद की युक्तियों में ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने विश्व और मानव सत्ता के मूल को पूरी तरह प्रत्यक्ष किया है। उनमें कुछ ऐसी विशिष्ट मौलिकता है, जो अन्यत्र नहीं है। लगता है कि ये युक्तियाँ बुद्धि से किसी परे लोक से, अतिमानस लोक से ही आई हैं। उनमें एक ऐसा सत्य है कि जिसे मानव बुद्धि को अनिवार्यतः अंगीकार कर लेना पड़ता है।

इन युक्तियों के अनुसार हमने देखा कि एकत्व में विभाग का तत्व कैसे कार्यकारी हुआ। इस विभाग के अनिवार्य परिणाम स्वरूप चेतना, ज्ञान, आनंद, सौंदर्य, शक्ति, सामर्थ्य सामंजस्य और शुभ परिसीमित हो जाते हैं। दिव्यत्व, पूर्णता और समग्रता परिसीमित हो जाती है। इनको देखनेवाली हमारी दृष्टि में अंधता आ जाती है। इनको प्राप्त करने के हमारे प्रयास में पंगुता आ जाती है। शक्ति और तीव्रता में ह्रास आ जाता है। उनकी गुणवत्ता निम्न स्तर पर आ जाती है। उच्चस्तर पर जो तीव्रताएं स्वाभाविक और साधारण थीं, वे हम में लुप्त हो जाती हैं, या हल्की पड़ जाती हैं। क्योंकि उन्हें हमारी भौतिक सत्ता की क्षीणताओं से, धूमिलताओं से तालमेल बैठाना पड़ता है। हमारी क्षीण हुई चेतना-शक्ति तथा हमारे द्रव्य की अनुपयुक्त दरिद्रता के द्वारा अंततः दिव्य तत्वों के विरोधी भाव बन जाते हैं—जैसे असामर्थ्य, तामसिकता (जड़ता), मिथ्यात्व, वक्रता, पीड़ा और शोक, अनुचित कर्म, असंगति, अशुभ। ये सभी अदिव्य बन तत्व मानो दिव्य तत्वों के विरुद्ध युद्ध छेड़े रहते हैं।

हम यह उलझन हो जाती है कि जो स्वयं सत्, शुद्ध, सुपूर्ण, आनन्दमय, अनंत है, वह क्या अपनी अभिव्यक्ति में त्रुटि, परिसीमा, अशुद्धि, दुःख, मिथ्यात्व और अशुभ को केवल सहन ही नहीं करता, अपितु उन्हें बनाये रखता और प्रोत्साहन

देता प्रतीत होता है। तब हमारा मायावादी इस 'मिथ्यात्व' से बचकर परमार्थ तत्व के सत्य में पहुँचने का मार्ग ढूँढता है। निरीश्वरवादी बौद्ध इसकी व्याख्या करने की आवश्यकता ही नहीं मानता। इस व्यावहारिक तथ्य को अंगीकार कर लेता है कि पदार्थ त्रुटियुक्त और क्षणिक है, आत्मा या ब्रह्म नाम का कोई पदार्थ नहीं है। सब चेतना का भ्रम है। इससे निस्तार पाने का मार्ग विचारों की बनी स्थायी रचना का परित्याग करना है। यही क्षणिक पदार्थों के प्रवाह में निरंतरता को बनाये रखती है। इसके साथ कर्म की स्थायी ऊर्जा का भी परित्याग कर हम निर्वाण में आत्म विलय को प्राप्त करते हैं। या फिर हमारा जड़वादी किसी अन्य परमार्थ तत्व को नकारता हुआ चेतना को जड़ पदार्थ का ही एक उत्पाद मान लेता है। किंतु हमने पहले ही 'क्यों' की उलझन को दूर कर लिया है और हम निष्कर्ष पर पहुँच चुके हैं कि यह ब्रह्म की अपनी स्वतंत्र इच्छा के द्वारा स्वयं अपने ठीक परिसीमन का पक्ष है। उनका 'अयापयजी सर्केद्रण' मात्र है। यह इसलिए होता है जिससे कि अपनी ऊर्जा ठीक-ठीक उसके अनुरूप हो जो कार्य जो प्रयास उसे करना है, जो सफलता उनके लिए निर्धारित की गई है, अथवा आवश्यक होने के कारण जो विफलता उसके लिए पूर्वनिर्दिष्ट है।

हमने इसी दृष्टिकोण से दुःख के यथार्थ को समझा। हमने देखा कि समस्त अशुभ सनातन शुभ (कल्याण) के जन्म ग्रहण की प्रसववेदना है। प्रश्न यह पूछा जा सकता है कि अभिव्यक्त होते हुए विश्व की किस विशेष भूमिका पर ये विरोधी भाव (मिथ्या, अशुभ आदि) प्रवेश करते हैं?

ये विश्व सृष्टि में तब प्रकट होते हैं, जब पार्थक्य विरोध का रूप धारण कर लेता है। ये पहले वैश्व मन और प्राण में प्रकट होते हैं। अतिभौतिक स्तरों पर इनकी स्थिति भौतिक सृष्टि में इन्हें प्रकट होने में समर्थ बनाती है। यहाँ जो विषमवादी, सदोष या विकृत रूप एवं शक्तियाँ दिखाई देती हैं, उनके पूर्व-भौतिक आकार उन लोकों में विद्यमान हैं। प्राण लोक में ऐसे अतिभौतिक जीव हैं, जो अपनी मूल प्रकृति में अज्ञान के रूप हैं। ये चेतना के अंधकार, शक्ति के दुरुपयोग, आनंद के विकृत रूप हैं। जिन वस्तुओं को हम अशुभ कहते हैं उनके समस्त कारणों और परिणामों के साथ संसक्त हैं। ये शक्तियाँ या जीव, जिन्हें हम दैत्य, असुर या राक्षस कहते हैं, अपनी प्रतिकूल रचनाओं को पृथ्वी के जीवों पर स्थापित करने के लिए सचेष्ट रहते हैं। ये अभिव्यक्ति (जगत्) में अपने प्रभुत्व को बनाये रखने के लिए उत्सुक रहते हैं। इसलिए ये प्रकाश, सत्य और शुभ की वृद्धि का विरोध करते हैं। अंतरात्मा की दिव्य चेतना और सत्ता की ओर प्रगति में बाधा उपस्थित कर उसका प्रतिरोध करते हैं।

जिस प्रकार ज्ञान की शक्तियाँ या प्रकाश की प्रकाशमयी शक्तियाँ हैं, वैसे ही अज्ञान की शक्तियाँ और अंधकार की अंधकारमयी शक्तियाँ हैं। ये अज्ञान

और निश्चेतना के शासन को बनाये रखने के लिए क्रिया करती रहती हैं। जैसे सत्य की शक्तियाँ हैं, वैसे ही मिथ्यात्व के द्वारा जीवित रहनेवाली शक्तियाँ हैं। वे मिथ्यात्व को आश्रय एवं सहायता देती हैं और उसकी विजय के लिए कर्म करती हैं। जिस प्रकार ऐसी शक्तियाँ हैं, जिनका जीवन अशुभ के साथ घनिष्ठता मे बंधा है, इसी प्रकार ऐसी शक्तियाँ हैं जिनका जीवन अशुभ के अस्तित्व, विचार और अंतर्वेग के साथ बंधा हुआ है। वैदिक देवों और उनके विरोधियों, जिन्हें परवर्ती काल में असुर, राक्षस, पिशाच कहा गया है—के युद्ध का यही तात्पर्य रहा है। यही परंपरा पारसी धर्म के अहुरमज्द और अहुरिमन के विरोध में दिखाई देती है। यहूदी, ईसाई तथा मुस्लिम धर्म के ईश्वर एवं उसके दूतों और शैतान एवं उसके दलों के विरोध में दिखाई देती है।

आधुनिक मन इन शक्तियों को नहीं जानता-मानता। उसका यह विश्वास है कि भौतिक जगत् में हमारे आसपास जो जीव-जन्तु हैं, उनसे भिन्न किन्हीं दूसरे पदार्थों को सृष्ट करने की सामर्थ्य प्रकृति में नहीं है। परंतु यदि भौतिक स्वभाव रखनेवाली ऐसी अदृश्य विश्व शक्तियाँ हैं जो निर्जीव पदार्थों के शरीर पर क्रिया करती हैं तो इस बात का कोई युक्ति संगत हेतु नहीं है कि मन और प्राण का स्वभाव रखनेवाली ऐसी अदृश्य शक्तियाँ क्यों न हों, जो मनोमय प्राणी के मन और प्राणशक्ति पर क्रिया करती हों। मन और प्राण निर्व्यक्तिक (Impersonal) शक्तियाँ हैं। किंतु वे भौतिक जगत में और भौतिक रूपों में सचेतन प्राणियों का निर्माण करते हैं। अपने आपको वहाँ सम्पन्न करने के लिए मनुष्यों का उपयोग करते हैं। वे भौतिक तत्त्व पर और भौतिक तत्त्व के द्वारा क्रिया कर सकते हैं। तो यह असंभव नहीं है कि स्वयं अपने लोकों में वे ऐसे सचेतन प्राणियों का निर्माण करें जिनका सूक्ष्मतर द्रव्य हमारे लिए अदृश्य हो। वे उन स्तरों से भौतिक प्रकृति के जीवों पर क्रिया करने में समर्थ होते हैं। ऐसी दशा में शुभ और अशुभ का सर्वप्रथम मूल प्राण में होगा।

इस तरह प्राणलोक और मनोलोक की शक्तियाँ मनुष्य और मानव जाति को एक विशाल संग्राम की सजीव भूमि बना देती हैं, जहाँ एक ओर अज्ञान, अभाव, अन्याय और असामंजस्य का अंधकार है, जिसमें कि वे प्रकट हो रहे हैं। दूसरी ओर ज्ञान, सर्वसम्पन्नता, व्यवस्था और सामंजस्य का प्रकाश है जो ऊपर की दिशा में एक अपूर्व दृष्ट अंत की ओर प्रगति कर रहा है।

ये शक्तियाँ अपनी विशालतर क्रिया में अतिमानवी अर्थात् दिव्य, आसुरिक या पैशाचिक हैं। ये अपनी रचनाओं को मनुष्य के भीतर स्वल्प या अधिक परिमाण में सृष्ट कर सकती हैं। यानी उनकी शक्ति के रूप हमारे विचारों या भावों व कर्मों पर हावी हो जाते हैं। इनके कारण मनुष्य लघु या महान बन जाता है। विशेष कर अशुभ ऐसे रूपों को धारण कर लेता है जो मानव मर्यादा की भावना

को चोट पहुंचाते हैं। ये अतिविशाल, अत्यधिक, अमेय हो जाते हैं। पहले हमने यह देखा है कि ऊपर को आरोह करनेवाले विकास के लोकों के साथ-साथ उनके समानांतर में ऐसे लोकों का भी अस्तित्व है, जिनमें अवतरण करता हुआ अंतर्लयन है। ये लोक अवतरण करती हुई लोक-परंपरा के उपगृह के रूप में और विकासमान पार्थिव रचनाओं के लिए पूर्वनिर्मित अवलंबन के रूप में सृष्ट किये गये हैं। निश्चेतना जब चेतना की ओर लौटती है तभी ये आकार ग्रहण करते देखे जा सकते हैं।

जब प्राण में मन विकसित हो जाता है तो शुभ और अशुभ का द्वंद्व पूरे रूप में प्रकट हो जाता है। पशु जीवन में दुःख का अशुभ, हिंसा, क्रूरता, संघर्ष और धोखा देना रूप अशुभ है, किंतु नैतिक अशुभ की संवेदना नहीं है। पशु जीवन में पाप-पुण्य का द्वंद्व नहीं है। यह नैतिक मूल्य मनुष्य की सृष्टि है। किंतु ये केवल अयथार्थ मानसिक रचनाएं नहीं हैं। ये प्राण लोक में उत्पन्न मौलिक और यथार्थ वस्तुएं हैं। किंतु ये मूल्य मनुष्य में इन वस्तुओं के प्रति जागरण पैदा करते हैं। वह विवेक करता है। अशुभ का त्याग करना एवं शुभ को अपनाना चाहता है। मनुष्य के भीतर जो अंतरात्मा है, वही सर्वदा सत्य, शुभ और सौंदर्य की ओर प्रवृत्त होता है। कारण यही वे पदार्थ हैं, जिनके द्वारा वह आकार में वृद्धि करता करता है। इनके जो दूसरे विरोधी भाव हैं वे अनुभव के आवश्यक अंग तो हैं, किंतु जीव जब आध्यात्मिकता में वृद्धि करता है, तो उसे इन द्वंद्वों को पीछे छोड़कर आगे बढ़ जाना होता है। तब सत्ता का एक ऐसा उच्चतर विधान प्रवेश करता है, जिनके इन मूल्यों के लिए कोई स्थान या इनका कोई उपयोग नहीं रह जाता।

पृथ्वी पर ऐसी मनोमयी चेतना और शक्ति स्थापित हो गया है जो मनोमय प्राणियों की जाति का निर्माण करती है। वह अपने भीतर उस समस्त पार्थिव प्रकृति को ग्रहण कर लेती है जो परिवर्तन के लिए तैयार है। इसी प्रकार अब पृथ्वी पर ऐसी विज्ञानमयी चेतना और शक्ति स्थापित होगी जो विज्ञानमय, आध्यात्मिक प्राणियों की जाति का निर्माण करेगी। वह उस समस्त पार्थिव प्रकृति को अपने भीतर ग्रहण कर लेगी, जो इस नवीन रूपांतर के लिए तैयार है। साथ ही वह ऊपर से, अर्थात् पूर्ण ज्योति, शक्ति और सुंदरता के अपने धाम से उस सब को भी अपने में अधिकाधिक ग्रहण करती जाएगी जो वहां से पार्थिव सत्ता में अवतरण करने के लिए तैयार है।

अतिमानस परिवर्तन में निश्चेतना का शासन लुप्त हो जायेगा। क्योंकि निश्चेतना के भीतर जो महत्तर छिपी चेतना, छिपी हुई ज्योति है, वह प्रस्फुटित होगी और निश्चेतना गुह्य अतिचेतना के समुद्र में परिणत हो जायेगी। परिणाम स्वरूप विज्ञानमयी चेतना और प्रकृति का सर्वप्रथम विरचन होगा।

यह विकास जिन स्तरों में से होता हुआ इस परिणाम पर पहुंचेगा, वे स्तर भी अपनी-अपनी पूर्णावस्था पर पहुंच जायेंगे। जो जीवन और प्राणी मानसिक अज्ञान से ऊपर उठने को तैयार हैं, किंतु अभी तक अतिमानस उच्चता पर चढ़ने के लिए तैयार नहीं हैं, वे सब परब्रह्म की ओर जानेवाले अपने पथ पर अपने सुनिश्चित आधार को पा लेंगे। ऊपर से एक सुनिश्चायक दबाव विकास की निम्नतर भूमिकाओं के जीवन को प्रभावित करेगा।

ज्योति और शक्ति का कुछ अंश नीचे की ओर प्रवेश करेगा, और प्रकृति में छिपे हुए रूप में विद्यमान जो सत्य शक्ति है उसे जगाकर महत्तर क्रिया में प्रवृत्त करेगा। अज-खोज, परस्पर-संघर्ष के स्थान को सत्ता के विकास की एक अधिक व्यवस्थित गति, प्रगतिशील जीवन और चेतना की एक अधिक प्रकाशनकारी व्यवस्था, एक श्रेष्ठतर जीवन व्यवस्था ग्रहण कर लेंगे।

वर्तमान काल में विकास की जो द्वन्द्वात्मक गति पायी जाती है, उसके बजाय विकास क्रम बद्ध रूप में न्यूनतर प्रकाश में महत्तर प्रकाश की ओर प्रगति करने वाला हो जायेगा। अतिमन का अवतरण विकास तत्व को नष्ट नहीं करेगा। क्योंकि अतिमन में अपनी ज्ञान शक्ति को रोके रखने या आरक्षित रखने की सामर्थ्य है जैसे कि उसे पूर्ण या अंशतः सक्रिय अवस्था में लाने की भी सामर्थ्य है। इसमें होगा यह कि विकास की कठिन और कष्टपूर्ण प्रक्रिया समजस, दृढ़-सुस्थिर, सुगम-प्रशांत और एक बहुत बड़ी सीमा तक सुखमयी बन जायगी।

अतिमानस विज्ञानमय प्राणी, अपने सम्पूर्ण जीवन को सामजस्यपूर्ण एकता पर प्रतिष्ठित करेगा। अपने निजी आंतरिक और बाह्य जीवन में उसे इस एकता का अंतरंग संवेद होगा। अपने समुदाय व जीवन में उसे इस सामजस्य पूर्ण एकता की प्रभावशाली अनुभूति होगी। वह बाकी मनोमय जगत के साथ भी सामजस्य पूर्ण एकता स्थापित करेगा। क्योंकि वह अज्ञान के उन विरचनों के भीतर छिपे विकसित होते हुए सत्य को और सामजस्य के तत्व को देख लेगा और उन्हें प्रकाश में ले आयेगा। इन्हें वह अपनी महत्तर जीवन-रचना के साथ सच्ची व्यवस्था में संयुक्त कर देगा।

यह विज्ञानमयी प्राणियों की जाति कोई ऐसी जाति न होगी, जो एक ही नमूने के अनुसार बनी हो या किसी एक ही निश्चित सांचे में ढली हो। कारण अतिमानस का नियम है एकता का विभिन्नता में पूर्ण करना। इसलिए विज्ञानमयी चेतना की अभिव्यक्तियां में अनंत विविधता होगी। व्यक्तित्व के किसी एक ही सांचे में नहीं ढाल जायेंगे। यानी वह कोई मत-मंडली या सम्प्रदाय नहीं होगा। उस जाति में प्रत्येक व्यक्ति दूसरे से भिन्न होगा, सत का एक अद्वितीय विरचन होगा। किन्तु वह आधार में और एकत्व के संवेद में, शेष समस्त व्यक्तियों के साथ एक होगा।

विज्ञानमय प्राणी अपनी चेतना के प्रत्येक केन्द्र में, अपनी प्राण शक्ति के प्रत्येक स्पदन में, अपने शरीर की प्रत्येक कोशिका में परम काल के प्रत्येक क्षण में ओट देश के प्रत्येक कण में परमपुरुष की उपास्थिति का अनुभव करेगा। प्रकृति की समस्त क्रिया में जगन्माता अर्थात परा प्रकृति की क्रिया का अनुभव करेगा। वह अपनी प्राकृतिक सत्ता को उसी की समूति (Becoming) और अभिव्यक्ति देखेगा।

विज्ञानमय व्यक्ति का अपना निजी जीवन और जगत् जीवन उसके लिए एक सुपूर्ण (Perfect) कला-कृति रूप होंगे। वे मानो किसी वैश्व और स्वत स्फूर्त प्रतिभा की सृष्टि हो। ऐसी प्रतिभा की जो बहुविध व्यवस्था को कार्यान्वित करने में अचूक है। वह विश्वात्मक होगा किन्तु विश्व में स्वतत्र भी होगा। क्योकि वह अपने विश्वातीत रूप मे भी निवास करेगा। वह अपना व्यक्तित्व रखेगा किन्तु व्यक्तित्व के पृथक्कारी भाव से परिसीमित न होगा।

अतिमानस प्राणी सुपूर्णत्व प्राप्त (सिद्ध) और सर्वांगपूर्ण व्यक्ति होगा। अपनी वृद्धि और स्व-अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में उसकी तृप्ति पूर्णता को पहुच जायेगी। उसमे सुपूर्णता के लिए सीमित करण की आवश्यकता न रहेगी। वहा विभिन्नता परिसीमन के द्वारा नही बल्कि वर्ण-आभा मे विभिन्नता के द्वारा प्राप्त की जायेगी।

वह अपने लिए वैश्व आनन्द को प्राप्त कर लेगा और दूसरो के लिए ब्रह्म के आनन्द, सत्ता के आनन्द को लाने की एक शक्ति-रूप होगा। समस्त प्राणियो के हित मे रत रहना, दूसरो के हर्ष और शोक को अपने बनाना, मुक्त और सिद्ध आध्यात्मिक मनुष्य का लक्षण बतलाया गया है। इसके विपरीत अतिमानस प्राणी को दूसरो के हित के लिए परोपकार की भावना से आत्म विलोप करने की आवश्यकता नही रहेगी। क्योकि यह कार्य उसकी अपनी आत्म-परिपूर्णता का, अर्थात् एकतम ब्रह्म की सबमे परिपूर्णता का घनिष्ठ अग होगा। उसके अपने हित मे तथा दूसरों के हित मे कोई विरोध या सघर्ष नही होगा। उसके लिए यह भी आवश्यक नही होगा कि वह अपने आपको अन्य जीवो के हर्ष और शोक के आधीन कर के सबके प्रति सहानुभूति की भावना को अपने भीतर स्थान दे। उसकी विश्व-व्यापी सहानुभूति उसकी सत्ता के नैसर्गिक सत्य का अग होगी। वह निम्न कोटि के हर्ष एव दुःख मे व्यैयक्तिक रूप से भाग लेने पर निर्भर न करेगी। यह सहानुभूति जिसका परिग्रहण करेगी, उसका अतिक्रमण कर जायेगी और इस अतिक्रमण मे ही उसकी शक्ति निहित होगी।

विज्ञानमय प्राणी मे कर्म करने की इच्छा होती है, परन्तु साथ ही जिसकी इच्छा करनी है, उसका ज्ञान भी होता है और उस ज्ञान को कार्यान्वित करने की शक्ति भी होती है। वह प्रत्येक कर्म मे आध्यात्मिक स्वतन्त्रता और आत्म-परि-

पूर्णता को प्राप्त करेगा। सब कुछ समग्र के सम्बन्ध में देखा जाएगा, जिससे कि प्रत्येक पत्र ज्योतिर्मय। आनन्दमय और स्वयं ही तृप्तिदायक होगा। प्रत्येक क्रिया में समग्र सत्ता की पूर्ण क्रिया का बोध होगा और समग्र आनन्द की उपस्थिति होगी। उसका ज्ञान कोई विचारणात्मक ज्ञान नहीं होगा अपितु अतिमान का सत्य-संकल्प (Real Idea) होगा। उसका जीवन एक ऐसा परिपूर्ण आंतरिक जीवन होगा कि जिसकी ज्योति और शक्ति बाहरी जीवन में सुपूर्ण मूर्ताकार धारण कर लेगी। वह प्राण और जड़ तत्त्व के जगत् को ग्रहण करेगा, किन्तु वह उसे अपने सत्य और सत्ता के प्रयोजन की ओर प्रवृत्त कर देगा और उनके अनुकूल बना देगा।

विज्ञानमय जीवन ऐसा आन्तरिक जीवन होगा जिसमें आंतरिक और बाह्य, आत्मा और जगत में प्रतिषेध (Antinomy) दूर हो जायेगा। निःसंदेह विज्ञानमय प्राणी की एक अंतरतम सत्ता होगी। इसमें वह एकाकी ईश्वर के साथ वास करेगा, ब्रह्म के साथ एक होगा, अनंत की गहराइयों में डुबकी लगाये होगा। कुछ भी ऐसा नहीं होगा जो इन गहराइयों को विक्षुब्ध कर सके या उनपर आक्रमण कर सके अथवा उच्चताओं से उसे नीचे गिरा सके। जगत का कोई भी पदार्थ, उस प्राणी का कोई भी कर्म और उसके आस-पास के सब पदार्थ मिलकर भी वैसा नहीं कर सकते। यह आध्यात्मिक जीवन का विश्वातीत पक्ष है, और आत्मा की स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक है।

विज्ञानमय प्राणी के भीतर की भागवत शांति विस्तृत होकर समता की विश्वात्मक शांत स्थिरता के रूप में परिणत हो जायेगी। यह शांति केवल निष्क्रिय नहीं होगी अपितु सक्रिय होगी। यह शांत स्थिरता एकत्वमयी, स्वतन्त्रतामयी होगी। वह उस सब पर प्रभुत्व करेगी, जो उसके संपर्क में आयेगा। उस सबको प्रशांत करेगी, जो उसमें प्रवेश करेगा। दूसरे प्राणी उसके लिए दूसरे न होंगे। उसकी अपनी ही विश्वात्मक सत्ता के अंतर्गत उसके अपने आत्मा होंगे। स्वयं अपने में प्रविष्ट हुए बिना अज्ञानमय जगत का परिग्रहण करने की सामर्थ्य अपनी इसी स्थिति के कारण उसमें होगी।

जगत् में केवल उसके बाहरी जीवन में अपितु आंतरिक जीवन से सम्बन्धित होगा। वह सचेतन भाव से पदार्थों और प्राणियों की आंतरिक और साथ ही बाहरी प्रतिक्रियाओं को भी ग्रहण करेगा। वह उनके भीतर उस वस्तु को भी जान लेगा जिसे वे स्वयं नहीं जानते। वह सब पर एक आन्तरिक बोध के साथ क्रिया करेगा।

उसका आंतरिक जीवन भौतिक जगत् से बाहर विस्तृत हो जायेगा। उन दूसरे लोकों की शक्तियों और प्रभावों का ज्ञान उसके आंतरिक अनुभव का एक सामान्य अंग बन जायेगा। वह मनोमय और प्राणमय स्तरों की पूरी शक्तियों को

भी रखेगा और भौतिक सत्ता को सुपूर्ण बनाने के लिए उनकी महत्तर शक्तियों का उपयोग करने की सामर्थ्य को भी धारण करेगा।

विचारशील मन के लिए सत्ता का हर्ष है सृष्टि के रहस्य को खोज निकालना और उसमें प्रवेश करना। विज्ञानमय परिवर्तन इसे यथेष्ट परिमाण में परिपूर्ण कर देगा। किन्तु वह इसे एक नवीन गुणधर्म प्रदान करेगा। वह अज्ञान की खोज पाते हुए क्रिया नहीं करेगा अपितु ज्ञान को प्रकट करते हुए क्रिया करेगा। उसे ऐसा साक्षात् अंतरंग ज्ञान होगा जो प्राण और स्थूल इन्द्रियों का उनके कर्म और आत्मा की सेवा के प्रत्येक पग पर पथ-प्रदर्शन करेगा।

महायोगी श्री अरविन्द ने न केवल इस महती संभावना को जाना-परखा बल्कि उस ओर बढ़ने का रास्ता भी बताया। न केवल रास्ता बताया बल्कि उस रास्ते पर चलने के लिए एक पूरा कारवां तैयार किया। अपना पूरा जीवन इस कार्य में उन्होंने खपा दिया। उन्होंने कोई सम्प्रदाय स्थापित नहीं किया परन्तु अपने आश्रम को इस महान प्रयोग की प्रयोगशाला बनाने का कार्य किया। उनके बाद श्रीमाताजी ने अतिमान रसिक अवतरण की इस साधना को आगे बढ़ाया।

आम धारणा है कि यह कार्य दुनियावी झंझटों से दूर, आश्रम के सामुद्र, शांत, सुरक्षित, नियंत्रित पर्यावरण में 'सुचारु रूप से' चला होगा। किन्तु असलियत ऐसी नहीं है। अज्ञानमय जीवन में सर्वत्र पाप और हिंसा की पोषक उन अंधकारमयी शक्तियों का भयंकर प्रभाव सक्रिय रूप से विद्यमान है। इनका प्रिय कार्य ही है मानव सत्ता में प्रवेश करने वाली समस्त उच्चतर ज्योति को कलुषित या नष्ट करना। जो कुछ भी नवीन है अथवा मानव अज्ञान की स्थापित की हुई व्यवस्था से ऊपर उठना चाहता है, या उसे तोड़कर बाहर निकलना चाहता है, ये सब उसका विरोध करती हैं, वे उसे सहन नहीं कर पातीं। यहां तक कि उस पर अत्याचार करने में मजा लेती हैं। यदि वह विजयी हो जाय तो उसके भीतर निम्न कोटि की शक्तियों को घुसेड़ देती हैं। जगत् के द्वारा उसे स्वीकार करने को उसके विरोध से भी अधिक भयावक बना देती हैं। अतिमन की आमूल नवीन ज्योति या शक्ति पृथ्वी को अपने उत्तराधिकार के रूप में मांग रही है। अतः यह विरोध और भी उग्र हो गया है। एक युद्धमुक्त नवीन विश्व-व्यवस्था के लिए एक प्रतियुद्ध जरूरी अनिवार्य हो गया है। अब हम इस प्रतियुद्ध (Antiwar) का कुछ परिचय प्राप्त करेंगे।

७. प्रतियुद्ध

हिंसक युद्ध का विकल्प मानव जाति प्रारम्भ से ही ढूंढती आ रही है। प्राण के स्तर पर खेल-कूद प्रतियोगिताएं युद्ध का ही विकल्प हैं। मन के स्तर पर चुनावी राजनीति युद्ध का पर्याय है। आध्यात्मिक मन के स्तर पर गांधीजी का अहिंसात्मक सत्याग्रह युद्ध का ही विकल्प है। लेकिन संसार से युद्ध की आवश्यकता को ही खत्म करने में ये प्रयोग अपर्याप्त रहे हैं। हमने देखा कि एक अतिमानसिक समाज रचना, विज्ञानमय प्राणियों की समाज व्यवस्था ही युद्ध को पृथ्वीतल से निर्मूल कर सकती है। किन्तु व्यक्ति, और समाज में इसके लिए रूपांतर के एक सर्वक्षम संग्राम का सफल होना जरूरी है। इसे ही हमने बिंब-प्रतिबिंब, पदार्थ प्रतिपदार्थ की तर्जपर (युद्ध) प्रतियुद्ध कहा है।

रूपांतर का यह संघर्ष अचेतन रूप में वैसे तो चल ही रहा था। किन्तु इसे सचेतन रूप से एक पूरे विज्ञान का दर्जा देकर, व्यवस्थित रूप से चलाने का काम, अपनी तपस्या की गुफा से श्री अरविंद ने चलाया और इसे पूर्णयोग का नाम दिया।

इसी योग का अनुसरण करते हुए और उसके उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही उन्होंने अपना शरीर छोड़ा। यह एक तरह से शिव के गरल पान की तरह था। अतिमानस प्रकाश की स्वर्णिम ज्योति उनके शरीर की कोशिकाओं तक प्रविष्ट हो चुकी थी और उसकी सुनहली आभा से उनका पार्थिव शरीर जाज्वल्यमान था। मृत्यु-उपरान्त सात दिन तक बिना किसी बाह्य उपचार के बिना विकृत हुए वह ज्यों बना रहा। इसी अतिमानस ज्योति को धारण किए हुए, एक रणनीति के तौर पर उन्होंने मृत्यु यानी निश्चेतना के राज्य में छलांग लगा दी।

उनके बाद मानव कोशिकाओं तक पहुंच चुके इस रूपांतरकारी अवतरण को प्रतिष्ठित करने और आगे बढ़ाने का काम श्रीमाताजी ने किया। इस कार्य की प्रगति के अभिलेख, ७ अक्तूबर १९६४ से लेकर उनकी महासमाधि से कुछ माह पूर्व तक यानी १७ मार्च १९७३ तक, उनके अपने ध्वनि मुद्रित शब्दों में मिलते हैं। इस रूपांतर युद्ध अथवा प्रतियुद्ध का सारतत्व स्वरूप, समझने के लिए उनसे

हमें बड़ी सहायता मिलती है।

■ अक्तूबर १९६४ को वे कहती हैं

सभी कठिनाइयां मानो बढ़ गयी हैं। यह देखने के लिए कि हम कसौटी पर खरे उतरते हैं कि नहीं। सबसे बढ़कर हमारे अंदर सहन शक्ति होनी चाहिए। चाहे तुम्हें बहुत सहना पड़े, चाहे तुम शारीरिक दृष्टि से दयनीय दशा में क्यों न हो, चाहे तुम थक जाओ, फिर भी टिके रहो। डटे रहो! बस यही बात है।

लगता है कि सारा संसार एक ऐसी क्रिया में से गुजर रहा है जो समय बहुत विक्षुब्ध करती है। लेकिन निश्चय ही इस बात का सूचक है कि कोई असाधारण शक्ति काम में लगी है इससे सब आदतें और सभी नियम टूट रहे हैं– यह अच्छा है। अभी के लिए यह कुछ 'अजीब' जरूर है, लेकिन है जरूरी।

'जड़-द्रव्य' में सबसे बड़ी कठिनाई यह है, कि भौतिक चेतना (यानी जड़-में स्थित मन) कठिनाइयों, रुकावटों, पीड़ाओं, संघर्षों के दबाव से बनी है। कहा जा सकता है कि इन्हीं चीजों ने उसे रूप दिया है। और उस पर लगभग निराशा की, पराजयवाद की छाप लगा दी है।

यह भौतिक मन हमेशा मार खा कर काम करने का, प्रयास करने का, आगे बढ़ने का अभ्यस्त है। अन्यथा वह तमस, में बना रहता है, और फिर यह जहां तक कल्पना कर सकता है, यह हमेशा कठिनाइयों की ही कल्पना करता है। हमेशा रुकावट या हमेशा विरोध की कल्पना करता है। और इससे गति भयंकर रूप में धीमी पड़ जाती है।

सत्य', सत्य-चेतना' अपने-आपको अविरत निरन्तर रूप में प्रकट क्यों नहीं करती, क्योंकि उसकी शक्ति' में और "भौतिक द्रव्य" की शक्ति लगभग रद्द-सी हो जाती है। लेकिन इसका अर्थ रूपांतर नहीं, कुचल देना होगा। प्राचीन काल में यही किया जाता था। लेकिन इससे काम बनता न था। क्योंकि बाकी की भौतिक चेतना बिना बदले, जैसी की तैसी नीचे बनी रहती थी।

अब उसे बदलने का पूरा-पूरा अवसर दिया जा रहा है। तो इसके लिए उसे खुलकर खेलने देना होगा। उस पर ऐसी शक्ति का हस्तक्षेप न लादना होगा जो उसे कुचल डाले।

"इस चेतना में मूढ़ता की जिद होती है। उदाहरण के लिए पीड़ा के समय, जब तीव्र पीड़ा असह्य-सी होती हुई प्रतीत होती है तो (कोषाणुओं में) 'पुकार' की एक छोटी-सी आंतरिक गति होती है—कोषाणु मानो संकट संदेश भेजते हैं— तब सब कुछ बंद हो जाता है पीड़ा गायब हो जाती है। अक्सर उसका स्थान आनन्दमय कल्याण की भावना लेती जाती है। लेकिन यह मूढ़ भौतिक चेतना

उनके रहते इम्तिहान करती है। देखें यह चीज कितनी देर तक टिकती है।" और स्वभावतः उनकी इन बातों से यह कुछ नष्ट कर देती है—तब कुछ दिन से पूरा करना पड़ता है।

परिवर्तन को स्थायी होने के लिए उसे सचमुच 'कल्याणं' या 'परिणाम' होना चाहिए। इसके लिए व्यक्ति में बहुत बहुत धीरज होना चाहिए। श्री अरविंद ने यह बात अनेक तरीकों से बहुत बार कही है— ... करने और ... मुश्किल होगी। वहीं सभी तुम परिवर्तन कर सकोगे।

[illegible] १५ जनवरी १९६५ को माताजी ने कहा—

बड़ी बात है धैर्य रखना। इसके लिए एक ही उपाय है समता-स्थिरता। आंतरिक शांति-स्थिरता। जैसे-जैसे ज्यादा अधिक भौतिक होते जाते वैसे-वैसे अधिक पूर्ण होना। निचले स्तरों की चंचलता के बीच हमें (भूमिका) शांत रहना चाहिए। और जब तुम्हें भौतिक रूप से बहुत जोर का धक्का लगे तो तुम्हें अपने शरीर में बहुत जोर का धक्का लगे तो तुम्हें अपने शरीर से बहुत अधिक काम नहीं लेना चाहिए, उसे बहुत ज्यादा शांति, बहुत सा आराम देना चाहिए।

प्रकाश से तुम्हें यह ज्ञात था तुम विश्राम करो। इसे (शरीर को) नहीं बल्कि अवकाश बढ़ने दो। लेकिन हमें यह कहने का अधिकार नहीं है। यह हमारे बल के निर्देश है। यहाँ हम (शरीर) से उपयोग करते हैं। यह इसी के लिए है। यह चीज उन सब से हो रही है जो काम कर रहे हैं। इसमें शांति रखो। अगर तुम इन भौतिक होने वाले मन से भी हमेशा निश्चिन्त रहना है या सचमुच सतत की तरह निश्चित होना रहता है अगर तुम उसे ऊपर इस शक्ति को अभिव्यक्त कर सको—जो छोटी भौतिक स्थितियों पर काम करती है—एक ऐसी शक्ति जिससे हर चीज विघटन करती है।

११ फरवरी १९६५ को द्रविड़ आंदोलन के कुछ स्वयंसेवकों ने आश्रम पर आक्रमण किया। कुछ लूटपाट और अग्नि।

२४ मार्च १९६५ को न (एक साधिका) ने एक बुरा स्वप्न देखा—वह एक ऐसे मकान पर आ पहुँची जिस पर निगरानी रखनी चाहिए थी लेकिन किसी ने निगरानी रखी नहीं और अब अंदर घुस गये। न उस घर से दूर रहे। उसने एक बालक देखा, जिसके श्री अरविंद थे, श्री अरविंद के दीप से बाहर रहे थे। उन्हें उन विरोधियों ने पतन कर दिया था जिन्हें मकान में प्रवेश करने दिया गया था। अरविंद का पतन देखकर वह दोनों माताजी को ढूँढने के लिए दौड़ी।

माताजी ने इस स्वप्न को ११ फरवरी की घटना का प्रतीक बतलाया। पैर का मतलब है कोई भौतिक चीज। कुछ लोगों के द्वारा आक्रमण के द्वार या

माताजी द्वारा होने वाला थी अरविंद का (रूपांतर का) भौतिक कार्य। इससे प्रकट होता है कि यह प्रतियुद्ध मात्र मनोवैज्ञानिक स्तर पर, या सूक्ष्म आध्यात्मिक स्तर पर ही नहीं चलता, उसके ठोस भौतिक आयाम भी होते हैं। आक्रमण भौतिक स्तर पर भी होते हैं। दृष्टव्य है कि इसी दौरान पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण किया था। [आश्रम में माताजी ने अखंड भारत का नक्शा ही अनुमोदित किया हुआ था]।

यह स्वप्न जो हो चुका था, उसी का चित्र था जो कहीं अंकित था। माताजी ने बताया कि "जब मैं कोई चीज सुनती हूँ या कोई मुझे कोई घटना सुनाता है तो मैं उसे तुरंत अनुभव करती हूं, उस क्रिया का आरम्भ, वह जिस स्तर पर हो रही है, या उसकी प्रेरणा का मूल स्रोत। वह अपने-आप किसी न किसी केंद्र (चक्र) में स्पंदनों के द्वारा मालूम हो जाता है मैं जानती हूँ कि प्रेरणा कहाँ से आती है, क्रिया कहाँ स्थित है और वस्तु का स्तर क्या है।" स्वप्न का स्पंदन मेरे पास इसी तरह (नीचे की ओर पैरों तले संकेत करते हुए) आया था। यह अचेतना के क्षेत्र का था। "

यह कोई सक्रिय विचार, सक्रिय संकल्प के अनुरूप नहीं होता था। बस माताजी की चेतना स्पंदनों को अंकित करने के लिए बहुत अधिक सूक्ष्म यंत्र बन गई थी। उन्हें इस तरह पता चलता था कि चीजें कहाँ से आती हैं। वस्तुओं की स्थिति को जानने के लिए उन्हें यह उपाय अतिमानसिक चेतना द्वारा दिया गया था। जब ऐसी कोई चीज किसी 'सत्य' के ऊपरी क्षेत्र (चक्र) को छूती तो आनंद के स्पंदन में एक चिनगारी सी प्रतीत होती। विचार एकदम नीरव होता, अमल शून्य। कोई लेख पढ़ा जा रहा होता तो प्रकाश की एक छोटी सी किरण कंठ की ऊंचाई (विशुद्ध चक्र) तक उठती एक सुखद प्रकाश की किरण, 'आनंद' का नहीं परंतु एक सुखद प्रकाश।

यह विचार से बिल्कुल बाहर, एकदम बाहर की चीज थी। प्रतिक्रिया में स्पंदन जहाँ से उठता, उससे तुरन्त उन्हें पता चलता कि वह कौन से स्तर की चीज है। इस तरह एक सूक्ष्मग्राही, व्यवस्थित रूप से अनुभूति का एक अद्भुत नाजुक यंत्र-अतिमानसिक चेतना उनमें बढ रही थी, जिसकी ग्रहणशीलता का क्षेत्र लगभग अनंत था। अब उनका लोगों को जानने का तरीका भी ऐसा हो गया था। जब वे किसी का फोटो देखती तो वह विचार में से होकर बिल्कुल नहीं गुजरता था। कोई निगमन (Deduction) या अंतर्भास (Intuition) नहीं होता था। वह किसी भाग में स्पंदन पैदा करता था। उत्तर देने वाला स्पंदन जिस स्थान को छूता था, वे उसे ठीक अनुभव कर लेती थी। उदाहरणार्थ उन्हें मालूम हुआ कि उस अमुक (फोटोवाले) आदमी को विचारों से काम करने की आदत है और उसमें पढ़ाने वाले का आत्मविश्वास है। उन्होंने जानने के लिए पूछा—

"यह आदमी क्या करता है?" उनसे कहा गया कि वह व्यापारी है। तब उन्होंने कहा "लेकिन यह व्यापारी के लिए नहीं बना। यह व्यापार की बात बिल्कुल नहीं समझता।" तीन मिनट के बाद उनसे कहा गया—"ओ क्षमा कीजिए यह प्रोफेसर है।"

• • •

सर्वेच्छा या भागवत संकल्प के सहज रूप में और पूर्ण स्वीकार कर लेना इस प्रतियुद्ध में विजयी होने की एक कुंजी कही जा सकती है। भगवान का हाथ जिधर को मोड़ता है, हम उधर को बिना चूं-चपड़ किये मुड़ जाते हैं। क्या सर्वसंकल्प चाहता है कि चीजें इस दिशा में चलें या उस दिशा में जाएं, यानी कुछ तत्त्वों के विघटन की ओर जाएं? हमें पहले से यह सोचे-विचारे बिना कि क्या होना चाहिए, प्रतीक्षा करनी चाहिए और देखना चाहिए। सबसे बढ़कर क्या यही इच्छा नहीं होती कि हम आराम से रहें, यह इच्छा कि हम शांति से रहें, यह सब बंद होना चाहिए। हमारे अन्दर बिल्कुल कोई प्रतिक्रिया नहीं होनी चाहिए। ऐसे ही एक प्रसंग में श्री अरविंद ने कहा था, "मैं इस संभावना को मानकर चलता था कि कुछ भी हो सकता है।' साथ ही यह भी समझता था कि इसके एकदम विपरीत भी हो सकता है, और उसके लिए भी मैं अपने-आपको तैयार रखता था—इसलिए मेरा संतुलन बना रहा।"

जिस स्तर पर माताजी कार्य कर रही थीं उसे उन्होंने 'द्रव्य का मन' या 'कोषाणुओं' (Cell) का मन बतलाया है। यह मन का वह तत्त्व है जो स्वयं 'द्रव्य' का, कोषाणुओं का है। इसे एक समय "रूप या आकार की आत्मा" कहा जाता था। भौतिक आकार में एक 'आकार की आत्मा' होती है, जब तक आकार की आत्मा बनी रहती है, शरीर नष्ट नहीं होता। प्राचीन मिस्र में 'ममी' बनाने वाले लोगों का यह ज्ञान था। वे जानते थे कि अगर मृत शरीर को अमुक तरह से तैयार किया जाए तो आकार की आत्मा नहीं जायगी और शरीर नष्ट न होगा।

यह कोषाणुगत मन पशुओं में भी होता है और इसका जरा-सा आरंभ वनस्पतियों में भी है—वे मानसिक क्रिया का उत्तर देते हैं। जब कोषाणुओं पर रूपांतर की निरन्तर क्रिया हो तो यह द्रव्यगत मन संगठित होने लगता है। व्यवस्थित होने लगता है। और जैसे-जैसे यह व्यवस्थित होने लगता है, यह चुप रहना सीखता है। यह बहुत असाधारण बात है। वह अपने आप नीरव रहकर, बिना कोई अड़चन डाले परम शक्ति को काम करने देता है।

हम इस सूक्ष्म चीज को विशाल आकार में देखकर समझने की कोशिश करें। यदि मनुष्य के शरीर की तरह देश या राष्ट्र का भी एक शरीर मान

लिया जाये तो देश मे रहने वाले मनुष्य आदि उनके कोषाणुओ की तरह होंगे। उस देश के आकार की भी आत्मा होगी। यही उनका द्रव्यगत Substancial) मन या कोषाणुगत मन होगा। यह कैसे काम करता है? एक मिसाल लें। भारत मे आम चुनाओ का यह अनुभव रहा है कि जब राजनैतिक पंडितो को बुद्धि उलझन मे होती है, आम मतदाताओ या राष्ट्र की सर्वेच्छा एक ठीक-ठाक, सही और सतुलित निर्णय लेते हैं। ऊपरितल पर शक्तियो का संघर्ष और छीना-झपटी होती है। किंतु मानो एक सूझ-बूझ वाली शक्ति आगा-पीछा सोच-समझकर एक व्यक्ति की तरह निर्णय लेती है। ऐसा इसलिए होता है, कि राष्ट्र का यह द्रव्यगत मन या उसके आकार की आत्मा, चुपचाप रहकर परमशक्ति को काम करने देती है। व्यापक स्तर पर यह उस अतिमानसिक अवतरण का प्रभाव कहा जा सकता है, जिसकी हम आगे भी चर्चा करेंगे। अस्तु! माताजी कहती हैं— "अब कोषाणुओ मे एक प्रकार की अधिकाधिक निश्चिति है कि जो कुछ होता है वह इस रूपांतर की दृष्टि से ही होता है। निदेशक शक्ति का स्थान मन के बजाय अतिमन ले रहा है। यह स्थानान्तरण द्रव्यगत रूप से पीडादायक भी होता है, तब भी कोषाणुओ मे यह निश्चित बनी रहती है।" तब वे प्रतियुद्ध मे डटे रहते है, वे अवसाद के बिना पीडा सहते हैं, उन पर किसी तरह का असर नहीं होता।

स्नायुओ मे पीडा सबसे अधिक तीव्र होती है, क्योंकि वे ही सबसे अधिक संवेदनशील कोषाणु हैं। लेकिन उनमे एक सहज-स्वाभाविक और काफी अधिक ग्रहणशीलता भी होती है। सामजस्यपूर्ण भौतिक स्पदनो—उदाहरणार्थ फूल के स्पदन के प्रति उनमे ग्रहणशीलता होती है। ऐसे भौतिक स्पदन जो अपने अदर सामजस्यपूर्ण शक्ति का वहन करते हैं—उन्हे तुरत ठीक कर देते हैं। मत्र या हस्तस्पर्श द्वारा पीडा का विलोप होना इस ग्रहणशीलता और भौतिक शक्ति का आम उदाहरण है।

° ° °

'अतिमन के अवतरण' के बारे मे सावधानी भी करनी जरूरी है। परम ज्योति को जबरदस्ती उतारना, उसे खीच लेना, एक भूल है। अतिमानस पर धावा बोला जा सकता है। जब समय हो जायगा तो वह अपने-आप प्रकट हो जायगा। लेकिन पहले बहुत कुछ करना होता है, और उसे धीरज के साथ, बिना जल्दबाजी के करना चाहिए।

लेकिन लोग जल्दी मे होते हैं। वे तुरन्त परिणाम चाहते हैं। और जब वे यह मानते हैं कि वे अतिमानस को खीच रहे हैं—वे प्राणलोक की किसी छोटी सी सत्ता को नीचे खीच लाते हैं, जो उनके साथ खिलवाड करती है और अत मे

उनमें कोई भद्दा तमाशा करवानी है। एक छोटा सा व्यक्तित्व, कोई प्राणिक सत्ता, जो एक बड़ी भूमिका अदा करती है और बहुत दिखावा करती है, ज्योति का अभिनय करती है, और बेचारा जीवनेवाला चौंधिया जाता है। वह कहता है—"यह लो, यह रहा अतिमन, दिव्य-मन स्वयं भगवान।" और वह जाल में जा फँसता है।

कई स्वघोषित भगवानों, पैगंबरों बाबाओं की जो दुर्गति अंत में होती हुई दिखाई देती है वह ऐसे ही किसी खिलवाड़ का फल होती है। यदि हम सत्य का दर्शन कर चुके हैं, उसके साथ नाता जोड़ चुके हैं केवल तभी हम इस खिलवाड़ से मुस्कराते हुए बच निकल सकते हैं। रूपांतरकारी हम इस खिलवाड़ में मुस्कराते हुए बच निकल सकते हैं। रूपांतरकारी प्रतियुद्ध में विरोधी शक्तियों की ओर से यह भी एक बड़ा जबरदस्त दाँवपेंच और मकड़जाल होता है। यह एक नीम-हकीम होती है। लेकिन नीम-हकीमी को पहचानने के लिए हमें सत्य का, सच्ची चीज का ज्ञान होना चाहिए। प्राण एक बहुत श्रेष्ठ मंच के जैसा है, जिस पर बहुत आकर्षक चौंधियाने वाले, भ्रामक अभिनय होते रहते हैं। जब तुम 'सच्ची चीज' को जानते हो, तभी तुम बिना तर्क-वितर्क किये, तुरंत सहज रूप में जान जाते हो, और कहते हो, "नहीं मैं नहीं चाहता।"

उदाहरणार्थ मानव जीवन में प्रेम की सच्ची भावना का स्थान प्राणिक आवेग, प्राणिक आकर्षण ले लेता है। सच्ची भावना शांत होती है, जबकि यह दूसरी चीज बुदबुदन भर देती है। यह सारा प्राण एक मुखौटा सा होता है, जो वास्तव में आकर्षक नहीं है।

० ० ०

२४ नवम्बर १९६५ का दर्शन के दिन, माताजी के अनुसार, सवेरे से शाम तक श्री अरविंद वहाँ (सूक्ष्म देह में) मौजूद थे। एक घंटे से ज्यादा के लिए उन्होंने माताजी को उस जीवन में रखा जो मानवजाति और मानवजाति के विभिन्न स्तरों की नयी या अतिमानसिक सृष्टि का जीवित और ठोस दृश्य था।

इसमें यह सारी मानवजाति थी, जिसने मानसिक विकास [illegible] लाभ उठाया है, और अपने जीवन में एक प्रकार का सामंजस्य पैदा किया है। एक प्राणिक, कलात्मक और साहित्यिक सामंजस्य। उसमें रहने वालों का अधिकांश उससे संतुष्ट है। उनका जीवन परिष्कृत रुचियों और आदर्शों का है। उसमें एक विशेष सौन्दर्य है, जिसमें वे आराम से रहते हैं, जीवन में संतुष्ट रहते हैं। वे नयी शक्तियों से, नयी चीजों में भविष्य की ओर आकर्षित हो सकते हैं। उदाहरण के लिए मानसिक रूप में, बौद्धिक रूप में वे श्री अरविंद के शिष्य बन सकते हैं। लेकिन उन्हें भौतिक दृष्टि में बदलने की जरा भी जरूरत नहीं मालूम होती। अगर उन्हें मजबूर किया जाये तो यह असमय और अन्यायपूर्ण होगा। बिल्कुल

व्यर्थ मे उनके जीवन मे अव्यवस्था और गडबडी पैदा करेगा।

इस दर्शन मे कुछ ऐसे भी बहुत बिरले व्यक्ति थे—जो रूपातर की तैयारी के लिए, नयी शक्ति को खीचने के लिए जड द्रव्य को अनुकूल बना लेने के लिए तैयार थे। अभिव्यक्ति के साधन खोजने के लिए आवश्यक प्रयास को तैयार थे। ये सख्या मे बहुत कम हैं। कुछ तो यज्ञ की भावना से भरे हैं। कठोर, कष्टप्रद जीवन के लिए भी तैयार है, यदि वह भावी रूपातर की ओर ले जाय या उसमे सहायता दे। लेकिन उन्हे कभी, किसी प्रकार, दूसरो को प्रभावित करने की कोशिश नही करनी चाहिए। उन्हे अपने प्रयास मे भाग लेने के लिए मजबूर नही करना चाहिए। यह अनुचित और भद्दा होगा। यह सहायता करने की जगह सभय और अन्त मे अव्यवस्था पैदा करेगा।

इस दर्शन ने माताजी मे एक शाति, स्थिरता और निर्णायक विश्वास भर दिया कि रूपातर के लिए प्रयास एक छोटी-सी सख्यात्मक सीमित रहकर ज्यादा मूल्यवान और उपलब्धि के लिए अत्यधिक सशक्त बन जाता है। यह ऐसा है, मानो उन लोगो के लिए चुनाव हो गया हो, जो नयी सृष्टि के पुरोगामी होगे। प्रसार प्रचार आदि की बातें बचकानी हैं। यह मनुष्य की बेचैनी है।

यह सामजस्यपूर्णमानव जाति शायद इस बात की पूर्व सूचना थी कि नयी सृष्टि के प्रभाव तले सारी मानवजाति कैसी हो जायेगी। अतिमानसिक चेतना मानवजाति को कैसा बना देगी। यह अभी दूर है। अभी बीच मे एक लम्बा सक्रमण काल है। इस दर्शन के साथ ही मानवजाति को नयी सृष्टि के लिए "तैयार करने" की बडी आवश्यकता का विचार, यह अधीरता गायब हो गयी।

यह निश्चय हुआ कि पहले कुछ लोगो मे यह चीज सिद्ध होनी चाहिए। जनसाधारण के बीच अधिकाधिक एक श्रेष्ठतर मानवजाति का विकास होना चाहिए, जिसकी भविष्य की या निर्मित होती हुई अतिमानस सत्ता के प्रति वही वृत्ति हो जैसी, उदाहरण के लिए, पशुओ की मनुष्य के प्रति है। यह एक मध्यस्थ मानवजाति होगी जिसने अपने अन्दर या जीवन मे, जीवन के साथ सामजस्य पा लिया है। ये लोग उन लोगो से अतिरिक्त होंगे, जो लोग रूपातर के लिए काम कर रहे हैं, और उसके लिए तैयार है।

यह मानव सामजस्य जिसे किसी-किसी "ऐसी वस्तु" के लिए, जो इतनी ऊँची है कि वह उसे पाने की कोशिश भी नही करता, उसके लिए पूजा, भक्ति निष्ठा-भरे निवेदन का भाव है। वह उसके प्रभाव और रक्षण की जरूरत महसूस करता है, उसके प्रभाव के अधीन रहने की जरूरत और उसके रक्षण मे रहने का आनद, किन्तु उससे वचित रह जाने की यातना नही। उदाहरण के लिए, मानव जाति मे सेक्स का 'स्वाभाविक, सहज और 'उचित' आवेग है। अतिमानसिक

रूपांतर के बाद यह आवेग अपने-आप स्वाभाविक और सहज रूप में पाशविकता के साथ गायब हो जायेगा। (और भी बहुत सी चीजें गायब हो जायेंगी, (जैसे, खाने की जरूरत, मौन की जरूरत) सेक्स की क्रिया प्रसन्नता या सुख का स्रोत बनकर चलती चली आ रही है। सेक्स की क्रिया तब बिल्कुल न रहेगी जब प्रकृति के कार्यों में इस तरीके से सृजन करने की जरूरत न रहेगी। जीवन के रूप के साथ सम्बन्ध बनाने की क्षमता एक कदम ऊपर उठ जायेगी या कोई अन्य दिशा ले लेगी। लेकिन सिद्धांत के रूप में सेक्स का निषेध एक वाहियात-सी बात है। यह उन्हीं लोगों के लिए हो सकता है, जो उस स्तर के परे जा चुके हैं और जिनमें पाशविकता नहीं बची। इन बिना प्रयास और बिना संघर्ष के स्वाभाविक रूप झड़ जाना चाहिए। उसे संघर्षण और द्वंद्व या केन्द्र बनाना हास्यास्पद है। जब चेतना मानती नहीं रहती तो यह अपने-आप झड़ जाती है। यह भी एक ऐसा संक्रमण है जो कुछ कष्टकर हो सकता है। क्योंकि संक्रमण सत्ताएँ हमेशा अस्थिर संतुलन में रहती हैं, लेकिन उनके भीतर एक प्रकार की ज्वाला होती है, एक आवश्यकता होती है, जो इस कष्टकर नहीं बनाती। इसे आदमी मुस्कान के साथ कर सकता है। लेकिन जो लोग इस संक्रमण के लिए तैयार नहीं हैं, उनपर इस लादने की कोशिश करना वाहियात है।

यही कारण था कि जब माता जी ने उषा नगरी आरोविल की परिकल्पना की तो आश्रम की पूर्ण ब्रह्मचर्य पर अधिष्ठित जीवन व्यवस्था के विपरीत, वहाँ के निवासियों को शारीरिक साहचर्य संबंध रखने की छूट दी तथा परिवार नियोजन केंद्र की व्यवस्था भी की। 'साधक जीवन' का भूलकर माताजी के शब्दों में ही 'कुत्ते-बिल्लियों जैसा' जीवन बिताने लगे, फलस्वरूप उस आदर्श भविष्य-नगरी में पतन और विघटन का दौर चला। खासकर माताजी की महासमाधि के बाद आरोविल एक तरह से श्रीहीन-प्रभावहीन-सा हो गया है। किंतु हम आशा करते हैं कि चूंकि अब उसकी बागडोर डॉ० कर्णसिंह जैसे व्यक्तित्व के हाथों में आ गई है—वहाँ उत्थान का दौर फिर आयेगा।)

बात उन मनुष्यों की चल रही थी, जो मनुष्य न होने का ढोंग नहीं करते। जब सहज रूप से काम-आवेग हमारे लिए असंभव हो जाए, जब हम यह अनुभव करें कि यह एक कष्टकर चीज है, हमारी गहरी आवश्यकताओं के विपरीत है, तब यह आसान हो जाता है। और तब हम बाहर से इन बंधनों को काट सकते हैं और यह खत्म हो जाता है।

भोजन के बारे में भी यही बात होगी। जब पाशविकता झड़ जायगी तो भोजन की नितांत आवश्यकता भी झड़ जायगी। लेकिन अभी इसके लिए मानव शरीर तैयार नहीं है। वह क्षीण होने लगता है। सूक्ष्म रीति से अपना पोषण नहीं कर सकता, तो अपने-आपको खाने लगता है।

इस अद्‌भुत अतर्दृष्टि के साथ वह करुणा आयी, जो समझ सकती है—वह दया नही थी जो श्रेष्ठ को अपने से हीन के लिए होती है, वह सच्ची दिव्य करुणा थी जिसको इस बात की पूर्ण समझ है कि हर चीज वही है, जो होनी चाहिए।

इस अनुभूति से जीवन की सभी जटिलताओं के लिए, एक विनोद भरी मुस्कान रहती है। हर चीज एक चुनाव है। भगवान् का चुनाव, लेकिन 'हमारे अदर के' भगवान का। 'ऊपर के' भगवान का नही। सब कठोरता और कडापन गायब हो जाते हैं।

इससे सबकुछ बदल जाता है। अगर व्यक्ति इस अवस्था का स्वामी बन जाए तो वह अपने चारो ओर की सभी परिस्थितियों को बदल सकता है। चेतना के रूपातर का यह काम इतना तेज है, इतना तेज होना चाहिए कि बैठकर किसी अनुभूति का मजा लेने का, किसी अनुभूति का विस्तारपूर्वक निरूपण करने का समय न रहे। जब एक बिंदु किसी हद तक रूपातर के पार पहुच जाता है तो व्यक्ति अगले बिंदु पर चला जाता है, फिर अगले पर, फिर अगले पर। और लगता है कि होता कुछ भी नही। कोई भी काम निश्चित् रूप से नही होता जब तक सब कुछ तैयार न हो जाये। और तब फिर उसी काम को जरा ऊँचे स्तर पर, या विशाल क्षेत्र मे, अधिक विस्तार मे या अधिक तीव्रता के साथ करना होता है। यह सब तब तक चलता रहता है, जब तक 'समग्र' एक रूप मे समानातर नही हो जाता।

० ० ०

१८ मई १९६६ को माताजी ने अदृश्य सत्ताओ के बारे मे बताया कि ऐसे जगत हैं, सत्ताए हैं, शक्तियाँ हैं, उनका अपना अस्तित्व है। किंतु यह अस्तित्व ९०% आत्मनिष्ठ (Subjective) होता है। मतलब यह कि मनुष्य की चेतना के साथ उनका सबध, वे जो रूप लें, इस मानव चेतना पर निर्भर है।

उदाहरण के लिए प्राण लोक मे एक रास्ता है जहाँ सत्ताए खडी की गई हैं ताकि वे हमे अदर घुसने मे रोकें। गुह्य विद्या की पुस्तको मे इनके बारे मे बहुत कुछ कहा गया है। किंतु यह विरोध या दुर्भावना नब्बे प्रतिशत मनोवैज्ञानिक है। यानी अगर तुम पहले से इसके बारे मे न सोचो, या उससे न डरो, तुम्हारे अदर आशका और भय की गतियाँ न हो तो इनमें कोई ठोस वास्तविकता नही होती। यह चित्र पर छाया की तरह या किसी बिम्ब के प्रक्षेपण के जैसा होता है।

देवो के साथ भी यही बात है। अधिमानस की ये सब सत्ताए, ये सभी देवता, उनके साथ सबध, इन सबधो के रूप मानव चेतना पर निर्भर होते हैं। वे तुम्हारे जीवन पर शासन कर सकते हैं और तुम्हे बहुत कष्ट दे सकते हैं। तुम्हारी बहुत सहायता भी कर सकते हैं। लेकिन तुम्हारे सबध मे, मानव सत्ता के सबध मे

उनकी शक्ति वही है जो तुम उन्हें देते हो। मानव प्रकृति के सार तत्व में सभी वस्तुओं पर प्रभुता होनी है। यह तब सहज-स्वाभाविक होती है जब कुछ विचार और तथाकथित ज्ञान उसे झुठला न दे। हम कह सकते हैं कि मनुष्य अपनी प्रकृति की, सत्ता की सभी अवस्थाओं का सर्वशक्तिमान स्वामी है, लेकिन वह यह होना भूल गया है। इस विस्मृति की अवस्था में हर चीज ठोस बन जाती है।

स्वभावतः विकास-चक्र के लिए यह जरूरी था कि मनुष्य अपनी सर्वशक्तिमत्ता को भूल जाय। मनुष्य अपनी सम्भाव्यता में देवता है। उसने अपने-आपको वास्तविक देव मान लिया। उसे यह सीखने की जरूरत थी कि वह धरती पर रेंगते हुए एक बेचारे कीड़े से बढ़कर कुछ नहीं है। इसलिये जीवन उसे घिसता गया, घिसता गया। लेकिन जैसे ही वह ठीक वृत्ति अपनाता है, वह जान लेता है कि यह सम्भाव्यता में देवता है। केवल उसे देवता बनना है, यानी, जो कुछ दैव नहीं है उस पर विजय पानी है।

देवों के साथ यह सबंध बड़ा ही मजेदार है। जबतक मनुष्य इन दैवी सत्ताओं के आगे, उनकी शक्ति, सौंदर्य, प्रवीणता, उपलब्धि आदि के लिए, अहभाव के साथ चौंधियाया हुआ खड़ा रहता है, तबतक वह उनका दास रहता है। लेकिन जब वह इन्हें परमपुरुष की भिन्न प्रकार की सत्ताएं – इससे बढ़कर कुछ नहीं मान लेता है और अपने-आपको भी परमपुरुष की एक और प्रकार की सत्ता मानता है, और यह जान लेता है कि मुझे भी वही बनना है, तो सबंध बदल जाते हैं। उसके बाद वह देवों का दास नहीं रहता। वह उनका दास नहीं है।

केवल परमपुरुष ही वस्तुनिष्ठ है। अगर वास्तविकता का अर्थ लिया जाये 'वास्तविक स्वतन्त्र अस्तित्व'—स्वतंत्र, सत्य, स्वयंभू, तो परमपुरुष के सिवाय कुछ नहीं है। सब कुछ अपने साथ ही मिलनवाले परमपुरुष है। यह अनुभूति एक प्रकार की संपूर्ण सुरक्षा बन जाती है। शायद शुरू में अच्छी तरह मेलन के लिए यह जरूरी है कि मेल के साथ, मेल के रूप में, स्वयंभू और स्वतन्त्र वस्तु के रूप में पूर्ण तादात्म्य आवश्यक है।

० ० ०

२८ सितंबर, १९६६ को माताजी ने कहा कि शक्ति की क्रिया ही बाह्य रूप में तथाकथित "दुःख-कष्ट" के रूप में अनूदित होती है, क्योंकि यही एकमात्र स्पंदन है, जो जड़ द्रव्य को उसके तमस् में से बाहर खींच सकता है। उसके लिए सीधा तमस् में से शांति में आना संभव न था इसलिए किसी ऐसी चीज की जरूरत थी, जो तमस् को झकझोर दे, और इसी चीज ने बाहरी तौर पर कष्ट और पीड़ा का रूप लिया। हर अशुभ हमेशा अपना उपचार अपने साथ लिए रहता है। हम कह सकते हैं कि किसी भी पीड़ा का उपचार पीड़ा के साथ-ही-साथ

रहता है। उस प्रगति और विकास को देखो जिसने इस पीड़ा को जरूरी बना दिया। वांछित परिणाम पर पहुचो, और साथ ही पीड़ा गायब हो जायेगी।

इस शरीर के जीवन—वह जीवन जो इसे हिलाता डुलाता और बदलता है के स्थान पर एक शक्ति आ सकती है, यानी एक प्रकार की अमरता पैदा की जा सकती है और जीर्णता भी गायब हो सकती है। इससे व्यक्ति इस योग्य बनता है कि हर क्षण जो कुछ करना चाहिए, उन्हें करने की शक्ति मिलती रहे। इस पदार्थ का कुछ ऐसा रूप बन सकता है, जो अपने-आपको अदर से बाहर की ओर सतत नूतन करता रहे, और यही अमरता होगी। लेकिन हम जैसे हैं और जीवन के इस दूसरे रूप के बीच बहुत-सी अवस्थाए होगी।

मध्यवर्ती अवस्थाओ मे ऐसी सत्ताए होगी, जो उन्हे समझ सकेंगे उनकी सहायता करेंगी, उनके साथ उनका सबध भक्ति, आसक्ति और सेवा का होगा, जैसा पशुओ का मनुष्यो के साथ है। अतिमानस पहले-पहल अपने शक्ति-रूप मे प्रकट होगा। क्योकि सत्ताओ की सुरक्षा की दृष्टि से यह अनिवार्य होगा।

सबमे पहले जीवन को अपने सकल्प के अनुसार लबा करने की शक्ति आयेगी। किंतु सपूर्ण सिद्धि तभी होगी जब व्यक्ति सहज रूप मे दिव्य हो सके। सहज रूप से दिव्य होने का अर्थ है, यह देखने के लिए मुड़ना तक नही कि हम दिव्य हो गये हैं, या नही, उस अवस्था को पार कर लेना, जिसमे व्यक्ति दिव्य बनना चाहता है।

० ० ०

शरीर मे बुरी आदतो का हजार वर्ष पुराना भार है जिसे निराशावाद कहा जा सकता है। यह इतना अदर धसा हुआ है कि एकदम सहज बन गया है। अनिवार्य पतन या क्षति की भावना ही बहुत बडी रुकावट है। इस विनाशकारी आदत का प्रतिकार करना बहुत अधिक कठिन है। और यह अनिवार्य है कि यह गायब हो जाय, ताकि दूसरी चीज अपने-आपको उसके स्थान पर प्रतिष्ठित कर ले। तो यह हर क्षण, हर मिनट, सदा चलती रहनेवाली, सदा चलती रहनेवाली लड़ाई है।

कोषाणुओं मे अभीप्सा जगाना, द्रव्यमन मे चेतना जगाना यह प्रतियुद्ध है, जो इस लडाई को निरस्त और निर्मूल कर सकता है। यदि एक बार, एक शरीर मे यह हो जाय तो यह सभी शरीरो मे हो सकता है। माताजी की साधना इसी सिद्धात पर चल रही थी। यह चेतना अधिकाधिक जग रही थी। कोषाणु ज्यादा सचेतन रूप मे जीने लगे थे। यह एक ऐसी चेतना है जो स्वतत्र है, जो मानसिक या प्राणिक चेतना पर जरा भी निर्भर नहीं है।

चूंकि यह एक शरीर मे हुआ है, इसलिये यह सभी शरीरो मे हो सकता है। क्योकि माताजी दूसरो से भिन्न प्रकार से नही बनी थी। उनका शरीर उन्ही चीजो

से बना था। ये वही चीजें खाती थी। उनका शरीर भी उतना ही मूढ़, उतना ही अंधकारमय, उतना ही निश्चेतन था, जितना संसार का कोई और शरीर। और यह आरंभ तब हुआ जब वे नब्बे वर्ष की थी। और डाक्टरों ने कह दिया था कि वे बहुत अधिक बीमार हैं। तब उनका सारा शरीर अपनी पुरानी आदतों और शक्तियों से खाली कर दिया गया। तब धीरे-धीरे कोषाणु एक नई ग्रहणशीलता के प्रति जागे और उन्होंने अपने-आपको प्रत्यक्ष रूप में दिव्य प्रभाव की ओर खोला।

जब यह कहा गया कि वे बीमार हैं, तो उनका मन हट गया था, प्राण हट गया। जानबूझकर शरीर को अपने-आप पर छोड़ दिया गया था। तब एक दम तली की इस चेतना ने धीरे-धीरे उठना शुरू किया। तब विचित्र बात यह हुई, कि संसार-भर में चीजें अपने-आप होने लगीं, एक दम अप्रत्याशित रूप में, इधर-उधर, उन लोगों में भी जो इसके बारे में कुछ भी नहीं जानते थे। क्योंकि यह सारा ही द्रव्य है। यह इस तरह हुआ कि जब अंदर पूरी तरह से बदलने लगा तो बाह्य अपने आप खोलने लगा।

यह शाश्वत और अनिश्चित आरोहण के स्थान पर ऊपर से अतिमानस अवतरण था। दिव्य चेतना किसी ऐसी चीज में घुलमिल रही थी, जो ग्रहण करने और अभिव्यक्त करने में समर्थ हो।

किंतु वर्तमान अवस्था में, अधिकतर प्रबुद्ध लोग—बुद्धिवादी वर्ग का अधिकांश अपने-आप में लगे रहने में और अपनी प्रगति के टुकड़ों से बहुत संतुष्ट है। उसके अंदर और किसी चीज के लिए कोई, कोई इच्छा भी नहीं है। इसका मतलब है कि किसी अतिमानव सत्ता का आगमन होता भी है तो वह अलक्षित और अज्ञात ही रह सकता है। क्योंकि इसका कोई सादृश्य नहीं है।

• • •

कोषाणुओं के सचेतन हो जाने के बाद कार्य कैसे होता है? उदाहरण के लिए एक आम अनुभव की बात है: बक्स में कुछ चीजें हैं। हाथ से कहा जाता है (बिना गिने यूं ही) "बाहर निकालो"। और हाथ बाहर निकालकर हमें दे देता है। पियानो या चित्रकारी असंभव है यदि चेतना हाथ में प्रवेश न करे और हाथ, मस्तिष्क से स्वतंत्र रूप से सचेतन न हो। मस्तिष्क कहीं और व्यस्त रह सकता है। उसका कोई महत्त्व नहीं।

यह एक सीधा 'संपर्क' है — बिना मध्यवर्ती के। श्री अरविंद ने कहा था कि एक बार एक अकेला शरीर इसे कर ले तो उसमें यह क्षमता होती है कि वह इसे दूसरों को भी दे सके। यह चीज संक्रामक है।

माताजी बताती हैं कि सचेतन कोषाणुओं के साथ एक बहुत मजेदार बात होती थी। वे समय-समय पर दूसरों को डांटना शुरू करते थे। वे डांटते थे, उन्हें

पकड़ लेते थे और फिर अपने ढंग से उनसे मूर्खता-भरी बातें करते थे। जो पुरानी आदतों को जारी रखना चाहते थे, कि पाचन अमुक प्रकार से होना चाहिए, रक्त संचार अमुक प्रकार से होना चाहिए, और श्वासोच्छ्वास अमुक प्रकार से। सभी क्रियाएं प्रकृति की पद्धति से करनी चाहिए, और जब ऐसा नहीं होता तो वे चिंतित हो उठते। तब, जो प्रक्रिया को जानते हैं, वे उन्हें पकड़ लेते थे और भगवान के नाम से उनकी अच्छी खिंचाई करते थे। यह बहुत मजेदार था। वे अपने ढंग से कहते थे *"क्या मूर्ख हो तुम ! तुम क्यों डरते हो ? क्या तुम नहीं देख पाते कि स्वयं भगवान तुम्हें रूपांतरित करने के लिए यह कर रहे हैं ?"*

यह सम्वाद पश्यंती वाणी में ही होता होगा, जो वाणी और वैखरी से ऊपर का माध्यम कहा गया है। माताजी कहती हैं कि तब वह दूसरा आदमी वह चुप हो जाता है, अपने-आपको खोलता है, और आशा लगाता है। और तब पीड़ा चली जाती है, अव्यवस्था चली जाती है और सब कुछ ठीक हो जाता है।

यह आमूल क्रिया है, जो बाह्य अभिव्यक्ति में भी इसी प्रकार घट सकती है। अब एक प्रकार का लोच, नमनीयता आ जाती है। शरीर सब सीखता है। समग्र के साथ बहुत कुछ सीधा सम्पर्क रखते हुए, यह असाधारण नमनीयता के साथ खोजना सीखता है। और तब दिव्य उपस्थिति का वैभव प्रत्यक्ष हो जाता है।

० ० ०

२९ नवम्बर, १९६७ को माताजी ने उनके माध्यम से प्रकट होने वाले एक नए व्यक्तित्व की बात की। २४ नवम्बर के दर्शन के दिन टेलेस्कोप कैमरा से उनके कुछ फोटो लिए गए थे। उन्हें बड़ा नहीं किया गया था। उन्होंने कहा कि हर दर्शन पर मुझे लगता है कि मैं एक अलग ही व्यक्ति हूं। और जब (फोटो में) मैं अपने-आपको इस तरह वस्तुनिष्ठ तरीके से देखती हूं तो हर बार एक नए व्यक्ति को पाती [illegible]। कभी एक बूढ़ा चीनी, कभी श्री अरविंद का एक स्थानांतरित रूप, एक छिपे हुए श्री अरविंद और फिर कभी कोई ऐसा व्यक्ति जिसे मैं भली-भांति जानती [illegible]।

पर इस बार वह यह नहीं था। लेकिन था सुपरिचित। पहले उन्होंने अपने-आपसे पूछा कि यह कोई ऐसी सत्ता तो नहीं जो धरती के भौतिक जगत् में भिन्न नहीं रहती हो ? यह हो सकता है कि कोई कहीं पर एक स्थायी रूप में रहता है, और उस जगत् में (अधिमानस, अतिमानस या कोई और जगह) हमारा उसके साथ स्थायी सम्पर्क है, और इसका संवेदन अदर है। यह ठीक ठीक आकार की जगह चेहरे का भाव, एक प्रकार का स्पंदन, एक वातावरण है। शायद यह अतीन्द्रिक जगत् की सत्ता है, जहां न पुरुष होता है, न स्त्री।

उन्होंने बताया कि ऐसी बहुतेरी सत्ताएं हैं, शक्तियां हैं, व्यक्तित्व हैं, जो

अपने-आपको उनके द्वारा इस तरह अभिव्यक्त करते हैं। कभी-कभी तो एक ही समय पर कई-कई। उदाहरण के लिए कभी श्री अरविंद होते हैं, वे बोलते और देखते हैं। बहुत बार दुर्गा या महाकाली। प्रायः कोई सत्ता बहुत ऊंचाई से, बहुत स्थायी-बहुत स्थायी अपने-आपको प्रकट करती है। कभी-कभी उसके निकटस्थ लोक की सत्ताएं अपनी अनुभूति करवाती हैं। लेकिन इस बार यह कोई और था। उस दिन उन्हें अनुभूत हो रहा था कि कोई मानो शाश्वत के लोक से देखता है, बहुत ही हितैषिता के साथ, लेकिन पूर्ण शान्त-स्थिरता के साथ जो लगभग उदासीनता जैसी थी। दोनों मिलकर ऐसे देख रही हैं मानो इस (शरीर) को बहुत दूर से, बहुत ऊंचाई से देखा जा रहा है। एक बिलकुल ही आंतरिक दृष्टि से देखा जा रहा है। जब वे दर्शन देने छज्जे पर बाहर आई तो उनका शरीर इसका अनुभव कर रहा था। शरीर कह रहा था, "मुझे अभीप्सा करनी चाहिए, ताकि शक्ति इन सब लोगों पर (दर्शनार्थियों) उतर सके"। इस सारे को, उसकी बहुत ही हितैषी प्रतीत होने वाली दृष्टि को शरीर इस तरह अनुभव करता था, मानो कोई उसका उपयोग कर रहा है।

३० दिसंबर, १९६७ को उन्होंने कहा कि, शरीर अब बुद्धि के मानसिक शासन के स्थान पर चेतना के आध्यात्मिक शासन को लाना सीख रहा है। यह यूं तो कुछ नहीं दीखता, शायद किसी का ध्यान भी न जाय। लेकिन इससे बहुत बड़ा फर्क पड़ता है, यहां तक कि शरीर की संभावनाएं सौ गुनी हो जाती हैं। जब शरीर नियमों के आधीन होता है, चाहे वे विस्तृत और व्यापक क्यों न हों, तो वह इन नियमों का दास रहता है और उसकी संभावनाएं इन नियमों से सीमित रहती हैं। लेकिन जब उस पर 'आत्मा' और 'चेतना' का राज होता है तो उसमें अतुलनीय संभावना और नम्यता आ जाती है। और यही चीज उसे दीर्घायुष्य की, जीवन की अवधि बढ़ाने की क्षमता देगी। इसका अर्थ है, मन के बौद्धिक प्रशासन की जगह आत्मा के, (अतिमानस) चेतना के प्रशासन को बिठाना।

बाहर से इसमें कोई विशेष फर्क नहीं दिखाई देता। लेकिन अब शरीर अधिकाधिक और ज्यादा-से-ज्यादा अच्छे रूप में दिव्य चेतना के पथ प्रदर्शन, उसकी प्रेरणा का अनुसरण करता है। तब हम प्रायः हर क्षण यह देखते हैं कि इसमें कितना फर्क पड़ा है। उदाहरण के लिए समय अपना मूल्य, निश्चित मूल्य खो बैठता है। ठीक वही चीज, कम समय में या अधिक समय में आ सकती है। आवश्यकताएं भी अपना अधिकार खो बैठती हैं। व्यक्ति अपने आपको इसके या उसके अनुकूल बना सकता है। हम कह सकते हैं कि प्रकृति समस्त विधान, अपना एकाधिकार खो चुके हैं। इतना काफी होता है कि शरीर असामान्य नमनीयता के साथ सबसे गुजर सके।

यह सभी अनिवार्यताओं पर उत्तरोत्तर विजय है। इस प्रकार स्वभावत प्रकृति के सभी विधान, सभी मानव विधान, आदर्श, नियम, सभी लचीले होना शुरू करते हैं और अंत में गायब हो जाते हैं। फिर भी व्यक्ति एक लय रख सकता है, जो क्रिया को सरल बना दे। कार्यान्वयन में, अनुकूलन में यह जो लचीलापन आता है, वह सब कुछ बदल देता है। स्वस्थ चित्त की दृष्टि से, स्वास्थ्य की दृष्टि से, संगठन की दृष्टि से, औरों के साथ सम्बन्ध की दृष्टि से, इन सब की आक्रमणशीलता चली जाती है। साथ ही निरंकुशता, अनिवार्यता का शासन, आदि सबके सब चले जाते हैं। जैसे-जैसे प्रक्रिया अधिकाधिक पूर्ण होती जाती है—पूर्णता का मतलब है, समग्र, समूचा, जिसमें कुछ भी पीछे न छूट जाय—तो यह निश्चित और अनिवार्य रूप से मृत्यु पर विजय होती है। इसका यह मतलब नहीं कि कोषाणुओं का विलयन, जो मृत्यु का प्रतीक होता है, नहीं रहता। लेकिन वह तभी रहेगा जब वह जरूरी हो। एक निरपेक्ष नियम के रूप में नहीं, जब जरूरी हो तो एक प्रक्रिया के रूप में।

जब द्रव्यात्मक चेतना किसी चीज को पकड़ लेती है तो वह चीज को मन में जानने की अपेक्षा सैकड़ों गुना ज्यादा अच्छी तरह जानती है। और जब वह जानती है तो उसमें शक्ति होती है जानने से शक्ति आती है। कोषाणुओं की चेतना जब ठोस अनुभव के द्वारा यह सीखती है कि यह सब मूल्यांकन कि क्या अच्छा है और क्या बुरा, शुभ क्या है और अशुभ क्या, कष्ट क्या है और आनन्द क्या, ये सब धुएं जैसे हैं। यह सब कार्य की आवश्यकताएं हैं, जिससे निश्चेतना को समष्टि में काम हो सके (इसका विश्लेषण पिछले अध्याय में हो चुका है।)

० ० ०

यह सृष्टि। संतुलन की सृष्टि है। परम्पराओं के अनुसार सृष्टि पैदा होती है और फिर उसका लय हो जाता है। और फिर एक नई सृष्टि होती है। माताजी ने कहा है कि हमारी सृष्टि सातवीं है और सातवीं होने के कारण यह प्रलय में न लौटेगी, बल्कि सदा आगे बढ़ती रहेगी, कभी पीछे न हटेगी। साधारण वृत्ति है दो ध्रुव बनाने की। प्रिय वस्तु, शुभ वस्तु और अप्रिय वस्तु, अशुभ वस्तु। लेकिन जैसे ही हम 'आदि स्त्रोत' की ओर मुड़ने की कोशिश करते हैं, दोनों आपस में मिलने लग जाते हैं और एक आवश्यक संतुलन बनाने लगते हैं। हम इस प्रतियुद्ध द्वारा जिस प्रत्यात विजय को पाने की कोशिश कर रहे हैं, वह पूर्ण संतुलन में है। वहाँ कोई विभाजन संभव ही नहीं रहता। एक दूसरे को प्रभावित नहीं करता। जहाँ दो मिलकर एक ही बनते हैं। और यह है वह प्रत्यात पूर्णता जिसे हम फिर से पाने की कोशिश करते हैं। अब समस्त 'पार्थक्य' को दूर करके प्रत्येक भाग में समग्र चेतना प्राप्त करने की ओर गति है।

इस प्रतियुद्ध में एक चीज बेहद थकाने वाली होती है। वही चीज थकाती है, जो व्यर्थ हो। सच्चे निष्कपट लोगों से मिलना, जिन्हें इससे लाभ होता हो, कभी थकान वाला नहीं होता। लेकिन जो सिद्धान्तों और व्यवहारों की नाप तौल करने के लिए आते हैं, जो अपनी बुद्धि के कारण समझते हैं कि वे बहुत श्रेष्ठ हैं, और सत्य-असत्य में विवेक करने में समर्थ हैं, जो यह मानते हैं कि वे यह फैसला कर सकते हैं कि *अमुक सिद्धान्त सत्य है या मिथ्या, कि अमुक व्यवहार परम सद्वस्तु के* साथ मेल खाता है या नहीं, वे वास्तव में थकाने वाले होते हैं। उनसे मिलना बेकार होता है। उच्चतर बुद्धि की इन सत्ताओं को अपनी मरजी मुताबिक, अपने रास्ते पर दौड़ लगाने देनी चाहिए। यह रास्ता हजारों वर्ष तक चलेगा। सद्भावना वाले सरल लोगों को, जो भगवान की कृपा पर विश्वास करते हैं, चुपचाप अपने प्रकाशमय मार्ग पर चलते रहना चाहिए।

० ० ०

२८ अगस्त, १९६८ को माताजी ने चेकोस्लोवाकिया की घटनाओं का उल्लेख किया। उन्होंने कहा कि ऐसा लगता है, यह जाति का नया प्रवाह है। नयी सृष्टि या किसी सृष्टि का प्रवाह। गति शुरू हो गयी है। यह ठोस, दृश्य, संगठित उपलब्धि बनने में कितना समय लेगी—मालूम नहीं।

यूरोप में इस परिवर्तन को एक ठोस दृश्य बनते हुए हमने १९९० में देखा—ले०) यह धरती पर पुनर्व्यवस्था और एक नयी सृष्टि की बात थी। माताजी के लिए चीजें बहुत तीव्र हो उठी थीं। किन्तु उनके लिए एक शब्द बोलना भी असंभव हो गया था, एक शब्द भी। जैसे ही वे बोलना शुरू करतीं कि खांसी शुरू हो जाती थी। तब उन्होंने देखा कि यह निश्चय किया गया था कि वे न बोलें।

२२ अगस्त को उन्होंने कुछ नोट लिखने शुरू किये। नये जगत् के निर्माण का दृश्य उन्होंने शब्द बद्ध किया—

"कई घंटों के लिए प्राकृतिक दृश्य अद्भुत था। उसमें पूर्ण सामंजस्य था। और बहुत समय तक विशाल मंदिरों के आतंरिक दृश्य, जीवित जाग्रत देवों के साथ दिखाई दिए। हर चीज का अपना कारण था, एक यथार्थ लक्ष्य था—चेतना के स्तरों की अभिव्यक्त करना परन्तु मानसिक रूप दिये बिना। सतत अन्तदर्शन। प्राकृतिक दृश्य। इमारतें। नगर। समस्त विशाल और विभिन्नतापूर्ण दृश्य, सारे दृष्टि क्षेत्र को ढके हुए था। और शारीरिक चेतना की स्थितियों को दिखा रहा था। बहुत-सी, बहुत-सी इमारतें, बनते हुए, बड़े-बड़े नगर। सभी पटरानियों की इमारतें, सवस बढ़कर नमी, वर्णनातीत। ये देखे हुए चित्र नहीं हैं, ऐसे स्थान हैं, जहां मैं [redacted]।"

"प्राण और मन को पूछने के लिए भेज दिया गया है, ताकि भौतिक सचमुच अपने ही बलबूते पर रहे।" (उनका देखना बोलना सुनना लगभग बंद हो गया था।) प्राण और मन छोड़ गये हैं, परन्तु चैत्य (अंतरात्मा) ने बिल्कुल नहीं छोड़ा। मध्यस्थ छोड़ गये हैं। उदाहरण के लिए लोगों के साथ सम्बन्ध (जो यहां मौजूद हैं अथवा जो यहां नहीं हैं।) जैसा था वैसा बना हुआ है, बल्कि पहले से भी ज्यादा निरंतर है।

२६ और २७ अगस्त १९६८ की रात "शरीर में सब जगह, एक साथ, अतिमानसिक शक्ति का सशक्त और लम्बे समय तक प्रवेश" उन्होंने अनुभव किया। वह मानो एक अतिमानसिक वातावरण ही था और उनका शरीर उसमें था। वह अंदर प्रवेश करने के लिए एक ही समय पर सब जगह, सब जगह, दबाव डाल रहा था। यह कोई प्रवेश करने वाली धारा नहीं थी। यह तो वातावरण था, जो सब जगह से उंडेला जा रहा था। यह कम से कम तीन चार घंटे तक चलता रहा।

दो तीन दिन पहले ही पीड़ा की पराकाष्ठा में उन्होंने कहा था कि यह शरीर पूरी तरह विघटित हो जाने के लिए तैयार है, और जीते रहने के लिए भी पूरी तरह तैयार है, चाहे परिस्थितियां कैसी भी क्यों न हों—परन्तु उस अवस्था में नहीं, उस अपघटन की अवस्था में नहीं। तो उसका दो दिन तक कोई उत्तर न मिला और उसके बाद आया यह प्रवेश। बिना मन के, बिना प्राण के शरीर में यह हुआ था, जब भौतिक जीवन के साथ कोई सम्पर्क न था या बहुत ही कम था, केवल वे प्रत्यक्ष दर्शन थे। (नगर, इमारतें, मंदिर)

यह वैश्व-विकास की एक अवस्था थी। मन प्राण ऐसे यन्त्रों की तरह झड़ जायेंगे, जो अब उपयोगी नहीं रहे।

माताजी को इस बात का ठोस अनुभव हुआ कि यह द्रव्य क्या है, जो प्राण और मन के द्वारा पीसा जाता है। "आंतरात्मिक स्थितियों के उस प्रत्यक्ष दर्शन" में अद्भुत चीजें थीं। कोई मानसिक कल्पना इतनी आश्चर्यजनक नहीं हो सकती—वे एकदम अद्भुत क्षण थे। लेकिन विचार के बिना, बिना विचार के। दृष्टि और श्रवण मानो परदे के पीछे थे। लेकिन सामंजस्य या असामंजस्य का प्रत्यक्ष दर्शन बिल्कुल स्पष्ट था। उनका अनुवाद बिंबों में होना था। यह विचार नहीं था, 'लगना' भी नहीं था। वह एक प्रकार का बहुमूर्तिदर्शी (क्लाइडस्कोप) था, जो दिन रात चलता रहता था। और शरीर उसके अंदर था, लगभग छिद्रिल-छिद्रित जिसमें कोई प्रतिरोध न था, मानो वह चीज उसके अंदर से छन रही थी। वहां अनोखी चीजें थीं, परन्तु कहा कैसे जाय? कोई चेतना उसे लिख सकने के लिए पर्याप्त नहीं। हर जगह, सारे समय, कोषाणु अपना मंत्र जप रहे

थे, सारे समय। बिना किसी मध्यवर्ती के चैत्य पुरुष का, द्रव्य के साथ सम्पर्क एक प्रकार का "अनुभूत अन्तर्दर्शन" है। यह अंतर्दर्शन बहुत ही यथार्थ होता है। मन यथार्थता देने के लिए वस्तु को सीमित करता है, अलग करता है। एक ऐसी यथार्थता है, जिसमें न विभाजन होता है, न पार्थक्य। वही अतिमानस दृष्टि की यथार्थता होगी। उसमें दृष्टि की स्पष्टता होगी है जो घटाती नहीं। यह यथार्थता सभी वस्तुओं के आपसी संबंध के साथ, उन्हें अलग किये बिना आती है।

प्राण एक तीव्रता देता है, यही तीव्रता अतिमानस में है, परन्तु है बिना विभाजन के। यह एक ऐसी तीव्रता है जो अलग नहीं करती।

० ० ०

२१ नवंबर, १९६८ को माताजी ने फिर एक मजेदार अनुभूति के बारे में बताया। किसी ने माताजी से कहा, "मैं पूरी तरह भौतिक चेतना में धंस गया हूं अब ध्यान नहीं होता। और भगवान, दूर ऊपर की चीज बन गये हैं।" उसी समय जब वह बात कह रहा था सारा कमरा भागवत उपस्थिति से भर गया। माताजी ने उससे कहा, "वहां, ऊपर नहीं, यहां, ठीक यहीं!" और उस क्षण सब कुछ, सारा वातावरण, मानों हवा तक दिव्य उपस्थिति में बदल गयी। जो चीज विशेष रूप से वहां थी, वह थी चौंधियाने वाली ज्योति, एक 'महाकाय' शांति, 'शक्ति' और फिर मधुरता। कुछ ऐसा लगता था कि वह चट्टान का भी पिघला देने में समर्थ है। और वह गयी नहीं। वह ठहरी रही। वह इस तरह आयी और ठहर गयी।

यह शरीर की अनुभूति थी। द्रव्यात्मक अनुभूति। हर चीज, हर चीज, हर चीज भरी है, भरी, केवल वही है। हम हमारी हर चीज मानों संकुचित हो गयी है सूखी हुई खाल सी, चीजें इस तरह कठोर बन गयी हैं - (पूरी तरह नहीं—बस ऊपर ही ऊपर) मुरझा गयी है—इसीलिए हम अनुभव नहीं कर पाते। इसीलिए हम 'उन्हें' अनुभव नहीं कर पाते। अन्यथा सब कुछ वही है, उनके सिवाय कुछ है ही नहीं। हम, सब, सारा विश्व 'उनके अंदर है' लेकिन द्रव्यात्मक रूप में, भौतिक रूप में। माताजी ने 'उनसे' पूछा 'तो लोग हमेशा वहां, ऊपर क्यों जाते हैं?' असाधारण और विलक्षण हास्य के साथ उत्तर मिला, "क्योंकि लोग चाहते हैं, कि मैं उनकी चेतना में बहुत दूर रहूं।"

माताजी ने, उस व्यक्ति से कुछ नहीं बताया। इसका पहला कारण यह था कि तब यह अनुभूति लगातार नहीं थी। और दूसरा विशेष कारण उन्होंने बताया, 'कोई नया मत नहीं (बनाना है।), कोई धर्म-सिद्धांत नहीं। हमें इस बात से बचना चाहिए—किसी भी कीमत पर बचना चाहिए कि यह चीज कोई नया धर्म न बन जाय। क्योंकि जैसे ही उसे किसी शानदार प्रभावशाली और शक्तिशाली

तरीके से ग्रथबद्ध किया जायगा कि वह अन्त हो जाएगा।

यह द्रव्यात्मक भागवत चेतना उस चीज का अनुभव करती है, जो हमारे लिए दु:ख-दर्द है। उसका अस्तित्व है—दिव्य भौतिक चेतना के लिए उसका अस्तित्व है—लेकिन तरीके से कुछ अलग। एक ही समय में हर चीज की युगवत् (बारी-बारी से) चेतना है। सब कुछ एक साथ है। दु:ख-दर्द, अत्यधिक तीव्र अव्यवस्था और सामंजस्य, संपूर्णता आनन्द, दोनों एक साथ, साथ-ही-साथ अनुभव होते हैं। स्वभावत: इससे दु:ख-दर्द की प्रकृति ही बदल जाती है। इन अनुभूतियों के द्वारा धीरे-धीरे शरीर अपने-आपको अभ्यस्त करता जाता है ताकि वह सत्य-चेतना को सह सकने की योग्यता प्राप्त कर ले। इसके लिए अनुकूलन की गति भी जरूरत होनी है। इस तरह दु:ख-दर्द आनन्द की तैयारी बन जाते हैं।

० ० ०

१ जनवरी, १९६९ को सवेरे सचमुच आश्चर्यजनक बात हुई। केवल माताजी ने ही उसे अनुभव नहीं किया, औरों ने भी अनुभव किया। आधी रात के बाद, माताजी ने उसे दो बजे अनुभव किया और औरों ने सवेरे के चार बजे।

यह बहुत ज्यादा द्रव्यात्मक वस्तु थी, यानी बहुत बाहरी-बहुत बाहरी और यह स्वर्ण ज्योति से दीप्तिमान थी। वह बहुत बलशाली, बहुत शक्तिशाली थी। लेकिन उसका स्वभाव स्मितपूर्ण हितैषिता का था। शांत हर्ष। हर्ष और ज्योति की ओर एक प्रकार का उद्घाटन।

सबने उसे अनुभव किया, मतलब यह कि वह बहुत द्रव्यात्मक थी। सबने उसे यूं अनुभव किया : एक प्रकार का हर्ष लेकिन मैत्रीपूर्ण हर्ष, शक्तिशाली और बहुत कोमल, बहुत स्मितपूर्ण, बहुत हितैषितापूर्ण। यह कोई ऐसी चीज है जो मनुष्य के बहुत नजदीक है। वह इतनी ठोस थी—मानो उसमें स्वाद था। माताजी को लगा कि वह कोई बहुत बड़ा व्यक्तित्व है—बहुत ही बड़ा, यानी ऐसा, जिसके लिए समस्त धरती छोटी-सी है—गेंद जैसी। एक विशालकाय व्यक्तित्व, बहुत, बहुत सद्भावनापूर्ण, जो आता है।" माताजी ने हथेली पर से मानो गेंद को बहुत धीमे से उठाते हुए कहा, "उसमें सगुण भगवान की छाप पड़ती थी। जो सहायता के लिए आता है, इतना बलवान, इतना बलवान, और साथ ही साथ इतना कोमल, सबको अपने आलिंगन में भरता हुआ।

यह साल का प्रारंभ था। मानो कोई देवाकार "शुभ नव वर्ष" की कामना करने आया था और उसमें वर्ष को शुभ बनाने की शक्ति थी। संभवत: यह वही २४ नवंबर १९६७ के दर्शन दिन का उनके माध्यम से प्रकट हुए उस व्यक्तित्व या 'वातावरण' का ही अवतरण था।

उसका कोई रूप न था, केवल वातावरण था जिसे वह लेकर आया था।

पर स्थापित हो सकने के और जीवित रह सकने के लिए यह जरूरी होगा कि पृथ्वी के अन्य तत्वों में उसकी रक्षा की जाय, और शक्ति ही सुरक्षा है (कृत्रिम, बाह्य और झूठी शक्ति नहीं, बल्कि सच्चा बल, जयशाली संकल्प)। तो यह मानना असम्भव नहीं है कि अतिमानसिक क्रिया सामंजस्य, ज्योति, आनन्द और सौन्दर्य की क्रिया होने से भी पहले शक्ति की क्रिया होनी चाहिए ताकि वह सुरक्षा कर सके।

स्वभावतः एक क्रिया को सचमुच प्रभावकारी हो सकने के लिए 'ज्ञान', 'सत्य', 'प्रेम' और सामंजस्य पर आधारित होना चाहिए। परन्तु ये चीजें भी तभी अभिव्यक्त हो सकेंगी – प्रयत्न रूप में, थोड़ी-थोड़ी करके अभिव्यक्त होंगी — जब, यूं कहा जा सकता है कि आधार सब सार्थ 'संकल्प' एवं 'शक्ति' की क्रिया द्वारा तैयार हो चुकेगा।

यह चेतना व्यक्तिगत रूप में कैसे काम करेगी ? उदाहरण के लिए माताजी के सिवाय किसी में ?— उसी तरह। उनके लिए यह दिव्य भौतिक चेतना अपने-आपको विशेष क्रिया कलापतक रखती थी, खास अवस्थाओं तक। साधारण मानव चेतना में वह अपने आपको लगभग शून्य तक सीमित रखती है। सत्ता की कुछ स्थितियों में, कुछ क्रियाओं में वह अपने-आपको सम्भूति (becoming) की कुछ विधियों तक सीमित रखती है ताकि अपनी क्रिया को पूरा कर सके। किंतु उससे हर क्षण पथ प्रदर्शन मिलता रहे तो इससे बहुत समय बचता है। बजाय इसके कि अध्ययन करना पड़े, अवलोकन करना पड़े

जिन लोगों ने पहली तारीख को माताजी का स्पर्श पाया था, उनमें स्पष्ट परिवर्तन था। वास्तव में उनके जीवन के ढंग में एक यथार्थता, एक निश्चितता का प्रवेश हुआ। १८ जनवरी को एक शिष्य जब वमन से पहले प्रणाम करने लगा, तो माताजी अपने हृदय-क्षेत्र को दबाती हुई बोलीं—'यहां था।' यह अजीब था, मानो उन्हें यह काम सौंपा गया था कि जो उनके नजदीक आये उनको उसके साथ सम्पर्क करा दें।

अतिमानव का यह वातावरण और चेतना परामर्शदाता के रूप में बहुत सक्रिय थी। यह बिना प्रयास के आती और फिर चली जाती थी क्योंकि माताजी बहुत बहुत व्यस्त होती थीं। वह इच्छा करने से नहीं आ जाती थी। जो चीज इच्छा करने पर आ जाती है उसे 'नकल' कहा जा सकता है। उसमें रंग-रूप तो होता है, पर वास्तविक 'वस्तु' नहीं होती। वास्तविक वस्तु, हमारी इच्छा, हमारे प्रयास से एकदम स्वतन्त्र है। और यह वस्तु तो सर्वशक्तिमान मालूम होती है, इस अर्थ में कि तब शरीर को कोई कठिनाई नहीं रहती किन्तु अभीप्सा, एकाग्रता, प्रयास—इनसे कुछ नहीं बनता। यह दिव्य सत्ता है। उन तीन-चार घंटों में ही माताजी समझ गयीं कि शरीर में दिव्य चेतना होना किसे कहते हैं।

तब वह एक शरीर से दूसरे मे, बिल्कुल स्वाधीन रूप मे, निर्बाध रूप मे आती-जाती रही। वह हर शरीर की सीमाओ और सभावनाओ को जानती थी यह कदम अद्भुत था। यह अवस्था जो कई घटे रही, ऐसी सुखमय थी, जिसका माताजीने अपने ९१ वर्ष के जीवन मे कभी अनुभव नही किया था। स्वतन्त्रता, निरपेक्षशक्ति, कोई सीमा नही, कुछ भी असभव नही। वह अन्य सब शरीर, यही स्वय था। कोई भेद न था। वह केवल चेतना का खेल था जो चलता जा रहा था—एक विशाल 'लय' के साथ।

इस नयी चेतना की खास विशिष्टता है कोई अधकचरा काम नही। कोई 'लगभग' नहीं। यह उसकी विशेषता है। या तो 'हां' या 'नही'। या तो तुम कर सकते हो या नही। सचमुच यह दिव्य कृपा है जो समय नही खोने देती। 'या तो उसे किया जाय या नही'—दो टूक निर्देश देती है। यह दुर्जेय शक्ति है, और करुणा से भरी है। भद्रता से भरी है। नहो, कोई शब्द नही, हमारे पास जो उसका वर्णन कर सकें।

और तभी तो यह शक्ति समस्त विश्व मे सक्रिय है। हमने देखा कि इसके बाद १९७१ मे यह शक्ति भारत को अपने ज्ञात इतिहास की सबसे बडी भौतिक विजय दिलाती है। बाग्ला देश के युद्ध मे विजय। पूरे मानं गे यह हमारा ऐसा प्रतियुद्ध था, जो एक थोपे युद्ध की जवाबी और फैसलाकुन कार्रवाई था।

इस अवतरण के साथ ही अतर्जगतो की यात्रा पूरी करके हम फिर अयोध्या एव भारत के भौगोलिक इतिहास की ओर लौटते है।

८. आर्यावर्त से भारतवर्ष तक

भारत का प्राचीन इतिहास किस तरह झुठलाया और बरगलाया गया, इसकी चर्चा हम कर चुके हैं। वैदिक साहित्य, रामायण, महाभारत के अवमूल्यन का प्रयास अंग्रेजों के निहित स्वार्थों ने देशी-विदेशी विद्वानों के माध्यम से योजनाबद्ध ढंग से किया। पुराणों को तो उन्होंने कपोल-कल्पना 'गल्प' कह कर एकदम खारिज ही कर दिया।

यह सही है कि देश-काल-स्थितियों ने भारत के इन ऐतिहासिक दस्तावेजों में काफी हेराफेरी की है। आधुनिक बुद्धि उनकी यथार्थता और विश्वसनीयता को स्वीकार करने के लिए सहज ही तैयार नहीं होती। इसकी प्रतिक्रिया में, इन पोथियों का पूर्ण सत्य, अकाट्य तथ्य अखण्डनीय विधान मान लेने की प्रवृत्तियाँ भी उभरकर खेलती आयी हैं। ऐसी स्थिति में सत्य के निरपेक्ष खोजी को इस भटकाव के घोर-घने जंगल में फूंक-फूंक कर कदम रखना पड़ता है। हर्ष का विषय है कि ऐसा नीर क्षीर विवेक रखनेवाले खोजी इतिहासविदों की परंपरा भी रही है। पंडित भगवद्दत्त शर्मा, आचार्य चतुरसेन, डॉ. कुंवरलाल, ऐसे ही कुछ नाम हैं। इन परिश्रमी और प्रतिभाशाली महाभागों की उंगली पकड़कर, हम इस बीहड़ प्रदेश में बहुत-कुछ निरापद और फलदायी यात्रा कर सकते हैं।

इन विद्वानों के अनुसार रामायण कालीन अयोध्या तक भारत के उत्तराखंड में आर्यों के सूर्य वंश और चन्द्र-वंश नामक दो प्रमुख राजसमूह थे। दोनों मंडलों को मिलाकर आर्यावर्त कहा जाता था। आर्यों ने अपना संगठन देवों से लिया था। उन्होंने लोकपालों, दिक्पालों की स्थापना की थी, जो देवभूमि और आर्यदेश के प्रान्तों की रक्षा करते थे। देवों की प्रवर जातियों में तब मरुत्, वसु और आदित्य प्रमुख थे। चोटी के पुरुषों में इन्द्र, यम, रुद्र, वरुण, कुबेर आदि थे। यम, वरुण, कुबेर और इन्द्र ये चार वंश परंपरा से लोकपाल थे। जैसा कि हमने देखा है ये सबके सब हाड़-मांस के मनुष्य ही थे, जिन्हें काल-क्रम में अलौकिकत्व तथा मिथकीय व्यक्तित्व प्राप्त हो गए।

उन दिनों आर्यों में यह नियम प्रचलित था कि सामाजिक शृंखला भंग

करनेवालों को समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता था। दण्डनीयजनों को जाति-बहिष्कार के अतिरिक्त प्रायश्चित्त, कारावास और जुर्माने के दण्ड भी दिये जाते थे। प्राय ये ही बहिष्कृत जन आर्यावर्त की सीमाओं से बाहर निष्कासित कर दिये जाते थे। धीरे-धीरे इन बहिष्कृत जनों की दक्षिणारण्य, तथा दक्षिण एशियाई द्वीप समूहों तक कई जातियां सगठित हो गईं। ये थी, दस्यु, महिष, कपि, नाग, पौण्ड्र, द्रविण, काम्बोज, पारद, खस, पल्लव, चीन, किरात, मल्ल, दरद, शक आदि। ये सब व्रात्य (सामाजिक नियम तोड़ने वाली) मानी जाती थी।

रावण के शरीर में शुद्ध आर्य और दैत्य वश का रक्त था। उसका पिता पौलस्त्य विश्रवा आर्य ऋषि था और माता दैत्यराज की पुत्री थी। उसका पालन-पोषण आर्य विश्रवा के आश्रम में उसी के मार्गदर्शन में हुआ। उसे शिक्षा-दीक्षा भी उसके पिता न अपने अनुरूप ही दी थी। उस समय वेद का जो स्वरूप था, उसे उसने अपने बाल्यकाल में अपने पिता से पढ लिया था। उस काल तक वेद ही आर्यों का एकमात्र साहित्य और कर्मबधन था। यह केवल मौखिक था—और लेखबद्ध नहीं था।

रावण के मातृपक्ष में दैत्य-सस्कृति थी। दैत्य और असुर, देवों तथा आर्यों के भाई बद ही थे, परतु रहन-सहन विचार-व्यवहार में दोनों में बहुत अतर था। विशेष कर बहिष्कृत जातियां आर्यों से द्वेष और घृणा करती थी। बहिष्कार का सबम कटु रूप था, ऋषियों पुरोहितों द्वारा सस्कार क्रिया से उन्हे वचित रखना तथा यज्ञों से बहिष्कृत समझना। इस बहिष्कार या निषिद्धता के पीछे उनके अपने तर्क भी रहे होंगे, जैसे शुचिता, पुणवत्ता अथवा आध्यात्मिक पात्रता आदि। यद्यपि अभी यज्ञों का विराट रूप नही बना था, जो आगे बना। फिर भी यह एक ऐसी अपमान जनक बात थी जिसने इन जातियों में आर्यों के विरुद्ध, दैत्यों और असुरों से भी अधिक जो आर्यों के दायाद बाधव ही थे—विद्वेष और विरोध भड़का दिया था।

रावण एक महत्वाकाक्षी पुरुष था। उसके मन मे—जोकि प्राणप्रमुख मन था—तीन तत्व काम कर रहे थे। उसका पिता शुद्ध आर्य और विद्वान वैदिक ऋषि था। उसकी माता शुद्ध दैत्य वश की थी, उसके बधु-बाधव बहिष्कृत आर्य-वशी थे। उन्हें क्रिया-कर्म तथा यज्ञ से च्युत कर दिया गया था। अब रावण ने इस भेदभाव के विरुद्ध रक्ष सस्कृति का झडा उठाया। उसने भारत और भारतीय आर्यों को दलित करने, उनपर आधिपत्य स्थापित करने और सब आर्य-अनार्य जातियों के समूचे नृवश एक ही रक्ष-सस्कृति के अधीन समान भाव से दीक्षित करने का विचार किया।

रावण ने देवों और आर्यों के लोक-पाल-दिक्पाल सगठन को जड़-मूल से

उखाड़ फेंकने की योजना बनाई। उसने सांस्कृतिक और राजनीतिक, दोनों प्रकार के विप्लवों का सूत्रपात किया। उसका मस्तिष्क मेधावी था और शरीर साहसिक। उसके साथी-सहयोगियों में सुमाली, मय, प्रवण, प्रहस्त, महोदर, मारीच, महापार्श्व, महादंष्ट्र, यज्ञकोप, खर, दूषण, त्रिशिरा, अतिकाय, अकम्पन आदि महारथी थे। ये सुभट और विचक्षण मंत्री भी थे। कुम्भकर्ण से भाई और मेघनाद से पुत्र को पाकर उसकी सामरिक शक्ति परम सीमा तक पहुंच गयी।

इस वैभव को उसने अपनी उच्चाकांक्षा, तीक्ष्ण बुद्धि और बाहुबल और दुःसाहस से ही प्राप्त किया था। आंध्रालय व आयरान्य कुल तथा काश्यप-सागर तट के दैत्यकुल का यह कुल दीपक शुरू से यायावर प्रवृत्ति का था। इसी साहसिक यायावरी से वह बलि द्वीप जा पहुँचा था। एक समय के लंकाधिपति सुमाली का दौहित्र होने के नाते वह इन द्वीप समूहों को अपने आधीन करना चाहता था। हिरण्यपुर के देवासुर संग्राम में सुमाली को विष्णु के हाथों पराजित होना पड़ा था। तब से दैत्य-दानवों को दर-दर की खाक छाननी पड़ रही थी।

अपने ठौर की खोज में, युवा रावण का नेतृत्व उन्हें प्राप्त हुआ। बालि द्वीप को उन्होंने नागपति वज्रनाभ से जीत लिया। इस रक्ष या राक्षस संस्कृति का बीज था 'जो हमसे सहमत है, उसे अभय। जो कोई सहमत नहीं है, उसका विनाश'। जो रावण की इस रक्ष-संस्कृति को स्वीकार कर लेता तो अपनी ओर से वह उसे ही राज्य का स्वामी बना देता।

दक्षिण सागर के इन द्वीप-समूहों में निर्वासित नाग-गंधर्व-यक्ष, दैत्य, दानवों ने अपने छोटे-छोटे उपनिवेश बना लिए थे। इन्हें एक-एक कर जीतने के बाद रावण तथा सुमाली आदि राक्षसों की दृष्टि लंका पर टिक गयी। इसी दौरान दानवों के द्वीप में उसकी मय दानव से भेंट हुई। जैसा कि हमने देखा है, काश्यप (कैस्पियन) सागर तट पर हिरण्यपुर के निकट उसका पुर तथा मूल निवास स्थान था। वह दैत्यपति विरोचन का बंधन था। एक हेमा नाम की अप्सरा उस पुर की निवासिनी थी। उसे देवों ने उसे दिया था। बहुत दिनों तक वह उसके साथ आनंदपूर्वक रहा। लेकिन जैसा कि देवांगनाओं में आम प्रचलन था, वह उसे छोड़कर फिर देवों के पास चली गयी। मय बढ़िया स्थापत्य विद और नगर-नियोजक था। अप्सरा हेमा से उसे दो पुत्र तथा एक कन्या मंदोदरी उत्पन्न हुई थी। मय हेमा अप्सरा के विरह में व्याकुल, अपने बाकी परिवार को लिये, द्वीप-द्वीप भटकने लगा। चौदह वर्ष तक भटकते रहने के बाद उसकी रावण से मुलाकात हुई। रावण ने दानवेंद्र मकराक्ष को मारकर यह दानव-उपनिवेश उससे छीना था। रावण के बलवीर्य तथा ख्याति से प्रभावित हो उसने उससे अपनी गुणवती कन्या का पाणिग्रहण करने का अनुरोध किया। रावण ने इसे स्वीकार कर लिया।

मंदोदरी के बड़े भाइयों को भी उसने रावण की सेवा में नियुक्त कर दिया। एक दिव्य-शक्ति (जो कि संभवतः यंत्रचालित मारक शस्त्र था) भी उसे भेंट की।

मंदोदरी अपने पिता का प्रिय चाहती थी और वह था उसकी, बचपन में ही छोड़ गयी माता की वापसी। इस समय वह उरपुर में देवों के सान्निध्य में थी। ये देव वरुण के वंशज और दिक्पाल थे। रावण ने यथासमय इस कार्य को पूर्ण करने का मंदोदरी को वचन दिया। रावण ने विजित द्वीपों के राज्य-प्रबंध तथा सुरक्षा की उत्कृष्ट व्यवस्था की। दानवों के उस द्वीप समूह का राज्याधिकारी उसने मामा अकम्पन को बनाया। बालिद्वीप, यवद्वीप और मलय द्वीप के राज्यभार भी विश्वस्त राक्षसों को दिये। फिर इन विजित द्वीपों से प्राप्त बहुत-सा स्वर्ण-रत्न, सुमाली तथा बहुत से विश्वस्त राक्षसों को साथ ले, युद्धनौकाओं में बैठ उसने लंका-विजय के लिए प्रस्थान किया।

किंतु रावण ने सीधे आक्रमण नहीं किया। वह कूटनीति का पंडित था। समय देखकर कार्य करता था। जहाँ समान बल नहीं होता वहाँ युक्तियुद्ध को श्रेयकर मानता था। युद्ध नीति में विश्वासघात को भी निषिद्ध नहीं मानता था। उसका उद्देश्य था दक्षिण की सब अनार्य जातियों को एक सूत्र में बाँधना। राक्षसों की एक सम्मिलित नई जाति बनाना। आर्यों और अनार्यों के भेदभाव को नष्ट करना। इसीलिए उसने वैदिक-अवैदिक बहुत सारी प्रथाओं और परम्पराओं को मिलाजुलाकर 'रक्ष-संस्कृति' की स्थापना की थी। लंका की समृद्धि देखकर रावण ललचा उठा था। उसने देखा कि लंका की केवल भौतिक स्थिति ही नहीं, उसकी राजनीतिक स्थिति भी ऐसी है कि इसी द्वीप से सारे दक्षिण समुद्रतट पर राक्षसों का शासन कायम किया जा सकता है।

किंतु लंकाधिपति कुबेर इस लक्ष्य की प्राप्ति में उसकी बाधा था। वह 'रक्ष-संस्कृति' को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। वह नाते में रावण का भाई ही था किंतु उसने भी रावण की तरह, यक्षों की एक नई जाति, देव, दैत्य, दानव, असुर और नागों में से संगठित की थी। उसका नारा था 'वयं यक्षाम' अर्थात् हम भोगेंगे। अभिप्राय यह कि विश्व के ऐश्वर्य हम भोगेंगे। खाओ, पियो और मौज करो, यही यक्षों की संस्कृति थी। उसकी देवों और आर्यों से कोई शत्रुता नहीं थी। देवों ने उसे दिक्पाल मान लिया था।

दोनों सौतेले भाइयों की विचारधारा में फर्क यही था कि एक अपने लक्ष्य में आग्रमक था। रावण खाना-पीना, मौज करना जीवन का ध्रुव-ध्येय नहीं मानता था और आत्म-विस्तार को प्रधानता देता था। यक्ष सह-अस्तित्व में आस्था रखते थे, जबकि राक्षस असहमति के प्रति असहिष्णु थे।

अतः यक्षपति और रक्षपति का टकराव होना ही था। परंतु सुमाली ने इस

टकराव को टालने की दृष्टि से उन्हें इस बात पर राजी किया कि वे इस बखेड़े का फैसला अपने पूज्य पिताश्री से कराएं।

कुबेर ने सब बातों का आगा-पीछा समझा। रावण तथा उसके राक्षसों की उद्दंडता से वह परिचित था। वह अपने पुष्पक विमान पर सवार हो वह अपने पिता विश्रवा मुनि के आश्रम में आद्योपान्त पहुँचा।

विश्रवा मुनि दूरदर्शी थे। वह जानते थे कि रावण बहुत हठधर्मी, उग्र स्वभाव वाला और अति महत्वाकांक्षी है। उसके पास वीरों का अच्छा दल है। उनकी सहायता से उसने भारत-सागर के सभी द्वीप समूहों को जीत लिया है। ऐसी अवस्था में अब लंका में कुबेर का अकेला रहना सुरक्षित नहीं है। फिर इस सारे झगड़े की जड़ रावण का नाना सुमाली और उसके पुत्र थे। कुबेर से पहले लंका पर सुमाली का ही अधिकार था। जब विश्रवा ने कुबेर को वहाँ बसाया था, तब सुमाली का कुछ पता ही नहीं था। उन्हें आशंका थी कि वह हिरण्यपुर के देवासुर संग्राम में मारा गया होगा। किन्तु अकस्मात् वह प्रकट हो गया था। उसकी पुत्री ने मुनि विश्रवा से ऋतु कामना की तो उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया था। उसी से रावण और उसके भाई-बहन उत्पन्न हुए। उन्होंने उन्हें वेद पढ़ाया। परन्तु वे उनके प्रभाव में नहीं, बल्कि अपने नाना और मामा के प्रभाव में रहे। यही उन्हें उकसा कर उधर ले गये। अब लंका पर उनका दाव था। लंका के निवासी भी सब उन्हीं के भाई-बन्धु, दैत्य, असुर, नाग और दानववंशी थे। अतः कुबेर के भले की बात यही थी कि वह इन उपद्रवियों से युद्ध व झंझट में न फँसे।

मुनि विश्रवा ने उसे यही परामर्श दिया कि वह लंका को छोड़ दे और गंधमादन पर्वत पर अलकापुरी बसा वहीं सुख से रहे। वह स्थान लंका की अपेक्षा मनोरम भी था। कुबेर ने यह सीख मान ली। उसने चुपचाप लंका खाली कर दी। अपने सबंधी और अनुयायी यक्षों को, तथा सब संपदा को लेकर वह पुष्पक विमान में चढ़ गंधमादन पर्वत पर चला गया। वहाँ वह अलकापुरी बसाकर निवास करने लगा।

रावण ने भी उससे अधिक छेड़-छाड़ नहीं की। उसे अपने सब धन, रत्न और परिजनों सहित चला जाने दिया। फिर घोषणा कर दी—"जिसे हमारी रक्ष संस्कृति स्वीकार नहीं वह लंका छोड़ दे नहीं तो उसका शिरच्छेद होगा।" वहाँ की सभी जातियों कबीलों ने उसकी रक्ष-संस्कृति या 'रक्षधर्म' स्वीकार कर लिया। रावण ने अपने ग्यारह मामाओं को राज सचिव बनाया। लंका को सुदृढ़ सुगठित किया। वह स्वयं लंकापति, रक्षेंद्र पद पर अभिषिक्त हुआ। मंदोदरी उसकी पट्टमहिषी बनी।

उसने दैत्यपति विरोचन की दौहित्री वज्रज्वाला से अपने भाई कुंभकरण का और गंधर्वों के राजा शैलूष की पुत्री सरमा से विभीषण का विवाह किया। इसमें

ये दोनों शक्तिशाली और प्रतिष्ठित कुल भी उसके सम्बन्धी बन गए। उसने अपने नाना सुमाली को प्रधानमन्त्री बनाया। प्रवण, प्रहस्त, महोदर, मारीच, महापार्श्व, महादंष्ट्र, यज्ञकोप, दूषण, खर, त्रिशिरा, दुर्मुख, अतिकाय, देवातक आदि उच्चवर्गीय राक्षसों को मंत्री, सेनापति, नगरपाल आदि बनाया। ये सब मंत्री और सेनापति राजनीति के महापंडित थे। स्वयं रावण भी नीतिशास्त्र और वेद महान् पण्डित था। शास्त्र और शस्त्र दोनों का अतिरथी था।

उसका पुत्र मेघनाद बाप से बेटा सवाई था। शौर्य और तेज में उतना ही प्रखर। इसके अतिरिक्त दूसरी पत्नियों से रावण को त्रिशिरा, देवातक, नरातक, अतिकाय, महोदर, महापार्श्व आदि अनेक दुर्जेय योद्धा पुत्र हुए। रावण के हरम अनेक दैत्य, दानव, नाग और यक्षवंश की सुंदरियां थीं। मेघनाद का विवाह दानवकन्या सुलोचना से हुआ था। इस प्रकार पुत्र, परिजन, अमात्य बान्धव और राक्षसों से सम्पन्न रावण परम ऐश्वर्य और सामर्थ्य का प्रतीक बन गया।

स्वर्णमयी लंका में अपना महाराज्य स्थापित करने तथा सभी दक्षिणी द्वीप-समूहों को अधिकृत करने के बाद उसकी महत्त्वाकांक्षी गिद्धदृष्टि भारतवर्ष की ओर जानी स्वाभाविक थी। खूब विचार-विमर्श करके और आगा-पीछा सोचकर उसने रामेश्वर के निकट मंदराचल की समुद्रमग्न पर्वत शृंखला के सहारे, दक्षिण भारत में चुप्रवेश किया। उसने हजारों समर्थ राक्षसों को विविध छद्म वेशों में भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भेजना शुरू किया। वे सब जातियों में रावण द्वारा स्थापित राक्षस-धर्म का प्रचार करते और लोगों को राक्षस बनाते थे। इन घुसपैठियों को केवल समूचे दक्षिणारण्य में ही नहीं, आर्यावर्त के दूर-दूर के प्रदेशों तक उसने सक्रिय कर दिया।

ये राक्षस जान-बूझकर उत्पात मचाते रहते थे। वे ऋषियों अर्थात् तत्कालीन आर्य-विद्वानों और तपस्वियों को मारकर खा जाते थे। यज्ञ में रुधिर-मांस की आहुति डाल कर उन्हें भ्रष्ट करते थे। अनार्यों से मेल-मिलाप रखते थे। इस पर एक बार उसके भाई कुबेर दिक्पाल ने अपना दूत भेजकर निषेध प्रकट किया। रावण ने उसे दुत्कार कर भगा दिया और उल्टे कुबेर को अपने भावी विजय-अभियान की धमकी दे दी। उसने अपनी योजना को आगे बढ़ाते हुए दण्डका रण्य का राज्य अपनी बहिन शूर्पणखा को दिया। अपनी मौसी के बेटे खर और सेनापति दूषण को चौदह हजार सुभट राक्षस देकर उसके साथ भेज दिया। इस प्रकार जन-स्थान और दण्डकारण्य में राक्षसों का अच्छी तरह प्रवेश हो गया। भारत का दक्षिण तट भी अब रावण के लिए सुरक्षित हो गया।

लंका में ताड़का नाम की एक यक्षिणी रहती थी। यह यक्षिणी जम्भ के पुत्र सुंद यक्ष की स्त्री थी। एक बच्चे को जन्म देने के बाद एक युद्ध में अगस्त्य ऋषि

ने सुंद यक्ष को मार डाला था। अगस्त्य के साथ शत्रुता होने के कारण ताड़का ऋषियों से घृणा करती थी। उसने यक्षपति कुबेर से अनुरोध किया था कि वह उसके पति के वैर का बदला अगस्त्य से ले। परन्तु कुबेर अगस्त्य का मित्र था। उसने ताड़का की बात पर कान नहीं दिया। जब रावण ने नई रक्ष-संस्कृति की स्थापना की और कुबेर को लंका से खदेड़ दिया, तो यह दक्षिणी लंका में नहीं गई। उसने अपने पुत्र मारीच सहित उसका राक्षस-धर्म स्वीकार कर लिया। मारीच को होनहार देख रावण ने पहले उसे अपना सेनानायक और फिर मंत्री बनाया।

ताड़का ने रावण के आर्यावर्त-अभियान में सहायक होने की पेशकश की। क्योंकि उसके पिता सुकेतु यक्ष का कभी नैमिषारण्य में राज्य था। अगस्त्य से बदला चुकाने की आग में जल रही ताड़का ने रावण से अनुरोध किया कि वह उसे तथा उसके पुत्र मारीच को कुछ राक्षस योद्धा देकर नैमिषारण्य भेज दे। वहाँ उसके इष्ट-मित्र, सम्बन्धी सहायक बहुत हैं जो राक्षस धर्म स्वीकार कर लेंगे। रावण ने उसकी बात मान ली। उसने सेनानायक मारीच और उसके सहायक सुबाहु राक्षस के साथ राक्षस योद्धाओं का दल देकर ताड़का को नैमिषारण्य भेज दिया।

इस तरह दण्डकारण्य और नैमिषारण्य में रावण के दो सैनिक-सन्निवेश स्थापित हो चुके, समूचे भारतखण्ड, आर्यावर्त तथा देवभूमि तक उसके राक्षस गुमठियों का जाल फैल चुका, तो उसने नाना सुमाली को लंका का प्रबंध सौंप वह छद्मवेश धारण कर एकाकी ही टोही अभियान पर निकल पड़ा।

पहले उसने दण्डकारण्य का सर्वेक्षण आरम्भ किया। इस विशाल अरण्य को महाकान्तार भी कहते थे। इस दुर्गम वन का प्राकृतिक सौंदर्य अनुपम था। बस्ती बहुत विरल थी। राक्षसों का प्राबल्य हो चुका था। शूर्पणखा, खरदूषण के साथ वहीं रहती थी। फिर भी वहाँ कुछ ऋषिगण अपने आर्य उपनिवेश स्थापित किए हुए थे। इनमें शरभंग और सुतीक्ष्ण प्रमुख थे। सुतीक्ष्ण ऋषि का उपनिवेश मन्दाकिनी नदी के तट पर था। यह बहिष्कृत आर्यों का सबसे बड़ा शरणस्थल था। यहीं सबसे महिमावान ऋषि अगस्त्य का उपनिवेश था। यों तो सभी ऋषि राक्षसों से खटते-झगड़ते रहते थे, पर प्रतापी अगस्त्य ने अनेक राक्षसों का वध कर डाला था। इनमें वातापि और इल्वल प्रमुख थे। इससे अगस्त्य का राक्षसों पर आतंक भी था।

वर्तमान नासिक के पास पंचवटी में विनता के पुत्र स्वनामधन्य गरुड़ के भाई अरुण के पुत्र जटायु का उपनिवेश था। गोदावरी के तट पर एक मनोरम स्थान पर यह स्थित था।

शूर्पणखा के सैनिक सन्निवेश को रावण ने अभी तक युद्ध करने की अनुज्ञा नहीं दी थी। वे केवल अपनी संस्कृति का बलात् प्रचार करते, और वहाँ के लोगों को राक्षस बनाने की चेष्टा करते थे। शूर्पणखा के सैनिक खुलकर लोगों से लड़ाई-भिड़ाई तो नहीं करते थे, लेकिन ऋषियों के यज्ञों में अकस्मात छापे डालकर बलि-मांस जबरदस्ती वेदियों में फेंकते, उन्हें पकड़ ले जाते, उनकी बलि देते और नर-मांस भक्षण करते थे।

रावण मतलब की बातों की खोज-खबर लेता घूम रहा था। घूमता-भटकता वह गंधर्वों के देश में जा पहुंचा। आजकल पेशावर से लेकर डेरा गाजी खाँ तक जो प्रदेश है, वह प्राचीन काल में गंधर्वों का देश कहाता था। वहां उसकी भेंट गंधर्वों के राजा मित्रावसु से हुई। मित्रावसु ने उसके परिचय और व्यक्तित्व से प्रभावित होकर अपनी पुत्री चित्रांगदा का उससे विवाह कर दिया। उसके साथ कई विद्याधरी, गंधर्वी अप्सराएं, नागकन्याएं, उसे उपहार में सेवा-टहल के लिए मिलीं। रावण एक अर्से तक वहाँ रमण करता रहा। किन्तु उसका लक्ष्य कुछ और था। गंधर्वराज को जब उसका विचार ज्ञात हुआ तो, फिर लौटकर आने और चित्रांगदा को विदा ले जाने का वचन उससे पाकर, उसने रावण को सहर्ष विदा किया।

अपनी खोज यात्रा में रावण पम्पा सरोवर पहुंचा। सरोवर तट अत्यन्त मनोरम था। पश्चिम तट पर महामुनि मातङ्ग ऋषि का आश्रम था। वहाँ एक हजार बटुक वेद पढ़ते और ब्रह्मचर्य धारण किए रहते थे। आश्रम में अनेक वानर-कुमार ब्रह्मचारी वेद-पाठी थे। अनेक यती, तपस्वी, व्रतधारी, पुरुष-स्त्री वहाँ तपस्या का जीवन बिताते थे। इसी आश्रम में, निषाद जाति की एक तपस्विनी, विदुषी शबरी भी रहती थी।

सरोवर के सम्मुख ही दुराह ऋष्यमूक पर्वत था। वहाँ सर्पों की बहुतायत थी। वन में हाथियों के झुण्ड भी विचरण करते थे। पर्वत के अंचल में बड़ी-बड़ी प्राकृतिक गुफाएं थीं। मातङ्ग ऋषि के आश्रम में सत्कार स्वीकार करने के बाद रावण ने किष्किन्धा नगरी में प्रवेश किया। यह एक वैभवशाली नगर था। वहां वानर-जाति के नागरिकों पर इन्द्र पुत्र वालि और सुग्रीव दो भाई राज्य करते थे।

वालि अजेय वीर था। रावण ने उसके बल-परीक्षण हेतु उससे द्वन्द्व युद्ध की याचना की। यह उन दिनों का प्रचलन था। दोनों का लम्बा मलयुद्ध हुआ। अंत में वालि ने रावण को परास्त कर दिया। रावण ने उसका लोहा मानकर उससे मित्रता स्थापित कर ली।

यहाँ से रावण सीधे हिमालय के अंचल में शम्बल पहुँचा। वहाँ काम का ऊंचा घना जंगल था। कोई राह नहीं मिलती थी। वहीं अकस्मात् उसका प्रत्यक्ष

नदी से हुआ। वह महादेव रुद्र शिव का किंनर था। यह कैलास की उपत्यका थी। देव-दैत्य दोनों शिव को पूज्य मानते थे। नदी ने जब उसे आगे बढ़ने से मना किया तो दोनों का मल्लयुद्ध हुआ। रावण ने नदी को पछाड़ दिया। इस समय तक शोर-शराबा सुनकर शिव के बहुत से गण वहाँ आ गये थे। वे रावण पर आक्रमण करने ही वाले थे कि नदी ने उन्हें रोक दिया। रावण को सत्यवान पुरुष जान वह उसे महादेव रुद्र के पास ले गया।

रावण का परिचय पाकर शिव प्रसन्न हुए। रावण ने अपनी रक्ष-संस्कृति के बारे में बताया। यक्ष-संस्कृति के अधिष्ठाता उसके बड़े भाई कुबेर से रावण के विग्रह की बात उन्हें पता थी। 'सहमत को अभय, असहमत पर कुठार वाले उसके तर्क ने शिव का काफी मनोरंजन किया। किन्तु रावण ने उनसे भी युद्ध याचना की। महादेव ने उसकी याचना स्वीकार कर लिया।

परशु और त्रिशूल के द्वंद्वयुद्ध में रावण को ऐसा प्रतीत हुआ मानो कोई गुरु किसी बालक को युद्ध-शिक्षा दे रहा हो। शिव उसके परशु-प्रहारों को कौशल से विफल कर रहे थे किंतु उस पर त्रिशूल का करारा वार नहीं कर रहे थे। अंत में थक कर हाँफते हुए रावण ने परशु फेंक कर आत्म-समर्पण कर दिया।

आशुतोष शंकर ने तब उसकी रक्ष-संस्कृति का दर्शन जानने की इच्छा प्रकट की। रावण ने बताया कि आर्यों ने आदित्यों से पृथक होकर भरतखण्ड आर्यावर्त बना लिया है। वे निरन्तर आयजनों को बहिष्कृत कर दक्षिणारण्य भेजते रहे हैं। दक्षिणारण्य में इस बहिष्कृत वेद-विहीन तत्वों के अनेक जनपद स्थापित हो गये हैं। फिर भारत सागर के दक्षिण तट पर अनगिनत द्वीप समूहों में, आर्य, अनार्य, देव, यक्ष किंनर, नाग, दैत्य, दानव, असुर परस्पर वैवाहिक संबंध कर के रहते हैं। रक्ष-संस्कृति में इन सभी का समावेश हो, सभी की रक्षा हो। इसी से रावण ने वेद का नया संस्करण किया है और उसमें सभी की क्षेत्रीय परम्पराओं का समावेश किया है। इससे सारा ही भूवंश एक वर्ग और एक संस्कृति के अंतर्गत संगठित होगा। गत वर्षों में तेरह देवासुर संग्राम हो चुके, इनमें इन सगे दायाद बांधवों ने परस्पर लड़कर अपना ही रक्त बहाया। विष्णु ने दैत्यों से छल किए। देवगण अनीति के आदी हो चुके हैं। कश्यप-सागर तट की सारी दैत्य भूमि आदित्यों ने छल बल से छीनी है। देवराज इन्द्र द्वारा अब चौदहवें देवासुर संग्राम की योजना बनाने का समाचार है। ये सब संघर्ष तभी रोके जा सकते हैं, जब सारे भूवंश की संस्कृति एक हो।

इस दर्शन से सारा विवाद ही मिट जाता था। (आधुनिक इतिहास तक ऐसे दर्शनों और उनके विकेन्द्रीकरण की परम्परा रही है। इस विविधता के मूलभूत

कारणों का भी पिछले अध्यायों में हमने दृष्टिक्षेप किया है)। बहरहाल, रुद्र भी देव, दैत्य, असुर दत्यों आदि सबमें प्रीति रखते थे। अतः उन्होंने रावण के सिर पर अपना अभयहस्त रख दिया।

इस तरह दिग्दिगन्त में घूम फिर कर रावण ने पृथ्वी की राजनीतिक और सामरिक सत्ताओं को अपने मन में तौल लिया। अपने सैनिक सन्निवेशों को गुप्त निर्देश देकर वह लंका लौटा। वहां कुछ समय विश्राम के बाद उसने अपनी रक्ष-महासाम्राज्य की योजना पर फिर ध्यान केंद्रित किया। वह धर्म और राजनीति दोनों में सार्वभौमता की स्थापना करने का स्वप्न देख रहा था। अपने प्राणाधिक पुत्र मेघनाद को उसने दिव्य शस्त्रास्त्रों एवं मायावी युद्धकला की शिक्षा के लिए मृत्युंजय रुद्र के पास भेज दिया। महावीर भाई कुम्भकर्ण, महा कूटनीतिज्ञ सुमाली तथा अन्य मंत्रियों से परामर्श किया। पृथ्वी के सब दिक्पालों और लोकपालों को जीतकर उन्हें अपनी रक्ष संस्कृति का डंका बजाना था। वह अभी तक ऋषिकुमार और सप्त द्वीपाधिपति ही था। अब वह पृथ्वी-भर के समस्त भूमा का महिदेव बनना चाहता था।

प्रदीर्घ विचार-विमर्श और तैयारी के बाद रावण ने लंका का राज्यभार विभीषण को सौंपा। राक्षसों की चतुरंग चमू के साथ महोदर, मरीच, शुक्र, सारण और धूम्राक्ष इन छः सेनानायकों व मंत्रियों को लेकर रावण ने लंका से विजय-प्रस्थान किया। पोतों से समुद्र पार उतर, धनुष्कोटि की राह भारत में आया। भारत के सपूर्ण-समुद्र तट की सुरक्षा और शासन का प्रबन्ध किया। खर को वहां का सचिव और दूषण को सेनापति बनाया। आर्यों के प्राबल्य को रोकने के लिए शूर्पणखा को महत्त्वपूर्ण आदेश दिए। इसके बाद वह नर्मदा तट पर महिष्मती नगरी के निकट आ पहुंचा।

नर्मदा तट पर सैनिक सन्निवेश, तथा अम्बुनाद की कन्दुका में लिंग की स्थापना कर रावण आगे बढ़ा। मधुपुरी होते हुए उसने आर्यावर्त में प्रवेश किया। वह नैमिषारण्य आ पहुंचा। किंतु वहां जाकर उसने देखा कि ताड़का राक्षसी नेतृत्व में स्थापित सैनिक सन्निवेश उजड़ चुका है। बड़ी खोज के बाद उसे मारीच का पता चला। वह एक गिरि कंदरा में छिपा हुआ मिला। उससे पता चला कि राम-लक्ष्मण नामक दो मानव-कुमारों ने सब राक्षसों को मार डाला। अकेले ही जीवित बचा है।

उन्होंने रावण को यह भी पता चला कि वे कौशल राज्य के राजकुमार हैं। ऋषि विश्वामित्र उन्हें अपनी सहायता के लिए नैमिषारण्य लाये थे। अकेले ही उन्होंने यह करतब कर दिखाया है। अब वे सीता-स्वयंवर देखने मिथिला की राजधानी जनकपुर गए हैं।

मारीच की जानकारी ने रावण को, उन दोनों मानव-कुमारों तथा सीता को देखने की प्रबल उत्कंठा उत्पन्न की। उसे उस पिनाक धनुष्य के बारे में भी उत्सुकता हुई जो राजा सीरध्वज जनक द्वारा स्वयंवर की शर्त के रूप में रखा गया था। जो उसका संधान करेगा वही त्रैलोक्य-सुंदरी सीता का वर होगा। आर्यावर्त और भरतखण्ड के प्रायः सभी राजा वहाँ पहुँचे हुए थे। पिनाकपाणि के विशिष्ट अनुरोध से दैत्येंद्र बाण महाकाल भी आया हुआ था।

सीता-स्वयंवर की कथा सुपरिचित है। प्रश्न केवल यह उठता है कि वह कैसा विकट दिव्य धनुष्य था, जिसके टूटने मात्र से दसों-दिशाएँ हिल उठी थीं। वाल्मीकि तथा तुलसी रामायण में धनुर्भंग का जो वर्णन है उसके आधार पर कई आधुनिक विद्वानों ने उसे आण्विक प्रक्षेपास्त्र (मिसाइल) का प्रक्षेपक बताया है। रामकथा के आधुनिक उपन्यासकार नरेन्द्र कोहली ने इस यांत्रिक शिव-धनुष के राम द्वारा संधान का बड़ा वैज्ञानिक ढंग से वर्णन किया है। प्रश्न यह है कि क्या उस युग की प्रौद्योगिकी इस सीमा तक पहुँच चुकी थी?

क्या शिव-धनुष्य, क्या मन के वेग से उड़ने वाला पुष्पक विमान, क्या वे तरह-तरह के ब्रह्मास्त्र, नारायणास्त्र, पाशुपतास्त्र, वारुणास्त्र तथा वायव्यास्त्र, सभी इस रोचक प्रश्न को हमारे सामने उपस्थित करते हैं। महाभारत काल तक हम इन अस्त्र-शस्त्रों तथा विमानों की करामाती दुनिया से दो-दो चार होते हैं। इसके बाद सारे इतिहास में इन वस्तुओं का कहीं कोई अता-पता नहीं मिलता। ऐसा कैसे और क्यों हुआ? क्या ये केवल प्रतिभाशाली कवियों की गपोड़शंखी कल्पनाएँ मात्र थीं? अथर्ववेद में विमान विद्या का एक प्रकरण अवश्य मिलता है। उसकी प्राचीन पाण्डुलिपि भी प्राप्त हुई है। किन्तु उस फार्मूले से कोई आज मन के वेग से जानेवाला, या कोई अन्य विमान बनाना चाहे तो निराशा ही उसके हाथ लगेगी।

इस गुत्थी की एक व्याख्या यह दी जाती है कि महाभारत युद्ध की विभीषिका में इन अस्त्र-शस्त्रों की भयानकता का अनुभव हो जाने के बाद, उन्हें निषिद्ध करार दे दिया गया। ऋषि महर्षि जो उस युग के आविष्कारक और वैज्ञानिक भी थे, यांत्रिक तरीके से इन घातक विद्याओं की परम्परागत शिक्षा को इस प्रकार लुप्त कर देने में सफल रहे कि वह सब धरातल से ही विदा हो गई।

उनके लिए ऐसा करना अपेक्षाकृत सरल इसलिए रहा होगा कि ये विद्याएँ भौतिकशास्त्र पर नहीं बल्कि पराभौतिक शक्तियों पर आधारित थीं। आधुनिक विज्ञान-कथाओं में जिस ट्रांसपोर्टेशन अथवा वस्तु को बिना किसी प्रत्यक्ष माध्यम के एक स्थान से करोड़ों मील दूरी पर स्थानान्तरित करने की कल्पना की जाती है, वह सिद्धान्त तो सम्भव है। आखिर यह कथा की अधिक सरसता और रहस्य का

तरगदैर्घ्य बदलने की ही समस्या तो है। जिस प्रकार ध्वनि और प्रकाश की तरगों को विद्युत् लहरों मे बदलकर रेडियो और टी०वी० उन्हें स्थानातरित और फिर पूर्ववत् रूपान्तरित कर देते हैं उसी प्रकार सदेह स्थानांतरण भी सिद्धातत सभव है। पराभौतिक यानी प्राणिक, मानसिक और आध्यात्मिक तरगें सूक्ष्मता और क्षिप्रता मे कही अधिक किंतु सारतत्व मे वही होती हैं। यही कारण है कि सामान्य बाण ही मत्रसिद्ध होकर ब्रह्मास्त्र अथवा, वायव्यास्त्र के परिणाम उत्पन्न कर सकता था। एक बार मे अस्त्र प्रक्षेपित करने के बाद वापस भी लिए जा सकते थे। अत अवश्य ही वे मत्रचालित रहे होगे ? जो किसी व्यक्ति के वश मे रहते थे।

इसका एक आधुनिक साक्ष्य इस समय भी सदेह-सप्राण उपस्थित है। अब उस पर कहाँ तक विश्वास किया जाय यह हमारे अपने चुनाव पर निर्भर है। रामायण काल के एक चरित्र शृगी ऋषि की आत्मा कथित रूप से एक श्रीस्वामी कृष्णदत्त जी के मुँह से उस काल के हाल-हवाल सुनाती रहती है। हजारो लोग इन प्रवचनो पर पूर्ण विश्वास रखते हैं। ये प्रवचन ध्वनिमुद्रित एव प्रकाशित भी किये गये हैं। उनमे, इन अस्त्रो, विमान विद्या, सूर्यविद्या, आग्नेयी आदि विषयो की ऐसी कुछ व्याख्याएँ प्रस्तुत है, जो पाठक को वास्तव मे सोचने पर बाध्य कर देती है। इससे भी बढकर आश्चर्य की बात यह है कि मेरठ के पास बरनावा—जिसे महाभारत कालीन वारणावत बताया जाता है—स्थित यह स्वामीजी प्रारभ मे निपट-अनपढ गवार थे। बचपन मे ही जड भरत की तरह भटकते रहते थे। अकस्मात् एक दिन जब वह पीठ के बल लेटे थे तो लेटे-लेटे ही बायें बाये हिलने लगे और उनके मुँह से मसृण वचनो की झडी लग गई। इससे पहले, गडरियो के साथ पले इस बालक के लिए काला अक्षर भैंस बराबर था।

इन्ही प्रवचनो से पता चला कि रामायण कालीन शृगी ऋषि की आत्मा किसी विशेष प्रयोजन स स्वामीजी के माध्यम से प्रकट हुई है। धीरे-धीरे लोगो मे उत्कण्ठा और आस्था जागी। स्वामीजी के लिए एक आश्रम भी स्थापित किया गया। उनके प्रवचन भी यत्र-तत्र कराये जाने लगे। उनकी विशेषता यह है कि बाकी समय वे एक निरीह अनपढ व्यक्ति बने रहते हैं। प्रवचन से पहले उन्हे उस विशिष्ट मुद्रा मे आना पडता है।

ध्वन्यकित प्रवचनो के सपादित तथा पुस्तकाकार प्रकाशित अशो से पता चलता है कि यह वही शृगी ऋषि थे जिन्होने दशरथ के लिए पुत्रकामेष्टि यज्ञ कराया था। वे दशरथ के जामाता भी थे और उनकी ज्येष्ठ पुत्री शान्ता से उनका विवाह हुआ था। शृगी ऋषि ब्रह्मचारी कृष्णदत्तजी के मुख से रामायण-महाभारत काल के कई पात्रो के बारे मे सनसनीखेज बातें बताते है। इस अभिव्यक्ति मे कही-कही ठेठ भेदसपन और विशृंखल, अटपटापन भी काफी झलकता है। फिर भी

बहुत सारी पते की बातें भी होती हैं, जो कहीं इतिहास या विज्ञान की पुस्तकों में नहीं मिलतीं। उदाहरण के लिए हनुमानजी सूक्ष्म-विज्ञान के प्रकाण्ड ज्ञाता थे, उन दिनों के वैज्ञानिक अणु-परमाणुओं के अलावा त्रसरेणु आदि अन्य आधिक तत्त्वों को जानते थे, जिनके बल पर सूक्ष्म को स्थूल में और स्थूल को सूक्ष्म में बदलने जैसे कठिन चमत्कार कर सकते थे। अन्तरिक्ष में तैरती हुई मनचाही ध्वनि एवं प्रकाश-तरंगों तक को वे पकड़ सकते थे और किसी भी देश-काल के व्यक्ति से बैठे-बैठे साक्षात्कार कर सकते थे। वे अनन्त ब्रह्माण्ड में यथा-इच्छा मनोवेग से भ्रमण करनेवाले सूक्ष्मदर्शी यान बना सकते थे। आदि-आदि

जरूरी नहीं कि इन उद्घाटित तथ्यों को सत्य मान लिया जाये। ये वर्णित चमत्कार की व्याख्या तो कुछ कर सकते हैं, किन्तु यह व्याख्या तब तक अधूरी रह जायेगी जब तक कि वह इन प्राचीन आविष्कारों को आज कुछ न कुछ प्रत्यक्ष न कर सके, वैज्ञानिक कसौटियों पर उनकी जाँच पड़ताल न हो सके, और उनका उपयोग, सर्वजन सुलभ न हो सके। क्योंकि यह मात्र दार्शनिक या आध्यात्मिक क्षेत्र की व्याख्या नहीं है, अपितु ठोस भौतिक परिणामों से सम्बन्धित तत्त्वों और शक्तियों की व्याख्या है। सम्भवतः तब परामौतिक विज्ञान भी हमारे लिए अभी भविष्य की चीज है। किन्तु सम्भावना के क्षेत्र में यह तर्कातीत या तर्कविरुद्ध नहीं कहा जा सकता।

अब हम फिर रावण की ओर मुड़ते हैं। इस स्वयंवर प्रसंग में उसकी भूमिका कमाल के एक दर्शक की बनी रही। जिस धनुष को असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, नाग, किन्नर, उरग तथा अन्य नृपति चढ़ा नहीं पाये, उसे उस कुमार ने देखते-देखते बल और कौशल से संधान कर तोड़ फेंका था। यह देखकर रावण स्तम्भित रह गया।

धनुष-यज्ञ से लौटकर उसने अपना सार्वभौम अभियान जारी कर लिया। उसके हजारों राक्षस इस बीच में हिमालय की उपत्यकाओं में कुम्भकर्ण और सुमाली के नेतृत्व में उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उसके धनगुरु और रसगुरु रुद्र-महादेव का आशीर्वाद उसकी पीठ पर था। नैमिषारण्य से मारीच राक्षससेना लिए गन्धमादन की ओर कूच कर चुका था। रावण ने अविलम्ब कूच करते हुए उत्तर कोशल राज्य की सीमा में प्रवेश किया। वहाँ प्रतापी अनरण्य का राज्य था। किन्तु रावण से हुई टक्कर में वह टिक नहीं सका। अपनी सेना समेत भाग गया।

जब रावण गन्धमादन की ओर था उसी, कुम्भकर्ण, सुमाली, मेघनाद पहले ही पहुँचे हुए थे। यक्ष और राक्षसों के निकट में पहुँचे तो यक्षों ने सामना। वे छक्के छुड़ा दिये लेकिन क्रमशः रावण, कुम्भकर्ण उनपर भारी पड़ गये। द्वार-रक्षकों को मारकर रावण सुमाली सहित अलकापुरी में घुस गया कुबेर ने उसका प्रतिकार क

के लिए मणिभद्र यक्ष को चार हजार सेना देकर भेजा किंतु वह भी पराजित होकर भाग गया। तब कुबेर ने स्वयं पुष्पक विमान में बैठकर यक्षों की सेना-सहित युद्ध-भूमि में प्रवेश किया।

दोनों भाइयों में भयंकर गदायुद्ध हुआ। अंत में रावण का गहरा आघात मस्तक पर खाकर कुबेर मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। उसके सेवक उसे उठाकर रण से ले भागे। रावण ने कुबेर के पुष्पक विमान पर अधिकार कर लिया। यह विमान त्वष्टा विश्वकर्मा ने कुबेर के लिए बनवाया था। रावण उस पर बैठ तेजी से हिमालय को लांघकर देवाधिदेव रुद्र के आवास कैलाश शिखर पर जा उतरा।

शिव ने रावण की अभ्यर्थना की। रावण ने उन्हें प्रणिपात किया। रुद्र ने बताया कि उसका पुत्र मेघनाद, उनके दिए सभी दिव्यास्त्रों से सम्पन्न हो गया है। अब वह देवदैत्य सभी से अजेय है। प्रसन्नमन, पुत्र को साथ ले, रुद्र की अनुमति से वह लौट पड़ा। लौटते हुए उसकी भेंट नारद-वामदेव से हुई। देवर्षि नारद ने उसे परामर्श दिया कि वह अपवर्त जाकर यम, वारुणेय, इन्द्र आदि देव राजाओं को जय करे, फिर नागों को पाताल में विजय करे। रावण ने यह सलाह मान ली।

अपवर्त जाते हुए वह मित्रावसु गंधर्व की पुरी अपने ससुराल गया। वहाँ सबसे मिल-मिलाकर गंधर्वों की सेना सहायतार्थ ले आगे बढ़ा। राक्षसों की चतुरंग चमू 'आर्यवीर्यवान्' क्षेत्र में आ पहुँची। वहाँ इन्द्र सखा मरुत् ब्रह्मर्षि संवर्त के नेतृत्व में यज्ञ कर रहे थे। यज्ञ में देवेन्द्र सहित सभी देवता उपस्थित थे। किंतु वहाँ महर्षि संवर्त के बीच-बचाव के कारण यज्ञ-भूमि युद्धभूमि बनने से बच गई। अपवर्त में यमराज की महिष-सेना से उसका सामना हुआ। किंतु दुर्धर्ष रावण के आगे वह टिक न सकी। यमराज मैदान छोड़ भागे। अपवर्त से रावण वरुणलोक पहुँचा। वारुणेयों से उसका घमासान युद्ध ठन गया। वारुणेयों से उसने अप्सरा हेमा को लौटाने की माँग की। उर नगर भी मय दानव के लिए मांगा। युद्धभूमि में ही हेमा के वर्तमान स्वामी इन्द्रद्युम्न वारुणेय का मयदानव से द्वंद्व हुआ। इन्द्रद्युम्न मारा गया। इस प्रकार प्रिय मंदोदरी को दिया वचन निभाते हुए रावण ने मय को पत्नी तथा उर नगर दिला दिया।

उर नगर में कुछ विश्राम के बाद राक्षस सेना अमरावती की ओर बढ़ी। वहाँ पहुँच कर उसने अपने पुत्र मेघनाद को युद्ध का नेतृत्व करने का अवसर दिया। देवराज इन्द्र ने पहले अपने पुत्र जयन्त को उसका सामना करने भेजा। मेघनाद ने 'मायाचक्र' से युद्धभूमि में घोर अंधकार फैला दिया। राक्षसों की मार से देवकुल आतंकित हो गया। जयन्त का सारथि मातुलि मूर्च्छित हो गया। जयन्त मेघनाद के प्रहारों से जर्जर हो गया। तब जयन्त के नाना दानवेन्द्र पुलोमा

उसे बचाते हुए उठा ले भागे।

इन्द्र को स्वयं युद्धभूमि में उतरना पड़ा। मेघनाद के शक्ति प्रहार से इन्द्र व्याकुल हो गया। तब मेघनाद निःशंक इन्द्र के रथ पर चढ़ गया और उसे जकड़कर रश्मियों से बांध, गर्जना करता हुआ, राक्षसों की सेना में उठा ले आया।

इन्द्र को बंदी बना देख रावण ने युद्ध रुकवा दिया। मेघनाद उसी दिन से इन्द्रजीत के नाम से विख्यात हुआ। बन्दी इन्द्र के साथ रावण ने मेघनाद को, सुरक्षा के लिए बहुत-सी सेना दे पहले लंका भेज दिया। पीछे से वह भी लौट पड़ा।

अब रावण चक्रवर्ती अनाहत विजयी था। उसने देवलोक से एक सहस्र कुमारिकाएं हरण कीं। गन्धर्व-नाग से पत्नी चित्रांगदा को साथ लिया। मार्ग में विभिन्न जातियों के जो भी जनपद पड़े सभी में अपनी विजय-वैजयन्ती फहराता और रक्ष-संस्कृति का डंका पीटता वह बढ़ता चला। सुंदर कन्याओं का अपहरण, विरोधियों का वध करता, पुष्पक यान पर आरूढ़ वह लंका पहुंचा।

इस विजय के उपलक्ष्य में लंका में महोत्सव चला। किंतु तभी रंग में भंग हो गया। अंग-भंग हुई शूर्पणखा, रोती कलपती रावण की शरण में आ पहुंची। रक्षजाति का रक्षक और अभिभावक रावण तथा इक्ष्वाकु वंशीय आर्य राजकुमार राम अब घटनाओं के रंगमंच पर आमने-सामने थे।

आर्यावर्त में इस समय सूर्य वंश की पांच शाखाएं स्थापित थीं। एक—उत्तर कोशल राज्यवंश, दूसरा—दक्षिण कोशल राज्यवंश, तीसरा—आनर्त राज्यवंश, चौथा—मैथिल राज्यवंश और पांचवां—वैशाली राज्यवंश। उत्तर कोशल राज्य-वंश की ३६वीं पीढ़ी में राम का जन्म हुआ था।

इस वंश में अब तक मनु, इक्ष्वाकु, युवनाश्व, बृहदश्व, मान्धाता, त्रसदस्यु, अम्बरीष, दिलीप, रघु और दशरथ विख्यात पुरुष हो चुके थे। दशरथ महारथी योद्धा और प्रतिष्ठित राजा थे। देवराज इन्द्र से उनकी मैत्री संबंध थे। उनकी तीन महिषियां थीं—प्रथम कौशल्या—दक्षिण कोशलाधीश भानुमान् की पुत्री। द्वितीय सुमित्रा—मगधराज पुत्री, तीसरी कैकेयी उत्तर पश्चिमी प्रदेश आनव-नरेश केकय की पुत्री। दशरथ ने सिंधु, सौवीर, सौराष्ट्र, मत्स्य, काशी, दक्षिण कोशल, मगध, अंग, वंग, कलिंग और द्रविड़ नरेशों को जीता था तथा अनेक अश्वमेध यज्ञ किए थे। शिरध्वज के प्रसिद्ध युद्ध में उत्तर-पांचालपति दिवोदास की सहायता की थी। तिमिध्वज शंबर असुर मारा था। राम के व्यक्तित्व और चरित्र को भारत के प्रतिभाशाली कवियों, मनीषियों, ऋषियों, राजनीतिज्ञों, देशभक्तों, क्रान्तिकारियों ने अपने-अपने ढंग से देखा-परखा और समझा है। आदि कवि

वाल्मीकि को वे मर्यादा पुरुषोत्तम प्रतीत हुए। उन्होंने अपने महाकाव्य का उन्हें नायक बनाया। किन्तु यह आर्ष महाकाव्य किसी चारण-भाट का प्रशस्तिगान नहीं था। मानव राम के कमजोर क्षणों को भी वाल्मीकि ने पूरी सत्यनिष्ठा से यथा-तथ्य रेखांकित किया है। किन्तु जैसे जैसे समय बीता, राम की महिमा बढ़ती ही चली गयी। उन्हें न केवल अलौकिकता से मंडित देवत्व, बल्कि युगान्तरकारी अवतार पद भी प्राप्त हुआ। तुलसीदास तक आते-आते वे अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड नायक बन गये। किन्तु इसके साथ ही राम के व्यक्तित्व और चरित्र को अपेक्षाकृत छोटा कर देने वाले लाछन भी उन पर लगाये जाते रहे। आर्यावर्त को भारत-वर्ष बनाने में उनके दक्षिण-अभियान का ऐतिहासिक तथा भौगोलिक महत्त्व माना गया। जन जन के लिए आदर्श के कीर्तिमान उपस्थित कर वे महाकवियों के प्रेरणाकेन्द्र बने। आदर्श राज्यव्यवस्था का भारतीय स्वप्न 'रामराज्य' कहलाया। किन्तु साथ ही आदर्श समाज व्यवस्था के आधुनिक मानदण्डों ने उन्हें कटघरे में खड़े अभियुक्त का रूप भी दे दिया। मूल्यांकन के इन दोनों ध्रुवों का जायजा लेना हमारे लिए जरूरी है।

अवतार क्या है? वह क्यों होता है? हमने पिछले अध्याय में देखा है कि चेतना एक सीढ़ी के सदृश है। अवतार इस सीढ़ी में एक और खण्ड जोड़ देने में समर्थ होता है। वह उस स्थान पर पहुँचता है जहाँ साधारण चेतना पहले कभी नहीं पहुँची थी। वह उच्चतम दिव्य स्तर तक पहुँच जाता है किन्तु भौतिक स्तर से सारा सम्पर्क नहीं खोता। यह सम्पर्क खोये बिना ही वह उस सीढ़ी में यह एक और खण्ड जोड़ देता है। उस ऊपरी सिरे को, विभिन्न स्तरों के बीच के सभी सम्बन्धों को बरकरार रखते हुए, वह निचली तह के साथ जोड़ देता है। राम के मामले में यह उच्चतम स्तर अंतरात्मा-प्रधान मन का और निचला स्तर प्राण प्रधान मन का है। अवतार की सिद्धि का रहस्य ऊपर और नीचे जाना तथा शिखर के सत् चित् आनन्द को अधोभाग के साथ युक्त कर देना है। अवतार इस सीढ़ी में नया खण्ड जोड़ देता है और पृथ्वी पर एक नयी सृष्टि हो जाती है। राम के अवतरण ने अंतरात्मा प्रधान मन की सृष्टि को संभव किया। जिन्हें उनकी मर्यादाएँ कहा गया है, वे दरअसल उस मन की अभिव्यक्तिगत मर्यादाएं हैं। इस दृष्टि से हम देखें तो उनकी मर्यादाएं उनकी पूर्णता को खण्डित नहीं करतीं। ये उस निचले स्तर को बताती हैं, जहाँ से अवतार को अपना काम शुरू करना पड़ा। अवतार को अकेला अपना नहीं बल्कि पूरे विश्व का बोझ लादे, एक बड़ी चढ़ाई पार करनी होती है।

उदाहरण के लिए सीता और शबूक के प्रसंग को लेकर आधुनिक बुद्धि जीवी राम के व्यक्तित्व और चरित्र पर सर्वाधिक लाछन लगाते हैं। यहाँ तक कि वे

राम की समस्त महिमा तक को नकार देने। इनमें केवल आर्य-अनार्य विग्रह के गड़े मुर्दे उखाड़कर भेदमूलक राजनीति करने वाले निहित स्वार्थ, ही नहीं है, बल्कि सच्चे मन से तर्क करने वाले मनीषी भी हैं।

राम को अभियुक्त के कटघरे में खड़ा करते हुए वे यह कहते हैं कि राम ने रावण से युद्ध सीता के प्रेम के कारण नहीं बल्कि अपनी कथित झूठी कुलमर्यादा के लिए किया। युद्धोपरांत वाल्मीकि के शब्दों में उन्होंने स्पष्ट कहा था कि युद्ध मैंने कुल मर्यादा की रक्षा के लिए किया था। तुम अब स्वतन्त्र हो। चाहो तो लक्ष्मण के साथ रहो, चाहो तो भरत शत्रुघ्न या विभीषण के साथ। वाल्मीकि रामायण के लंका काण्ड के एक सौ पन्द्रहवें सर्ग में वे कहते हैं, "भद्रे, युद्ध में पराजित कर मैंने तुम्हें उसके (रावण के) चंगुल से छुड़ा लिया। अब मेरे अमर्ष का अन्त हो गया था। मुझ पर जो कलंक लगा था, उसका मैंने मार्जन कर लिया। मैंने यह सब तुम्हें पाने हेतु नहीं किया अपितु सदाचार की रक्षा अपने कुल पर लगे कलंक के परिमार्जन हेतु ही किया है। तुम्हारे ऊपर संदेह किया जा सकता है। रावण तुम्हें गोद में उठा कर ले गया। तुम्हारे जैसी सुन्दर स्त्री से दूर रहने का कष्ट रावण सह नहीं सका होगा। अब मैं तुम्हें कैसे ग्रहण कर सकता हूँ? तुम मेरी तरफ से स्वतन्त्र हो, और अपनी इच्छानुसार, जहां जिसके भी पास तुम्हें सुख मिले जा सकती हो।"

यह सुन सीताजी व्यथित होती हैं। वे भरी सभा में हुए अपमान के कारण रोने लगती हैं। वे कहती हैं 'वीर! आप ऐसी कठोर अनुचित, कर्णकटु व रूखी बातें, मुझसे क्यों कह रहे हैं? जैसे कोई निम्न कोटि का पुरुष, निम्न कोटि की स्त्री से न कहने योग्य बात भी कह डालता है, उसी तरह की बात आप भी मुझ से कह रहे हैं। मेरा जो रावण से स्पर्श हुआ वह पराधीनतावश था। मेरा मन तो सदा आप में ही लगा रहा।"

इसके बाद वे अपने अनुराग व छोटी अवस्था में हुए विवाह की याद दिलाती हैं तथा लक्ष्मण से चिता तैयार करने के लिए कहती हैं। लक्ष्मण जी भी राम की सहमति पा चिता तैयार करते हैं। सीताजी अपनी सच्चरित्रता व शुद्धता की सौगंध खा अग्नि में कूद जाती हैं। देवताओं के त्राहि त्राहि करने पर राम सीता को अपना तो लेते हैं, लेकिन उनके पातिव्रत की अग्नि परीक्षा लेने के बाद ही।

अयोध्या लौटने पर कुछ दिन बीतने के बाद राम को मालूम पड़ता है कि उनकी जग हँसाई हो रही है। क्योंकि अग्निपरीक्षा अयोध्या वासियों ने अपनी आँखों से तो देखी नहीं थी। इस जग हँसाई से पुरुषोत्तम राम इतने विचलित हो जाते हैं कि आग में परखी हुई सीता को घर से निकाल देते हैं। जीवन भर स्वप्न में भी परपुरुष की कल्पना न करने, रावण के आतंक और प्रलोभन दोनों की

उपेक्षा करने का यह पुरस्कार सीता को मिलता है—लांछन, कलंक और वनवास जब वह प्रथम और आखिरी बार गर्भवती होती हैं। वनवास के निर्णय की सूचना तक सीता को वन में ले जाकर लक्ष्मण द्वारा दी जाती है और मर्माहत सीता पर-कटी पक्षिणी की तरह करुण, क्रंदन कर उठती है।

एक और गहरा आरोप राम पर शंबूक के वध का लगाया जाता है। एक शूद्र द्वारा तपस्या का किया जाना इतना भयंकर अपराध हो गया कि उसे जान से मारना आवश्यक हो गया। तर्क यह था कि शूद्र की तपस्या के अनाचार के कारण ब्राह्मण के पुत्र की अकाल मृत्यु हो गयी और यह कि शंबूक के मरने पर उस ब्राह्मण का पुत्र जीवित हो गया।

बुद्धि जीवियों के अनुसार सीता और शंबूक अलग-अलग संदर्भों में, स्थापित व्यवस्था की मर्यादा के लिए चुनौती बन गये थे। संदर्भ अलग थे, लेकिन कारण असल में एक ही था। दोनों के पक्ष को अपने समय की अदालत में रखते हुए यह आधुनिक बुद्धि जीवी कहते हैं कि दोनों ने अपने आपको स्त्री और शूद्र भर नहीं, मनुष्य समझना चाहा। एक ने बतौर 'स्त्री' के अपने प्रेम पर विश्वास किया, अपनी पवित्रता सिद्ध करने की कोशिश की। दूसरे ने बावजूद 'शूद्र' होने के तपस्या करने की जुरत की। सीता और शंबूक दोनों का अपराध था—अपनी औकात से बाहर जाना।

सीता स्वेच्छा से रावण के साथ नहीं गई थी। लेकिन 'स्त्री' की पवित्रता तो ऐसी चीज है, जिसे तय करने और जांचने का काम सामाजिक सत्ता करती है। उस सत्ता को, जो स्त्री को एक ओर तो देवी कहकर छलती है, दूसरी ओर उसके शरीर, मन, व्यक्तित्व पर उसका कोई अधिकार स्वीकार नहीं करती। शंबूक भी कोई चोरी-डकैती करता नहीं मारा गया था, लेकिन शूद्र हो कर भी वह पुण्यात्मा बनने के सपने देख रहा था। औकात भूलने का वही अक्षम्य अपराध उसने किया था।

अभियुक्त राम का बचाव कई तरह से किया गया है। एक बचाव यह था कि यह सब, जान-बूझ कर समाज में विग्रह पैदा करने के लिए जोड़ी गई कथाएँ हैं। मूल-चरित की छवि को किन्हीं स्वार्थों के कारण विकृत करने के लिए बाद में प्रविष्ट प्रक्षिप्त अंश हैं। तुलसीदास ने तो सीधे-सीधे इन्हें अपनी कथा से हटा दिया है। एक बचाव माया-सीता का है, जो देवों ऋषियों द्वारा रचित राक्षस-विरोधी कूटनीतिक षडयंत्र का हिस्सा-एक नकली सीता थी। असली सीता का न तो वनवास हुआ न हरण, न अग्नि परीक्षा। राम का वनवास भी आर्य ऋषियों व देवों की एक सोची समझी रणनीति से घटित हुआ था ताकि रावण और उसकी रक्ष-संस्कृति का निर्मूलन किया जा सके।

तीसरा बचाव यह तद्रूप प्रश्न उपस्थित करता है कि राजा को अपने राज-धर्म और गृहस्थ धर्म में से एक को चुनना हो तो किसे चुना जाना चाहिए? आज-कल की राजनीति अपने परिवार के हित को पहले चुनती है और राज्य के हित का बाद में। ऐसी वितृष्णा का शिकार राम के त्याग को नहीं समझ सकता। स्वयं राम ने सीता त्याग के पश्चात् वही सुख और सुविधाएं ली थीं, जो वाल्मीकि के आश्रम में सीता को प्राप्त थीं। धरातल शय्या घास-फूस का बिछावन उन्हें वही कष्ट या सुख देता था, जो आश्रम में सीता को प्राप्त था। पूरा जीवन उन्होंने एकाकी काटा और अंतत सीता की विरह ज्वाला में तपकर, जल-समाधि ले ली। व्यक्ति राम और राजा राम के द्वन्द्व में व्यक्ति राम पराभूत हुए, राजा राम विजयी।

शम्बूक के विषय में राजा राम का बचाव इस तरह किया जाता है कि तपस्या और शूद्र इन दोनों शब्दों की सही व्याख्या आवश्यक है। तपस्या एक माध्यम है जिसमें सिद्धि के लिए शुचिता का होना अनिवार्य है तभी कल्याणकारी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। अन्यथा उसका परिणाम लक्ष्य से चूकी मिसाइल की तरह अनर्थकारी हो सकता है। शूद्र एक स्थिति है न कि जाति। मनुस्मृति के अनुसार ब्राह्मण भी शुचिता न होने पर शूद्र बन जाता है। स्वयं वाल्मीकि शूद्र स्थिति से निकल कर शुचिता धारण करने पर महर्षि बन गये। मातंग ऋषि मूलतः शूद्र थे, जो रामायण काल के विख्यात ऋषि और राम के आतिथेय बने।

गौतम ऋषि की बलात्कारिता शापग्रस्ता पत्नी अहिल्या का स्वयं चल कर उद्धार करने वाले और उसे पुनः सामाजिक प्रतिष्ठा दिलाने वाले राम क्या इतने सशंकित थे कि सीता की स्थिति और यथार्थ को न समझ पाते? सबसे पहले लोक-रंजक राजा के रूप में एक काँटा का तार उनके मन में रहता चला और उनने आमरण लहू-लुहान होते रहना पसंद किया।

लेकिन इन जवाब से अभियोजकों का संतोष नहीं होता। वे कहते हैं कि अशुद्ध व्यक्तित्व द्वारा मिसाइल का प्रयोग घातक हो सकता है क्योंकि मिसाइलों का निर्माण ही नाश के लिए होता है। लेकिन तपस्या से शील शम्बूक जैसा व्यक्ति अगर मार्ग से भटक जाए तो उसी का व्यक्तिगत नुकसान होता है न कि समाज का। इस तरह भी ऐसा उदाहरण नहीं बन सकता जब किसी तपस्वी की असफलता का परिणाम समाज को झेलना पड़ा हो।

राम पर आरोपों की सूची को बढ़ाते हुए ये अभियोजक कहते हैं कि वाल्मीकि स्वतः पहले न ही शूद्र माने जाते हैं। वे तो ब्राह्मण थे। ऋषि प्रचेता के दसवें पुत्र और प्रचेता वशिष्ठ, नारद जैसे श्रेष्ठ मुनियों के भाई थे। राम ने शूद्र तपस्वी का वध कर ग्लानि तो दर्शायी कि बहुत भूखे थे। वस्तुतः राज में दासी दर्शन का

कि जंगल में किसी का तो सहारा लेना ही था। बाली को धोखे से मारा। रावण के घर में अपना भेदिया पैदा किया, आदि आदि

राम का दो विरोधी दृष्टिकोणों से मूल्यांकन त्रेता युग के साथ समाप्त नहीं हुआ है। भक्तों और अभक्तों में वे अब भी एक जीवंत उपस्थिति बने हुए हैं। वैसे उनके खिलाफ प्रगतिशील उदारपंथी बुद्धिजीवियों की प्रतिक्रिया व्यापकतर समाज के लिए अप्रासंगिक ही है। प्रभाव और सामाजिक जुड़ाव की दृष्टि से ये बुद्धिजीवि परजीवी पौधों की तरह नजर आते हैं। *उनका अस्तित्व ही सामाजिक* अलगाव से परिभाषित होता है। उनकी चिंताएँ अलग किस्म की हैं और मुहावरा अलग प्रकार का है। इनके मुकाबले दूसरी ओर वोट और नोट की रामभक्ति खड़ी नजर आती है। भारतीय चेतना की मुख्यधारा का प्रशस्त पाट इन दोनों तटों के बीच होकर बहता है।

राम ने *यदि उत्तर-दक्षिण को मिलाया तो कृष्ण ने भारत के पूर्व-पश्चिम को* एक किया। द्वारका से असम के ठेठ प्राग्ज्योतिषपुर तक उनके साहसिक अभियानों ने इस एकता का पथ निर्मित किया। राम जिन मर्यादाओं से बद्ध थे, कृष्ण ने वे एक नहीं मानीं। गीता में जिस पुरुषोत्तम को उन्होंने परिभाषित किया है, वह त्रिगुणों से उत्पन्न समस्त सीमाओं से मुक्त है। पूर्ण आध्यात्मिक समता में प्रतिष्ठित है। एक अधिमानसिक प्राणी है। वह मुक्त योगी है। वह चाहे जो भी कर्म करे, चाहे जिस प्रकार रहे, वह सदा ईश्वर में ही, उनके स्वातन्त्र्य और अमृतत्व की शक्ति में ही, अनंत के विधान में ही रहता-सहता है, उसी में चलता फिरता और सब काम काज करता है।

गीता में देवों की देव और असुर सत्ताएँ अपना आध्यात्मिक अर्थ प्राप्त कर व्यवहारतः हम देखते हैं कि मनुष्य, कम से कम एक स्तर विशेष से ऊपर के मनुष्य अधिकतर दो श्रेणियों के अन्दर आते हैं। एक तो वे लोग हैं, जिनमें सात्विक प्रकृति अत्यंत प्रबल होती है। वे स्वभावतः ही ज्ञान, आत्म-संयम, परोपकार तथा पूर्णता की ओर मुड़े रहते हैं। दूसरे वे जिनमें राजसिक प्रकृति अत्यंत प्रबल होती है। यह अपमन्य महत्ता एवं कामनापूर्ति की ओर मुड़ी रहती है। अपने निजी दृढ़ मन्तव्य एवं व्यक्तित्व में आसक्तिपूर्ण रति रखती है। अपने उस दृढ़ मन्तव्य और व्यक्तित्व को वे मनुष्य भगवान की सेवा के लिए नहीं बल्कि अपने अभिमान, यश और सुख के लिए जगत पर लादना चाहते हैं। ये देवों और दानवों या असुरों के मानवीय प्रतिनिधि हैं।

रामायण, अपने मूल नैतिक भाव में, मानवरूपधारी देव तथा मूर्तिमत राक्षस के बीच होनेवाले घनघोर संघर्ष का रूपक है। उच्च संस्कृति एवं धर्म के प्रतिनिधि तथा अतिरंजित अहं की विराट असंयत शक्ति एवं भीमकाय सभ्यता के बीच

होनेवाले संग्राम की कथा है। महाभारत—गीता जिसका एक अंश है—मानवरूप देवों और असुरों के जीवनव्यापी संघर्ष की गाथा है। देव वे शक्तिशाली मनुष्य हैं, देवताओं के पुत्र हैं जो उच्च नैतिक धर्म के प्रकाश से परिचालित होते हैं। असुर वे मूर्तिमंत दानव हैं, वे शक्तिशाली मनुष्य हैं जो अपने बौद्धिक, प्राणिक और भौतिक अहं की सेवा में रत हैं।

प्राचीन मानवों का मन भौतिक आवरण के पीछे छिपे हुए वस्तुओं के सत्य की ओर आधुनिक मन की अपेक्षा अधिक खुला हुआ था। वह मनुष्य जीवन के पीछे महान दैवत्व शक्तियों या सत्ताओं को देखता था। ये विश्व-शक्ति की कुछ एक प्रवृत्तियां या कोटियों की, दैवी, आसुरी, राक्षसी और पैशाची प्रवृत्तियां या कोटियां की प्रतिनिधि हैं। जो लोग अपने अन्दर प्रकृति की इन विशिष्ट प्रवृत्तियों का प्रबल रूप में प्रतिनिधित्व करते थे, वे स्वयं भी देव, असुर, राक्षस और पिशाच समझे जाते थे। ईश्वर ज्ञान, मुक्ति और पूर्णता का प्रतिरोध करने वाली आसुरी और राक्षसी प्रकृति का वर्णन विस्तार से गीता करती है। वह दैवी और आसुरी संपदा के बारे में हमें बताती है।

दैवी प्रकृति का मुख्य लक्षण है निर्मलता और दानवी प्रकृति का विक्षुब्धता। दैवी प्रकृति सात्विक अभ्यासों एवं गुणों का चरमोत्कर्ष है। आत्म संयम, दम (त्याग), धार्मिक प्रवृत्ति, शुद्धता और पवित्रता, ऋजुता और सरलता, सत्य, शांति, भूतदया, शालीनता, मृदुता, क्षमा, धीरता और स्थिरता दैवी गुण संपदा है। आसुरी गुण हैं क्रोध, लोभ, दंभ, छल-कपट, परद्रोह, दर्प, अभिमान। आसुरी मनुष्य में न तो सत्य होता है, न शुद्ध कर्म, न सत्याचरण। स्वतुष्टि की विशाल क्रीड़ा के सिवा वे इस जगत में और कुछ नहीं देखते। उनका जगत एक ऐसा जगत है जिसका मूल बीज 'कामना' है। 'कामना' ही उसकी नियामक शक्ति एवं विधान है। उनका जगत् आकस्मिकता का जगत् है। उसमें कोई युक्तिसंगत संबंध या कर्मशृंखला नहीं है। वह ईश्वर विहीन है, तथा सत्य रूप आधार से निर्मुक्त है। वे चाहे कोई भी अच्छा नैतिक या उच्च धार्मिक सिद्धांत क्यों न मानते हों, फिर भी कार्य क्षेत्र में उनकी मन बुद्धि का वास्तविक सिद्धान्त यही 'कामना' होती है। आसुरी मनुष्य एक भयानक, दानवीय, उग्र कर्म का केंद्र या यंत्र बन जाता। वह जगत् में एक संहारकारी शक्ति, अहित और अनिष्ट का मूल स्रोत होता है। दंभ और मान से परिपूर्ण अभिमान के नशे में चूर पथभ्रष्ट जीव जीव, अज्ञान से विमूढ़ हो जाते हैं। मिथ्या और आत्मपूर्ण उद्देश्यों पर अड़े रहते हैं। अपनी लालसाओं के अपवित्र लक्ष्य का दृढ़तापूर्वक अनुसरण करते हैं। वे समझते हैं कि कामना एवं उपभोग ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। इस दुष्पूरणीय तृष्णा का वहन पीड़ा करते हुए वे मृत्यु काल तक दौड़ते रहते हैं। एक

सर्वग्रासी, अनंत-अपरिमेय चिंता और उधेड़बुन, आयास और आतुरता के शिकार रहते हैं। सैकड़ों पाशों से बद्ध, काम और क्रोध से ग्रस्त दिन-रात अपने कामपभोग तथा तृष्णा की पूर्ति के लिए अर्थ-संचय में लगे रहते हैं।

वे सदा यही सोचते हैं कि, "आज मेरा यह मनोरथ पूरा हो गया, कल वह दूसरा पूरा हो जायेगा, आज मुझे इतना धन प्राप्त हो गया, कल और प्राप्त हो जायेगा। अपने अमुक शत्रु का मैंने वध कर लिया, बाकियों का भी वध कर डालूंगा। मैं मनुष्यों का ईश्वर और राजा हूं। मैं पूर्ण, सिद्ध, बलवान, सुखी और भाग्यशाली हूं। मैं ही जगत् के सब भोगों का अधिकारी हूं। मैं धनवान हूं, कुलीन हूं। मेरे समान महा और कौन है ?"

ये आसुरी सोच के मनुष्य अपने कर्मों से अपने ही दुष्कृत के मलिन नरक में पतित होते हैं। वे यज्ञ और दान भी करते हैं, तो प्रदर्शन के साथ, कठोर गर्व तथा जड़तापूर्ण मद के साथ। अपने बल-सामर्थ्य के अहंकार में, दर्प और क्रोध के आवेश में, वे अपने अंदर छिपे हुए तथा मनुष्यमात्र में विद्यमान परमेश्वर को घृणा, तुच्छता और अवहेलना की दृष्टि से देखते हैं।

जैसा कि हमने देखा है, जैसे अतिभौतिक स्तरों में देवों के लोक हैं, वैसे असुरों के भी लोक हैं। वहां की गतिधारा आध्यात्मिक क्रमविकास के नियम के द्वारा नियंत्रित नहीं है। वे एक तरह से स्थिर और प्रारूप योनियां हैं। यानी इन लोकों में जो जीव रहते हैं, उनके रूप अपरिवर्तनीय हैं। वे विश्व की प्रगति के लिए आवश्यक पूर्ण दिव्य सृष्टि-लीला को सहारा देते हैं। ये सत्ता के इस भौतिक स्तर में भूतल पर प्रभाव डालते हैं। मनुष्य के ही नहीं बल्कि राष्ट्रों और मानव-समूहों के जीवन और उसकी प्रकृति पर अपना शासन चाहते हैं।

इसका अर्थ यह नहीं कि सबकी आध्यात्मिक नियति पहले से ही कठोरता-पूर्वक नियत है, और जिन लोगों को भगवान ने आरंभ से ही त्याग रखा है, उन्हें वे अंध बना देते हैं, ताकि उन्हें नित्य विनाश तथा अशुचि के नरक में धकेला जा सके। सभी जीव भगवान के सनातन अंश हैं, जैसे देवता वैसे असुर भी। सभी मोक्षलाभ कर सकते हैं। परंतु मनुष्य भ्रांत पथ पर चलना बंद नहीं करता तो अंतत उसके अंदर असुर पूर्णरूपेण जन्म ले लेता है। फिर अपने पतन की घातक गति को वह तब तक नहीं उलट सकता, जब तक वह उन गहरे गर्तों की थाह नहीं ले लेता।

गीता में जो संदेश भगवान कृष्ण ने भारत वर्ष के माध्यम से समस्त जगत् को दिया, वह कर्मयोग कहलाता है। इसके अनुसार परमात्मा ही इस जगत् के विश्वातीत आदि प्रवर्तक हैं। वहीं वस्तुओं तथा प्राणियों में समष्टिगत रूप से अपने आपको निरंतर प्रकट करते रहते हैं। प्रकृति के गुण में और उसकी कर्म-

प्रकृति में अपने रहस्य की कोई धारा वे प्रकट करते हैं। प्रत्येक पदार्थ एवं प्राणी को पृथक्-पृथक् उसकी विशिष्ट जाति (गुण, कर्म, स्वभाव) के अनुसार गठित करते हैं और समस्त कर्म का सूत्रपात करते एवं उसे धारण करते हैं। यही तथ्य जगत् के स्वरूप की जटिलता के कारण है।

इस तरह हम वास्तव में कोई क्षणस्थायी रचना नहीं हैं, बल्कि एक शाश्वत आत्मा हैं, जो सनातन परमात्मा में, सनातन अनंत में कर्म करती और विचरण करती है। भगवान ही हमारे अन्दर शाश्वत कर्ता हैं और हम से कर्मों की माँग करते हैं। वे यह नहीं चाहते कि हम प्रकृति की यांत्रिक क्रिया के प्रति अपनी सहमति दे दें। मायावादियों, जगन्मिथ्यावादियों, निवृत्तिवादियों की तरह अपनी की तरह अपनी आत्मा में उस क्रिया से पूर्णतः पृथक्, उदासीन और अनासक्त रहें। बल्कि वे चाहते हैं एक सर्वांगपूर्ण और दिव्य कर्म, जो भगवान् के एक यंत्र के रूप में स्वेच्छापूर्वक और ज्ञान के साथ किया जाय। अपने में तथा दूसरों में विराजमान परमेश्वर के लिए तथा जगत् के मंगल के लिए किया जाय। गीता के भगवान हमसे एक सिद्धपुरुष के कर्म की माँग करते हैं।

भारतवर्ष ने भगवान कृष्ण के बाद भी इस ज्ञानयुक्त कर्म की धारा को आगे बढ़ाने के लिए कठोर साधना की है। इस साधना-पथ में कई आंतरिक और बाह्य व्यवधान उपस्थित होते रहे हैं। जैसा कि हमने देखा, यह विकास प्रक्रिया का ही एक अंग है। जीवन और कर्मों के बाह्य त्याग पर जोर देने वाली निवृत्ति-पंथी विचारधाराएं भी इस दौर में बुद्ध, महावीर और शंकराचार्य तक प्रकट हुई हैं। किंतु वे मुख्यधारा नहीं बन पायीं। मुख्यधारा उन्हें अपने में समाहित करती हुई आगे बढ़ी है। भारतवर्ष पर हुए बाह्य आक्रमण और उसका पतनकाल भी परिवर्तन अथवा रूपांतर की प्रक्रिया में सहायक रहा है।

इस दौरान भारत ने एक तरह का प्रतियुद्ध या स्थितियुद्ध (वॉर आफ पोजीशन) लड़ा है। अर्थात् जहाँ के तहाँ डटे रहकर, लम्बे समय तक आत्म-साक्षात्कार करते हुए, शत्रु को हराना और हतबल करने की रणनीति उसकी आत्मा ने अपनाई है। यह गतियुद्ध नहीं, स्थितियुद्ध था। भारतवर्ष के कायम रहने का रहस्य यह है कि गतियुद्ध में तो वह कच्चा है, लेकिन स्थितियुद्ध में, कोई उसे कभी हरा ही नहीं पाया। स्थितियुद्ध हमारा ब्रह्मास्त्र रहा है।

गतियुद्ध मुट्ठीभर सिपाहियों के बूते पर जीता जा सकता है जबकि कोई भी स्थितियुद्ध आम जनता की व्यापक भागीदारी के बगैर जीता नहीं जा सकता। गतियुद्ध में गलत तानाशाह की जीत हो सकती है। लेकिन स्थितियुद्ध में किसी किसी जन-विरोधी ताकत की जीत संभव ही नहीं है।

इसी हार-जीत की कहानी, मध्ययुगीन भारत की कहानी है, जो हमारे अगले अध्याय का विषय है।

९. हिंदुस्तान से इंडिया तक

गतियुद्ध में सिनेमाई घटना-प्रधान द्विगुण-त्रिगुण होना है। स्थितियुद्ध में—जिसे हम प्रतियुद्ध भी कह सकते हैं, यह नहीं होता है। उदाहरण के लिए महमूद गजनवी की सोमनाथ विजय घटना नहीं लगती। लेकिन भारत की यही खास ताकत है जो अघटना को घटना बना देती है। स्थितियुद्ध क्योंकि लम्बा चलता है, इसलिए प्रायः वह युद्ध लगता ही नहीं। लगता है कि कई किस्म की जमातें, निहित स्वार्थ, विकेंद्रित ताकतें अपने-अपने स्तर पर गड़बड़-घोटाला कर रही हैं। लेकिन जैसा कि हमने देखा है, इस पागल-तमाशे में भी एक पद्धति है, और ऊलजलूल, ऊटपटांग चीजों के पीछे एक-एक उद्देश्य छिपा हुआ है।

उदाहरण के लिए श्रीकृष्ण के नेतृत्व में, युधिष्ठिर के अश्वमेध और राजसूय यज्ञ के साथ, संपूर्ण भारत को एक-छत्र में लाने वाली एक केंद्रीय सत्ता अस्तित्व में आती है, किंतु उसके तुरंत बाद विघटन और पतन का एक दौर शुरू हो जाता है। भगवान श्रीकृष्ण अपनी ही नौजवान पीढ़ियों के अनाचार और अंतर्कलह को नहीं रोक पाते और जंगल में एकाकी मृत्यु का वरण करते हैं। उनकी मृत्यु के समाचार से खिन्न प्रतापी पांडव राज्य त्याग हिमालय की ओर निकल जाते हैं और एक-एक कर धराशायी होते चले जाते हैं। एक ओर कलियुग के प्रारंभ की घोषणा हो जाती है, किंतु कलियुग की एक दूसरी ही व्याख्या महर्षि व्यास के मुख से होती है।

विष्णुपुराण के अनुसार एक बार नदी में नहाते हुए महर्षि व्यास जोर-जोर से ताली बजाकर इसी कलियुग की, शूद्रों की और स्त्रियों की जय बुला रहे थे। 'कलियुग महान है', 'शूद्र महान हैं', स्त्रियाँ महान हैं'।

अन्य ऋषियों के पूछने पर व्यास उन्हें समझाते हैं कि कृत, त्रेता, और द्वापर में जो काम बहुत कठिनाई से हो पाते थे वे कलियुग में क्षणभर में ही हो जाते हैं। थोड़ी सी भक्ति से ही ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। स्त्रियाँ और शूद्र अपना-अपना काम तन्मयता से कर के ही ब्रह्म को पा जाते हैं।

महर्षि व्यास के बारे में कहा जाता है कि द्वापर में उन्होंने वेद को चार में

और फिर उन चार को अनेक शाखाओं में विभाजित किया। उसके बाद उन्होंने विशेष तौर पर स्त्रियों व शूद्रों के लिए महाभारत की रचना की। किंतु यह बहुत दुरूह और क्षोभवाली गाथा थी। वेदों से वंचित इन वर्गों का मन प्रसन्न करने में, उस उत्साह देने में वह सक्षम नहीं है। तब उन्होंने अपनी गलती सुधारने के लिए पुराणों की रचना की। उनके माध्यम से सृष्टि और उसके कर्ता के प्रति श्रद्धा और भक्ति के भाव को सभी के लिए सुलभ बनाने का प्रयास किया। इसी सहृदयता, तथा प्राणीमात्र के लिए दया व करुणा का भाव उनकी कलि-काल की व्याख्या में झलकता है। कहा गया है कि कलियुग में शूद्र और स्त्रियाँ ही सर्वोपरि होंगे। बल्कि सभी शूद्रों जैसे हो जायेंगे। व्यवहार के वाहक शूद्र और स्त्रियाँ ही महत्वपूर्ण रह जायेंगे। भगवान के जिस भौतिक तत्व में अवतरण की चर्चा हम कर चुके हैं, यह उसके अनुरूप ही है।

परीक्षित कलियुग के पहले सम्राट थे जो तक्षक नाग द्वारा विषप्रयोग से मारे गये। इसके बदले में उनके पुत्र जनमेजय ने नागवंश के संहार का मन ही बना लिया। विघटन का यह दौर मौर्यकाल तक चलता है। केंद्रीय सत्ता खिसक कर मगध पहुँच जाती है। उत्थान के नये दौर में भारतवर्ष अपने ऐतिहासिक स्वर्णयुग में प्रवेश करता है। और इसी समय से उसके नये नामकरण का सूत्रपात होता है—हिंदुस्थान, हिंदुस्तान, हिंद, इण्ड, इण्डिका। न केवल आर्य बल्कि भारत-भूभाग में रहने वाली सभी जातियों को विदेशी लोग 'हिंदू' कहने लगते हैं।

हिंदू शब्द सिंधु का तद्भव रूप है। सिंधु नदी के पूर्व के क्षेत्र को पौराणिक ग्रन्थों में सिंधु देश कहा गया है। यह सिंधु देश ही कालांतर में 'हिंदु-देश' कहलाया। संस्कृत की 'स' ध्वनि फारसी में 'ह' के रूप में परिवर्तित हो जाती है। अतः फारस की ओर से आने वाले लोग सिंधु-नदी के तटवर्ती प्रदेश को 'हिंद' और वहाँ के निवासियों को हिंदू या हिंदु कहने लगे। इसमें 'स्थान' (यानी मुल्क) जुड़कर 'हिन्दुस्तान' बना। इस शब्द को लेकर आगे दो तरह की व्याख्या की जाने लगी। हिन्दुस्तान और 'हिन्दुस्थान' अर्थात् हिन्दुओं का स्थान या देश मानने की एक व्याख्या। दूसरी ओर 'हिंदोस्तान' यानी हिन्दुओं का—इस देश में रहनेवाले सभी लोगों का—आस्ताना या स्थान। संक्षिप्त इसे 'हिन्द' कहा जाता रहा। यूनानियों ने इसी शब्द को 'इण्ड' बना डाला। इस देश को वे 'इण्डिका' भी कहने लगे। अंग्रेज यूरोपवासियों ने इसे कालांतर में 'इण्डिया' में बदल डाला।

पश्चिम की ओर से आक्रमण की मुद्रा में आने वाले इन विदेशियों का सीमा पर रहने का स्थिति-युद्ध मौर्य और गुप्त साम्राज्यों द्वारा लड़ा गया। इसे स्थितियुद्ध ही कहा जाना चाहिए। क्योंकि आर्य चाणक्य, चंद्रगुप्त मौर्य, समुद्र-गुप्त सम्राट अशोक, चंद्रगुप्त विक्रमादित्य आदि विभूतियाँ सामर्थ्यवान होती

हुई भी साम्राज्यवादी नहीं थी। भारत की तत्कालीन सीमाओं के बाहर जाकर साम्राज्य विस्तार करने की प्रवृत्ति उनमें कभी नहीं रही।

चाणक्य के बारे में एक आम राय है कि वे एक कुटिल, कपटी और अवसरवादी राजनीतिज्ञ थे। किन्तु वास्तविकता यह है कि वे सच्चे राष्ट्रभक्त थे। उन्होंने ही भारत के जनपदों को पूर्ण स्वतन्त्रता दी। चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र का नक्शा ग्रामीण भारत की मिट्टी से ही बनाया था। एक शूद्र जाति के बालक को सुसज्जित बनाकर राजसिंहासन पर बिठाने की प्रतिभा उनमें थी। भारत को विशाल वर्ग को श्रम और उत्पादन का असली अर्थ समझाने वाले चाणक्य ने ही पहचान दी।

मौर्य साम्राज्य के महामात्य आर्य चाणक्य स्वयं एक कुटिया में रहते थे, किंतु उनके 'अर्थशास्त्र' की नीतियों पर चलते हुए ही भारत को वह ऐतिहासिक स्वर्णयुग आता। चाणक्य नीति एक समग्र चिंतन का नाम है। केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण के दो पहियों पर इसका रथ घूमता है। इस नीति में केन्द्रीकरण विकेन्द्रीकरण का विरोधी नहीं बल्कि पूरक बन जाता है। राज्य की मजबूती हेतु केन्द्रीकरण जितना जरूरी है, उतना ही यह भी आवश्यक है कि शासन प्रणाली के निम्न स्तरों का विकेन्द्रीकरण हो। आम जनता को यह अहसास हो कि वे स्वतन्त्र हैं, शासन में उनकी भी भागीदारी है।

चाणक्य 'धर्म' की अपेक्षा 'अर्थ' को आधार बनाकर अपनी नीतियों का विस्तार करते हैं। लोकतंत्र की आधारभूत संस्था 'ग्राम-स्वराज' चाणक्य विहित ग्राम संरचना पर ही आधारित हो सकता है। आज से चौबीस वर्ष पूर्व मौर्यकालीन राजनैतिक परिस्थितियों में चाणक्य ने अर्थशास्त्रीय फार्मूलों के तहत, बेतिहर शूद्र किसानों का जनपदीकरण किया, उन्हें सैनिक सुरक्षा और ज़मीन का मलिकाना हक देकर संगठित किया। दलितोत्थान की यह एक बड़ी मिसाल है। भारत की ग्रामीण संस्कृति और उसका आवासीय ढांचा आज भी चाणक्य के अर्थशास्त्र में सुरक्षित मिलता है उन्होंने आत्मनिर्भर व स्वायत्त ग्रामतंत्र की नींव मौर्यकाल में रखी थी। उसी का परिणाम था कि एक के बाद एक आनेवाले राजवंश और विदेशी आक्रांताओं की पहुँच केन्द्रीय सत्ता तक ही रही। ग्रामों का आत्मनिर्भर चरित्र उनसे अप्रभावित ही रहा। क्योंकि चाणक्य का पंचायती राज उसकी सुरक्षा कर रहा था।

सृजन और प्रलय, उत्थान का पतन, संगठन और विघटन का जो आवर्तन चलता रहता है उसे ही युग कहा गया है। व्यक्ति के हृदय की तरह राष्ट्र का हृदय भी 'लप' 'डब' करता रहता है। एक निश्चित कालक्रम के अनुरूप, यह व्यान (विस्तार) और संकुचन का आवर्तन प्रत्यावर्तन चला करता है। स्वर्णयुग

के बाद रजत फिर लौह, फिर संभवतः मिट्टी के युग को आना ही होगा है। रजत युग, हम कह सकते हैं कि हर्ष काल तक चला। और फिर वह लौह युग आया जब इस्लाम के घोड़ों की लौह नालों से 'हिन्दुस्तान' की सड़कें सरगम हो उठीं।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या भारत ने यह इस्लाम विरोधी स्थितियुद्ध जीता? उत्तर हाँ में ही देना होगा। क्योंकि भारत का इस्लामीकरण नहीं हुआ और भारत मूलतः हिन्दुओं का भारत ही बना रहा। इस्लाम की धारा उसमें इस तरह समा गई जैसे समुद्र में कोई बड़ी नदी समा जाती है। भारत के विभाजन अथवा अंगभंग में उसकी भूमिका अवश्य रही लेकिन उसके पीछे भी अंग्रेजों की कूटनीति अधिक रही और आम मुस्लिम जन-समुदाय की इच्छा कम। दो मुस्लिम टुकड़ों के अलग हो जाने के बावजूद अब भी भारत विश्व की सबसे अधिक मुस्लिम आबादी वाला देश बना हुआ है। बल्कि जो सम नागरिक और सामाजिक अधिकार भारत के मुस्लिमों को प्राप्त हैं वो स्वयं मुस्लिम देशों में उन्हें प्राप्त नहीं हैं। स्थितियुद्ध अथवा प्रतियुद्ध एक दाँव पेंच यह भी होता है कि जो शक्ति विनाश के लिए आक्रमण करती है उसे आत्मसात कर, उसी की ऊर्जा का उपयोग करते हुए अधिक शक्तिशाली हुआ जाता है। इस्लाम के नाम पर बने बंगलादेश को मुक्त कर, लगभग एक लाख पाकिस्तानी सैनिकों को बंदी बनाकर भारत ने (जिसकी फौज में हिन्दू-मुस्लिम दोनों हैं) भारत ने अपनी बढ़ी हुई शक्ति का ऐतिहासिक परिचय दे दिया।

इस्लाम को आत्मसात करने की इस प्रक्रिया का ऐतिहासिक जायजा लिया जाये तो कई चौंकाने वाले तथ्य उभरकर सामने आते हैं। शुरुआत इस्लामी आक्रामकों के घोड़ों की टापें गूँजने से पहले आठवीं शताब्दी में ही हो चुकी थी जब कुछ अरब विद्वान भारत से ब्रह्म सिद्धांत जैसी पुस्तकें ले गए और उनका अनुवाद किया।

८६५ ई० में याकूबी ने लिखा है कि सोच-समझ में हिन्दू सबसे आगे निकल गए हैं और यूनानियों व ईरानियों ने उनकी पुस्तक ब्रह्म सिद्धांत से लाभ उठाया है। अल-इदरीसी ने ११५८ ई० में हिन्दुओं की न्यायप्रियता की भूरि-भूरि प्रशंसा की। अनेक मुस्लिम विचारकों और दार्शनिकों पर बौद्ध विचारधारा का भी असर पड़ा।

मूर्तिपूजा को लेकर मुस्लिमों की हिन्दुओं से विरोध हो सकता है पर अबुल फजल ने अनेक हिन्दुओं से बातचीत कर मूर्तिपूजा का समर्थन का प्रयास किया व अंत में लिखकर निकाला कि मूर्ति का उपयोग तो केवल ध्यान के भटकने से रोकने व उसे (ईश्वर भक्ति) केंद्रित करने के लिए किया जाता है।

मुस्लिम विद्वानो ने भारतीय धार्मिक ग्रन्थो को पढने, समझने व उन्हे अधिक लोगो तक पहुँचाने के लिए बहुत मेहनत की। उन्होने वेद, उपनिषद रामायण, महाभारत धर्मशास्त्री, पुराण, योग वशिष्ट, रोग शास्त्र, वेदात शास्त्र आदि का फारसी मे अनुवाद किया।

बाद के वर्षो मे भक्ति आदोलन के कवि सतो और सूफी सतो ने तो दोनो धर्मो को एक-दूसरे के और नजदीक लाने सकीर्ण भावनाओ को हटाने और प्रेम व भक्ति की धारा बहाने मे और भी महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

यह सच है कि कुछ मुस्लिम राजाओ ने हिन्दुओ के कुछ मदिर तोडे थे पर इससे अधिकतर मुस्लिम राजाओ को घोर हिन्दू-विरोधी घोषित कर सकें, हमे कुछ अन्य तथ्यो को भी ध्यान मे रखना होगा—

१ ऐसे भी उदाहरण हैं कि हिन्दू राजाओ ने भी मन्दिर तोडे। उदाहरण के लिए कश्मीर के राजा हर्ष ने ग्यारहवी शताब्दी मे मन्दिर लूटे व यहा तक कि इस काय के लिए एक अलग अधिकारी भी नियुक्त किया। परमार राजा शुभातवमन (११९३-१२१०) मे गुजरात के अनेक जैन मन्दिर लूटे।
२ ऐसे भी उदाहरण हैं कि मुस्लिम राजाओ ने मस्जिद तुडवाई। उदाहरण है कि औरगजेब ने गोलकुडा की जामा मस्जिद तुडवाई। कारण यह था कि यहाँ के राजा तानाशाह ने राजस्व का हिस्सा औरगजेब को न देकर अपने पास रखा। फिर इस खजाने का जमीन मे गाड दिया और उस पर यह मस्जिद चुनवा दी।
३ ऐसे भी उदाहरण है कि हिन्दू राजाओ के कहने पर मुस्लिम शासको ने मन्दिर तुडवाए उदाहरण के लिए वाराणसी का विश्वनाथ मन्दिर तुडवाने के लिए कुछ हिन्दू राजाओ ने ही औरगजेब से सिफारिश की। बताया जाता है कि बगाल की ओर जाते हुए यहाँ रुककर जब कुछ रानिया मदिर मे पूजा के लिए गई थी तो यहा के एक तहखाने मे एक रानी की मर्यादा भग की गई थी।

तो क्या ऐसे उदाहरणो के आधार पर हम उन हिन्दू राजाओ को हिन्दू विरोधी और उन मुस्लिम राजाओ को मुस्लिम-विरोधी मान लें? यदि नही तो कुछ हिन्दू मन्दिर तोडने या लूटने के लिए इन सभी मुस्लिम राजाओ को क्यो हिन्दू विरोधी ठहराया जाए? कही मन्दिर तोडने का कारण लूट था, कही उस मन्दिर से जुडी राजनैतिक शक्ति को चोट पहुँचाना था, तो कही कोई अन्य जगह थी। अगर केवल हिन्दू-विरोध के मुस्लिम शासन अपना आधार बनाते तो वे इतने वर्षो तक यहाँ शासन कहाँ कर पाते। उनकी सरकार के अनेक अधिकारी हिन्दू ही होते थे।

महमूद गजनवी और औरंगजेब नाम को मुस्लिम-विरोधी में सबसे ऊंचा स्थान दिया जाता है। पर महमूद गजनवी की सेना में अनेक हिंदू थे। साथ ही अनेक विख्यात मन्दिरों में ऐसे फरमान उपलब्ध हैं जिनसे पता चलता है कि औरंगजेब ने इन मन्दिरों के रखरखाव के लिए जागीरें दी थीं। ऐसे फर्मान हिन्दू मन्दिरों से ही नहीं कुछ जैन मन्दिरों और गुरुद्वारों के बारे में भी उपलब्ध हैं। इसमें सोमेश्वर नाथ महादेव मन्दिर, जंगम बाड़ी शिव मन्दिर महाकालेश्वर मन्दिर बाबा जी मन्दिर, उमानन्द मन्दिर, और शत्रुंजयी जैन मन्दिर जैसे अनेक मशहूर मन्दिर सम्मिलित हैं जिनमें अनेक प्रमुख तीर्थ नगरियों जैसे वाराणसी चित्रकूट, इलाहाबाद आदि में स्थित हैं। जब कुछ मुस्लिम हमलावरों ने 'लूटमार की व स्थानीय लोगों पर जुल्म ढाए तो इसमें केवल हिन्दू पीड़ित हुए, ऐसा नहीं है। बाबर के हमले के समय की स्थिति के बारे में गुरुनानक ने लिखा है, 'मुसलमानों की नमाज का वक्त हो गया है और हिन्दुओं की पूजा भी जाती रही है। हिंदू मुसलमान, भट्टी और ठाकुर स्त्रियां बेहाल हैं। पीरों के स्थान और मुकाम तथा पत्र के समान दृढ़ मन्दिर जलकर नष्ट हो गए।"

यानि जब हमलावर लूटमार और हिंसा-दमन को निकलते थे तो उनके सामने क्या हिंदू और क्या मुसलमान। दूसरी ओर यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि पहले मुस्लिम आक्रमणकारी मुहम्मद-बिन कासिम ने किया है कि यहां के लोगों की धार्मिक स्वतन्त्रता बनी रहे, अपनी विधि अनुसार वे पूजापाठ करते रहें और ब्राह्मण निडर होकर रहें।

सामान्य बुद्धि की बात है कि यदि कई सौ वर्ष तक मुस्लिम शासक भारत के एक बड़े हिस्से में राज कर सके तो इस कारण नहीं कि वे हिंदू-विरोधी थे बल्कि इस कारण कि उन्होंने बहुत-सी बातों में हिंदुओं को अपने साथ लिया और उनके विचारों और आकांक्षाओं के अनुसार अपनी शासन पद्धति को ढाला। कुछ समझौता इधर से हुआ तो कुछ उधर से, तभी बात बन सकी। पर कुछ मुस्लिम राजा, विचारक दार्शनिक व विद्वान ऐसे भी थे जिनके लिए बात समझौते से अधिक गहरी थी। वे हिंदू धर्म व संस्कृति से प्रभावित हुए, इसके विचारों और भाव को समझने का उन्होंने प्रयास किया।

बाबरनामा को पढ़ने से इस बात के सबूत नहीं मिलते कि बाबर को हिंदू मंदिरों से नफरत थी। साहित्य अकादमी द्वारा हिन्दी में प्रकाशित और अब बरसों से उपलब्ध "बाबरनामा" के पृष्ठ ८५९ पर यह प्रसंग उभर कर सबूत है, मैंने आगरा से भी ग्वालियरी लालबनेर लगवाए। फुरवारी के दक्षिण में बरसानी कुन्ड (सूरजकुंड) है। उसके पश्चिम में एक आलीशान मंदिर है। सुल्तान शमसुद्दीन अल्तमश ने मंदिर के पहलू में एक जामा मस्जिद बनाई है। किले में मंदिर से ऊंची और कोई इमारत नहीं है। धौलपुर के पहाड़ से यह मंदिर ग्व

दिखाई देता है।"

अगले पृष्ठ पर फिर एक वर्णन है जो इस प्रकार है "वहां से आकर मंदिरों की सैर की मंदिर दुमहेनतिमहैन है। पर तल्ले जमली काट के नीचे-नीचे हैं। ईजारा के सिलो पर पर कद के बुत उभारदार खुदे हैं। कुछ मंदिर मदागो की काट के हैं। उनके आगे खुलेदालान है। अंदर में ऊंची बुर्जे हैं।"

सिर्फ एक जगह "बुत" तुड़वाने की बात वह स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है। वह मानसिंह के किले का वर्णन करते हुए उसमें तीनों ओर कटे 'छोटे-बड़े' बुतों का वर्णन करते हुए उसमें तीनों आ कहता है, दक्खिन का बड़ा बुत कोई चारों का है। सभी बुत चम-नंगे बने हैं। ३१ का बव महो, पर दिलचस्प जगह है। खेट बम नहीं खुश है। मैंने उन्हें तुड़वा दिया। इतिहासकारों का कहना है कि बाबर ने ये बुत भी किसी धार्मिक घृणा के कारण नहीं बल्कि अपनी सौंदर्य अभिरुचि को खटकने के कारण तुड़वाए थे। इसके अलावा बाबरनामा में कहीं मंदिर या बुत तोड़न का वर्णन नहीं है।

"बेटे मुल्क हिन्दुस्तान में मुख्तलिफ धर्म हैं। अल्लाह का शुक्र है कि उसने हमें ऐसे मुल्क की बादशाहत दी। हमें चाहिए कि धार्मिक भेद भाव को दिल से निकाल कर हर काम के तरीके के मुताबिक इंसाफ करें। खासतौर से गोकुशी से बचो। ताकि हिन्दुस्तानियों के दिलों को जीत सको, और इस मुल्क की रैयत का हुकूमत के मामले से शरीक कर सको। हर कौम की इबादत गाहों और मंदिरों के हुकूमत के मामले में शारीरिक कर सको। हर कौम की इंसाफ का ऐसा तरीका अख्तियार करो कि बादशाह रैयत से और रैयत बादशाह से खुश रहें। इस्लाम की तरक्की जुल्म के मुकाबले नेकी और भलाई से ज्यादा होगी।"

इतिहास के उन स्वर्णिम पृष्ठों पर एक नजर अवश्य डाली जानी चाहिए, जिनमें भारत की स्वतन्त्रता तथा अखंडता के लिए राष्ट्रवादी मुसलमानों के महत्वपूर्ण योगदान का उल्लेख आता है। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में ही राष्ट्रीय विचारधारा से प्रभावित जागरूक युवा मुस्लिम नेताओं ने साम्प्रदायिकता के विरुद्ध आवाज उठानी प्रारंभ कर दी थी शायद बहुत कम लोगों को यह तथ्य मालूम हो कि २७ जनवरी, १८८३ (यानी करीब एक सौ सात वर्ष पूर्व) सर सैयद अहमद खां ने पटना में साम्प्रदायिक एकता पर ऐतिहासिक व्याख्यान दिया था। सैयद अहमद खां ने हिंदू-मुस्लिम एकता के संदर्भ में कहा था—"हम दोनों भारत की हवा में सांस लेते हैं और गंगा जमुना का पवित्र जल पीते हैं। हम एक साथ जीते और मरते हैं। भारत में रहने के कारण हम दोनों ने अपना रक्त, अपने शरीर का रंग बदल दिया और हम एक से हो गए और हमारे चेहरे-मोहरे भी एक हो गए। मुसलमानों ने बहुत से हिन्दू तौर तरीके अपनाए और हिन्दुओं

ने भी बहुत से आचार ग्रहण किए। हम इतने घुल-मिल गए कि हमने एक नई भाषा भी उर्दू बनाई जो न मुसलमानों की थी और न हिन्दुओं की। इसलिए यदि हम जीवन के उस हिस्से को छोड़ दें जो ईश्वर का है यानी धर्म को तो निस्सन्देह इस तथ्य को मानना पड़ेगा कि हमारा देश एक है कौम एक है और देश की तरक्की और भलाई तथा हमारी एकता परस्पर सहानुभूति और प्रेम पर निर्भर है। अलबत्ता, झगड़े और फूट हमें समाप्त कर देंगे।"

उन्होंने पंजाब में हिन्दुओं की एक आम सभा में कहा—"आप जिस हिंदू शब्द का प्रयोग अपने लिए करते हैं वह उचित नहीं है, क्योंकि मेरी दृष्टि में वह धर्म का नाम नहीं है। हिन्दुस्तान का हर निवासी अपने को हिंदू कह सकता है। मुझे इस बात का दुख है कि आप मुझे हिन्दू नहीं समझते जबकि मैं भी हिंदुस्तान का वासी हूं।"

आश्चर्य और दुख की बात यह है कि सौ साल बाद आज भी प्रगतिशील मुस्लिम अस्मिता की यही लड़ाई लड़ रहा है। उसे बार-बार याद दिलाना पड़ता है कि हम सब इस राष्ट्र के अभिन्न अंग हैं। भागलपुर के दो युवा विद्वानों डा० ब्रजेश वर्मा और डा० राजेश वर्मा ने हाल ही में १८८४ से १९३४ की अवधि में सक्रिय राष्ट्रवादी मुसलमानों की गतिविधियों का एक अच्छी पुस्तक के रूप में सजोकर सामने रखा है। वर्तमान राष्ट्रीय परिस्थितियों में उन ऐतिहासिक तथ्यों को जनता तथा धर्म के नाम पर राजनीति करने वाले सौदागरों के सामने रखे जाने की नितांत आवश्यकता है। इसमें कोई शक नहीं कि हिन्दुओं और मुसलमानों में राष्ट्रीयता की भावना का उदय थोड़ा आगे पीछे हुआ। लेकिन १८५७ के "संग्राम" की सारी जिम्मेदारी ब्रिटिश सरकार ने मुसलमानों पर ही थोपी थी। अंग्रेजों की धारणा थी कि मुगलों का शासन पुनः स्थापित करने के लिए मुसलमान अधिक सक्रिय थे, पर असलियत यह थी कि स्वतन्त्रता के लिए हिंदू और मुसलमान एक साथ उठ खड़े हुए थे। यही कारण है कि कांग्रेस की स्थापना के कई मुस्लिम नेता राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए इस पार्टी में आगे आए। सैयद जमालुद्दीन अफगानी, रशीद अहमद गंगोही, शिब्लीनुमानी जैसे परम्परावादी नेता और पाश्चात्य दृष्टिकोण से प्रभावित बदरुद्दीन तैयबजी तथा रहमतुल्ला समानी जैसे व्यक्तियों ने कांग्रेस का समर्थन किया।

तीन-चार वर्षों बाद ही कांग्रेस में मतभिन्नता रखने वाले सर सैयद अहमद खां ने अलग संस्था बनाकर दूसरे शैक्षणिक अभियान चलाए। लेकिन हिंदू और मुसलमानों को वे भी भारत के सुंदर चेहरे की दो आंखें मानते थे। उधर १८८७ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का मद्रास अधिवेशन हुआ। तो बदरुद्दीन तैयब जी अध्यक्ष चुने गए। इस तरह उन्हें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस

का पहला मुस्लिम नेता चुना गया। उन्होंने कुछ जोरदार तर्क रखकर बताया कि मुसलमानों के अल्पसंख्यक होने का कारण घाटे में रहने की धारणा गलत है। उन्होंने कहा—"जरा पटना का उदाहरण लीजिए। पटना नगरपालिका में २० स्थान हैं। वैसे यहां हिन्दुओं की संख्या अधिक है, तो भी वे मुसलमानों को ही अपना प्रतिनिधि चुनते हैं। यहां २० म्युनिसिपल कमिश्नरों में १३ मुसलमान हैं। बंबई नगरपालिका क्षेत्र में रहने वालों में भी हिंदू सबसे अधिक हैं, लेकिन वहां ५ पारसी, ३ यूरोपियन ७ हिंदू और ७ मुस्लिम म्युनिसिपल कमिश्नर हैं।

"कट्टरपंथियों द्वारा हिन्दी और उर्दू विवाद और साम्प्रदायिक भावनाएं उकसाने के बावजूद राष्ट्रीय नेताओं के अभियान में लोग धार्मिक पूर्वाग्रह से हटकर सहयोग दे रहे हैं' १८९६ में शोलापुर में लोकमान्य तिलक द्वारा प्रारम्भ किए गए गणपति उत्सव में बंबई के एक साप्ताहिक अखबार 'रास्त गोफ्तार" में छपे विवरण के अनुसार हिंदू-मुस्लिम दोनों जोश से हिस्सा लेते हैं।" किंतु आजादी के पहले मुसलमानों में एक हिंदू-ग्रन्थि पैदा हो चुकी थी। आम मुसलमान तो नहीं, लेकिन मध्य वर्ग का मुसलमान यह सोचने लगा था स्वाधीन भारत में उसकी हैसियत क्या होगी। उसे लगता था कि स्वाधीन भारत में मुस्लिम अल्पसंख्यक होंगे, अतः हिंदू उन्हें सताएंगे। उसका यह भय एकदम बेबुनियाद भी नहीं था। पांच-छह सौ वर्षों के हिंदू-मुस्लिम सम्पर्क के बावजूद उनके बीच यह समरसता नहीं आ सकी थी कि वे अपने को एक ही देश का नागरिक मानें। सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्तर पर समन्वय की अनेक धाराएं बहीं जरूर, लेकिन तनाव और संघर्ष की परंपरा भी बनी रही। इसी से, गांधीजी के हिंदू-मुस्लिम एकता अभियान के बावजूद देश का विभाजन होकर रहा।

मुसलमानों की इस हिंदू ग्रन्थि के कारण ही स्वतंत्र भारत के शासकों ने मुस्लिम मामलों से अपने को अलग रखा। जब हिंदुओं के निजी कानून में संशोधन किया गया, उसी वक्त मुस्लिम निजी कानून का चेहरा नहीं बदला गया। कांग्रेस के नेताओं को डर था कि इससे मुसलमान नाराज होंगे। उस समय मुसलमानों में भी अगर कोई सुधारवादी नेतृत्व होता, तो वह मांग करता कि हिंदू कोड बिल के साथ एक मुस्लिम कोड बिल भी लाया जाये। किंतु आजाद भारत में मुसलमानों में कोई सुधारवादी नेतृत्व तो क्या, राजनीतिक नेतृत्व भी नहीं था, क्योंकि मुस्लिम लीग के सभी बड़े नेता पाकिस्तान जा चुके थे। कांग्रेस मुसलमानों का नेतृत्व नहीं करती थी, उन्हें सुरक्षा का आश्वासन जरूर देती थी। मुसलमानों के जो छुट-पुट सुधारवादी आंदोलन चले भी उन्हें कांग्रेस ने समर्थन या सहयोग नहीं दिया। वह यह नहीं सोच पाई कि एक आधुनिक और प्रगतिशील हिंदू समाज और रूढ़िवादी, कट्टरपंथी मुसलमान समाज का सह-अस्तित्व क्या-क्या समस्याएं पैदा कर सकता है।

हिंदू और मुसलमानों के लिए अलग-अलग निजी कानून बनाने के बजाय समस्त भारतीयों के लिए एक समान सिविल कानून बनाया जा सकता था। किंतु ऐसा न कर सत्तारूढ़ कांग्रेस ने एक महान ऐतिहासिक गलती की। भारत के हिंदुओं ने देश-विभाजन के लिए मुसलमानों को कभी माफ नहीं किया। भारत और पाकिस्तान के आपसी रिश्ते इस उभय हिंदू मुस्लिम ग्रन्थि के कारण सहज नहीं रह सके। डॉ० लोहिया के अनुसार यह रिश्ता ऐसा बन गया कि वे या तो आपस में लड़ते रहेंगे या मिलकर एक हो जायेंगे। दोनों के बीच दोस्ती नहीं हो सकती। जरूरी यह था कि जर्मनी की तरह भारत पाक एका के लिए सदैव प्रयास जारी रहता। भारत में तत्कालीन जनसंघ के साथ डॉ० लोहिया ने और पाकिस्तान में कुछ सिंधी व पख्तून नेताओं ने यह आवाज उठाई थी किंतु वह नक्कारखाने में तूती की आवाज बन कर रह गई। इसका कारण हमारी खोखली धर्मनिरपेक्षता थी। धर्मनिरपेक्ष व्यक्तियों को यह बात अजीब लगती थी कि वह हिंदू और मुसलमान के झगड़े निपटाए। इस तरह की धार्मिक श्रेणियां उनके लिए मानो खत्म ही हो गई थीं। यह भी एक ऐतिहासिक भूल थी, जिसमें धर्मनिरपेक्षों ने अपने को समाजनिरपेक्ष बना लिया और राजनैतिक स्तर पर मुस्लिमों को मात्र वोट बैंक मान लिया। यह उस कूटनीतिक योजना का अंग था जिसके तहत मुसलमानों को लगातार असुरक्षा में रखा गया और फिर अपने को उनका रक्षक सिद्ध करने की ओछी और थोथी कोशिश की गई। इसकी प्रतिक्रिया में ही जनसंघ का जन्म हुआ। जनसंघ उन हिंदुओं की पार्टी थी, जो मानते थे कि भारत में मुसलमानों को अनुचित बढ़ावा दिया जा रहा है। अतः उसका उद्देश्य हिंदू समाज को इस लायक बनाना था कि वह मुसलमानों को हिंदू बहुसंख्यक भारत में रहने की तमीज सिखा सके। हिंदू समाज की सामाजिक बुराइयों को खत्म करना, उसकी नजरों में गौण था।

यही जनसंघ तथा उसके जनता पार्टी में विलयन तथा टूट के बाद बनी भाजपा की शक्ति और सीमा रही। किसी भी साम्प्रदायिकता में संघर्ष शून्य में नहीं चलाया जा सकता। अल्पसंख्यकों के आर्थिक-सामाजिक उत्थान के लिए जब सत्तारूढ़ धर्मनिरपेक्षतावादी दल ने कुछ नहीं किया, और वे सिर्फ उन्हें साम्प्रदायिक होने की सलाह देते रहे। यह अवश्यंभावी था कि वे इस सलाह को अनसुनी करने लगें। जिंदगी की मुश्किलें जब बढ़ रही हों, तब लोगों का हृदय संकरा हो जाता है और वे साम्प्रदायिक प्रचार की आंधी में आसानी से बह जाते हैं। जब लोगों के सामने बड़े मुद्दे हों तो साम्प्रदायिक पहलू दबने लगते हैं। सम्प्रदायवादी मुस्लिम राजनीति का प्रतिद्वंद्वी हिंदू धड़ा, हिन्दू समाज की आधुनिक चिन्तनधारा को प्रतिबिंबित नहीं करता न ही उसके प्रति बहुसंख्यक समाज में कोई प्रशंसनीय आग्रह है।

इस तरह जो उसकी शक्ति है, वही उसकी सीमा भी बन जाती है। निस्सार राजनीति और अकारण तनाव उसका भी चरित्र बन जाता है, जो आधुनिक सोच के आदमी को हैरान कर देता है।

क्या वर्तमान वास्तविकताओं के आधार पर अयोध्या विवाद का तदर्थ समाधान नहीं निकाला जा सकता? ये वास्तविकताएं क्या हैं? १६४६ में केन्द्रीय गुम्बद के नीचे मूर्तियां रखी गयी। कुछ लोग कहते हैं कि ये मूर्तियां जिलाधीश की मौन सहमति से रखी गयी और कुछ का कहना है कि मूर्तियां प्रकट हुई। पिछले ४० सालों से वहां बिना व्यवधान के पूजा हो रही है और स्थानीय मुसलमानों ने भी वहां नमाज पढ़ना बंद कर दिया है। क्योंकि उनके प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा हुआ है।

समझदारी का तकाजा है कि इन वास्तविकताओं को ध्यान में रखते हुए निम्न सिद्धांतों के आधार पर समाधान की खोज की जाय

१ वर्तमान ढांचे को न गिराया जाये। इसे मजबूत करके और इसका पुनरुद्धार करके पूर्व और पश्चिम दिशा में इसका विस्तार किया जाये।

२ केन्द्रीय गुम्बद, जिसे विश्व हिंदू परिषद गर्भ-गृह मानती है, शिलान्यास स्थल की दिशा में बनने वाले मंदिर का भाग बना दिया जाए।

३ नए मंदिर के भीतर ही शिव, कृष्ण, बुद्ध, महावीर के छोटे-छोटे मंदिर भी बनाये जायें।

४ मस्जिद को पश्चिम की दिशा में बढ़ाया जाये। साथ की जमीन पर (जिसे सरकार उपलब्ध कराये) नया प्रांगण बनाया जाए और प्रांगण के पश्चिमी सिरे की तरफ तीन नये गुम्बद बनाये जायें जहां मुसलमान नमाज पढ़ सकें।

५ सारे क्षेत्र को मैत्री-स्थल के रूप में विकसित किया जाये और दोनों पूजा स्थलों के नए प्रवेशद्वार पर धार्मिक एकता का स्तंभ बनाया जाये।

दक्षिण भारत में एक दो मंदिरों के अन्दर मस्जिदें बनी हुई हैं। प्रार्थना-कीर्तन तथा नमाज साथ-साथ चलते हैं। कोई दंगा-फसाद नहीं होता। इस व्यावहारिक समाधान पर दोनों पक्षों को वैसे तो सहमत हो जाना चाहिए। किंतु निजी तौर पर सहमत होने पर भी, सार्वजनिक तौर पर इसके लिए शायद ही दोनों प्रतिद्वंद्वी पक्ष तैयार हों।

यह कहना ठीक है कि बाबरी मस्जिद की सुरक्षा के सवाल पर पूरे मुस्लिम समाज में आशंका और उन्माद जगाकर कट्टरपंथी मुस्लिम नेतृत्व ने फिर खस्ताहाल मुस्लिम समाज को अंधी गली में डाल दिया है, लेकिन हिंदुत्ववाद के शीर्षस्थ नेता चाहे तो कुछ महते-करते हों, उनके झंडे तले लामबंद हुए आम कार्यकर्ता उपरोक्त ढंग के किसी भी सुझाव को एकदम दुत्कार देते हैं। दुःख यह है कि

नना इन कार्यकर्ताओं के पीछे चलने पर मजबूर हैं उन्हें अपने पीछे चलाने में समय नहीं। क्या ये अच्छे हिंदुत्व के लक्षण हैं?

सबसे पहली बात यह कि राष्ट्र की हिंदू अवधारणा ऐसी हो ही नहीं सकती, जिसमें गैर हिंदुओं को दूसरे दर्जे का नागरिक होकर जीना पड़े। इस मामले में हिंदू दुनिया के किसी भी अन्य समुदाय से बहुत पहले ही आधुनिक हो गया था। वस्तुतः अच्छे हिंदू का राज्य नहीं, समाज चाहिए। विचार की स्वतंत्रता, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, विश्वास की स्वतंत्रता— यह हिंदू परम्परा की सब श्रेष्ठ उपलब्धि है। यही आधुनिकता का तत्वबोध है। जो हिंदू इसे कुचलना चाहता है वह तो शायद हिंदू ही नहीं है। वह एक नई किस्म का जन्तु है, जिससे निपटे बिना हिंदू समाज अपनी वास्तविक चुनौतियों का मुकाबला नहीं कर सकता।

ये चुनौतियां कौन-सी हैं? हिंदू अपनी सभी समकालीन और समकक्ष सभ्यताओं के नागरिकों की तुलना में सबसे ज्यादा गरीब, दुखी और चिड़चिड़ा है। उसके पास भरपेट खाना नहीं है। पहनने का पूरा कपड़ा नहीं है। वह अधिकांश निरक्षर है। इन चुनौतियों का सामना करने के लिए उसे काफी उद्यम करना पड़ेगा। लेकिन वह अपनी इन प्राथमिकताओं को भूल जाता है, और यह मान लेता है कि उसे सबसे पहले अपने साथ रह रही दूसरी जमातों से निपट लेना चाहिए, तो वह भी एक अंधी सुरंग में फंस जायेगा। उसकी उदासीनता अब टूटी है अयोध्या विवाद का यह भावात्मक पक्ष है। इसमें अमृत और विष दोनों पैदा हुए हैं। आज का अच्छा हिंदू वह है, जो विष का शमन करे और अमृत का परिमाण बढ़ाएगा।

इस अच्छे हिंदुत्व के सामने लोकतंत्र भी एक समस्या बन गया है। वह विभेद और विभाजन को खूब प्रश्रय दे रहा है। लोकतन्त्र अप्रतिरोधित साथ पर्यावरण प्रदान करता है। किंतु वह अपने आप में कोई एक परिस्थिति विशेष विचार या दर्शन नहीं है। बल्कि उसका अस्तित्व इस पर टिका है कि उस भारत का दर्शन क्या है? हमारा दर्शन भूतन 'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति' वाला अनेकान्तवादी रहा है। इसलिए यहां लोकतन्त्र टिका है और उसके टिके रहने की संभावनाएं सर्वाधिक हैं। किंतु इसके पास खुद का ताड़ने के लिए भाला, धर्म्म वर्ग जाति है। इसलिए हमारा लोकतन्त्र अक्सर जाति, पंथ और उपराष्ट्रीयताओं का नाना-वाग्द के रूप में इस्तेमाल करता है। यह लोकतन्त्र की विकृत शक्ति है। इन दोनों बनाने के लिए अब हम फिर एक विराट और नाम भक्ति आन्दोलन की आवश्यकता है।

यह भक्ति आंदोलन केवल "सियाराम मय सब जग जानी-करौं प्रणाम कर

जुग पानी" कहते हुए आत्मलीन हो जाने वाला नहीं होगा। उसका आधार केवल भावुकता नहीं होगा। उसके साथ वह पूर्ण ज्ञान भी और वह दिव्य कर्म भी जुड़ा होगा, जिसकी चर्चा हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं।

जाति-पंथ उपराष्ट्रीयताओं को अपनी मुख्य धारा पहचानने और उससे जुड़ने का पाठ बिना किसी को आहत किए ऐसा भक्ति आंदोलन ही पढ़ा सकता है। लोकतंत्र इन उपधाराओं में खुद को जतलाने का जबरदस्त उत्साह पैदा करता है। उपधाराओं के होते हुए, मुख्यधारा से जीवन रस लेने के बजाय उससे टकराने का मानव स्वभाव पुराना है। इसके विपरीत भक्ति खुद को समर्पित करने का जबर्दस्त उत्साह उन्हीं उपधाराओं में पैदा करती है। भारत में यह समस्या हर युग में पैदा होती रही है और हर युग में एक विराट भक्ति आंदोलन ने जन्म लेकर इस समस्या का समाधान किया है।

यह भी सत्य है कि हर भक्ति आंदोलन बाद में खुद भी एक पंथ बन गया है। बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव, शाक्त, सिख, कबीर पंथी आदि सभी पंथ अपने जमाने के छोटे-बड़े भक्ति आंदोलन ही रहे हैं। उनका आगे चलकर पंथ बन जाना किन कारणों से होता है, इस पर हम विचार कर चुके हैं। यह अनंत और सांत, विराट और संकीर्ण के बीच चल रहे निरंतर संघर्ष का ही प्रतीक है।

किंतु अब हम जिस भक्ति आंदोलन की बात कर रहे हैं वह पूर्ण ज्ञान की चेतना पर आधारित विराट और प्रभूत परिणामों वाला होगा। यह भक्ति कण और क्षण में व्याप्त भगवान के प्रति भी समर्पित होगी। एक तरह से आध्यात्मिक भौतिकवाद (Spiritual Materialism) उसका आधार होगा। टेक्नोलोजी क्रांति के रूप में, भगवान का यह रूपांतरकारी कार्य प्रकट हो रहा है। संचार और परिवहन माध्यमों का जाल विश्व को एकतावद्ध करता जा रहा है। एक ओर जाति-पंथ, उपराष्ट्रीयताओं के अहंकारों से उत्पन्न तनाव राक्षसी आयाम धारण कर रहे हैं, तो उनसे निपटने के लिए एक अभूतपूर्व विराट शक्ति भी सक्रिय हो गयी है। यही वह दिशा निर्धारित करेगी जो भारत को लघु-भारतों में विखण्डित करने के बजाय 'महाभारत' बनने की ओर बढ़ायेगी।

,१०. भारत से 'महाभारत' की ओर

"भारत चाहे आज भी हजार पैबंदोंवाला कपड़ा हो, लेकिन स्थिति यह है कि बीसवीं सदी, इस कपड़े का सबसे बड़ा, सबसे खूबसूरत, और सबसे ज्यादा फैलता हुआ हिस्सा है। बीसवीं सदी ने जो पैबंदनानाश की प्रक्रिया शुरू की है, वह भी कोई पराई चीज नहीं है। वह एक भारतीय प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया को पूर्णता तक पहुँचाए बगैर रुका नहीं जा सकता। लेकिन चूँकि यह आज भी एक कोशिश है इसलिए इस कोशिश को नाकाम करने वाली ताकतों को भी समझना आवश्यक है।"

अंग्रेजों ने हजारों किताबें लिखकर 'इंडिया' को यह समझाने की कोशिश की थी कि समुद्र में जितनी लहरें हैं, उतनी ही भारत में बंटी हुई वफादारियां हैं। हजारों जातियां और उपजातियां हैं। कुछ हजार बोलियां हैं। हर गांव के अपने ग्राम देवी-देवता और भूतप्रेत हैं। हर गांव यहां एक देश है, जैसे हर कण यहां ब्रह्माण्ड है। जब तक हम अंग्रेज यहां हैं, तभी तक 'इंडिया दैट इज भारत' एक राष्ट्र का आभास दे रहा है। जैसे ही हम जायेंगे, यह देश बालू के कणों की तरह आंधी में तैरता बँट बिखर जायेगा।

लेकिन कुछ बात है कि मिटते मिटते भी हमारी हस्ती अभी बची अब भी बरकरार है। इसके बावजूद कि हमारे देश और पड़ोसी देशों में भी पिछले एक दशक में बिखराव की यह प्रवृत्ति तीव्रता से उभरी है। पंजाब और कश्मीर दिल्ली के पास हैं, इसलिए वहां का पृथकतावाद, हमें तीव्रता से उद्वेलित करता है। किन्तु उत्तर-पूर्व के राज्यों में भी हालात कमोबेश ऐसे ही हैं। दक्षिण में भी आतंकवादियों द्वारा राजीव गांधी की जघन्य हत्या में पृथकतावाद ने आतंकवाद का चेहरा धारण कर लिया है। कुछ लोग कहते थे कि जहां हिंदू बहुसंख्यक हैं वहां विघटनकारी प्रवृत्ति नहीं है, आतंकवाद नहीं है। क्या अब ऐसी बात कही जा सकती है? पंजाब, कश्मीर, असम और तमिलनाडु के घुसपैठिये आतंकवादी राजनीति से ग्रस्त रह चुका है। लिट्टे जैसे संगठनों के समर्थन से वह फिर से उस रास्ते पर नहीं जायेगा—यह नहीं सकते।

दर असल आज राष्ट्र राज्य की पूरी अवधारणा ही सकट मे पडी हुई है। खासकर पूर्व मे ऐसी हवा तेजी से बह रही है। बडे देशो मे से टूट-फर छोटे राष्ट्र-राज्यो की नई किलेबदिया खडी की जा रही हैं। पूरे सोवियतसघ मे उथल-पुथल मची हुई है। बाल्टिक सागर तट के गणराज्य सोवियत सघ से अलगाव और स्वतत्रता की आवाज उठा रहे हैं।

दूसरी ओर पश्चिम मे खासकर यूरोप मे इसे उलटी हवा बह रही है। वहा राष्ट्र-राज्यो की सीमाए धुधली हो रही हैं। जो दीवारें यूरोप के राष्ट्र-राज्यो को एक दूसरी से अलग करती थी वे नीची की जा रही हैं। वे आसानी से लाघी जा सकती है, किंतु उनकी मर्यादा रखी जाती है। दर असल इन दोनो कारणो से आज राष्ट्र-राष्ट्र की पूरी अवधारणा ही सकट मे पडी हुई है। जैसे समाजवाद की अवधारणा भी आज सवटग्रस्त है। एक तरफ राष्ट्र देश का पर्यायवाची रहा है, तो दूसरी ओर राष्ट्रीयता (अथवा उपराष्ट्रीयता) भावना के रूप मे यह एक समूह मे एकजुट होने की भावना का नाम रहा है। यह एक ऐसी सामूहिक निष्ठा होती है जो अन्य सभी नेतिहद्वी निष्ठाओ से ऊची और प्रबल होती है। उपनिवेशवाद मे सघर्ष के बाद राष्ट्र की यह परिभाषा और व्यापक हो गई। जो भी जैसा भी देश औपनिवेशिक शासन से विरासत मे मिला, वह 'राष्ट्र' हो गया।

भारत को उपनिवेशवाद की विरासत के रूप मे विभाजन मिला। अग्रेजो की चालाकी से यह विभाजन द्विराष्ट्रवाद के सिद्धात पर हुआ था, हालाँकि कि स्वाधीनता आदोलन के नेताओ ने द्विराष्ट्रवाद को कभी मान्यता नही दी और मुस्लिम बहुल प्रदेशो के अलग हो जाने के बाद भी वे मानते रहे कि देश की गगा-यमुना संस्कृति ही हमारी साझी विरासत है। यह यहाँ बसनेवाले समुदायो का अपना देश है। उनको यही रहना है।

किंतु पिछले एक दशक मे भारत मे क्षेत्रीयता की जोरदार लहरे पैदा होने लगी है। ये लहरें इसलिए पैदा हुई, क्योकि स्वतत्रता सघर्ष की जमीन पर काग्रेस नामक जो फलदार वृक्ष लगा था, उसका जीवन रस क्रमश सूखने लगा था। उसके फलो मे जो थोडा बहुत रस बचा था उस तक देश के एक सीमित तबके की ही पहुँच थी। बाकी लोगो के लिए वह समय-समय पर आशा जरूर पैदा करता रहा। इसकी वजह से उसके प्रति प्रेम का पुनर्नवीकरण भी होता रहा, लेकिन कुल मिलाकर उसने देश को निराशा ही दी है। उसकी ओर से मिली, इस निराशा के कारण ही देश के ऐसे अचलो मे भी क्षेत्रवाद की लहरें फूट पडी हैं, जो राष्ट्रीय एकता की मजबूत कडी थे। जिन इलाको मे क्षेत्रवाद या अलगाववाद के बीज पहले से रहे हैं—जैसे पजाब और कश्मीर, वहाँ काग्रेस का आचरण ऐसा रहा है, जिससे अलगाववाद के बीजो को पनपने का मौका मिला। काग्रेस आज भी राष्ट्रीय

राजनीति के शीर्ष पर हैं। पर वह एक ऐसा फल है, जिसकी मिठास एक सड़ी हुई खटास में बदल चुकी है। उसका अतीत शानदार है पर अब वह भविष्य की प्रेरणा नहीं देती।

दूसरी ओर क्षेत्रीयता के नाम पर कहीं कोई फलदार पौध नजर नहीं आती है। एक भी क्षेत्रीयतावादी समूह ऐसा नहीं है, जो भारत को स्वायत्त राज्यों के वास्तविक एकताबद्ध संघराज्य में परिवर्तित करने के लिए वास्तविक संघर्ष कर रहा हो और अपनी जनता के प्रति ईमानदार है। सब पत्तही पत्ते जो किसी को छोटी-मोटी छाया तक नहीं दे सकते। उदाहरणार्थ असमगण परिषद की युवा सरकार कितने जोश खरोश के साथ राष्ट्रीय रंगमंच पर उभरी थी। उसके पीछे लम्बे अहिंसक संघर्ष की तपस्या भी थी। लेकिन तीन-चार साल में ही वह नष्ट-भ्रष्ट हो गई। लोग उससे यहाँ तक कट गये कि जब उसे बरखास्त किया गया तो जन असंतोष का कोई ज्वार नहीं उठा।

राष्ट्रीय मोर्चा ऐसे ही पत्तों का ढीला ढाला गुलदस्ता या वंदनवार मात्र है। मोर्चे में शामिल जनता-दल यद्यपि राष्ट्रीय पार्टी होने का दावा करता है, लेकिन वह मूलतः हिंदी भाषी प्रदेश का क्षेत्रीय दल ही है। इसलिए उसकी प्राथमिकता में आरक्षण जैसा मुद्दा है। हालांकि यह मुद्दा चालाकी से सामाजिक न्याय के आवरण में पेश किया गया है, उससे सिर्फ हिंदी प्रदेश ही आंदोलित हुआ है।

इस परिदृश्य में देश अभी जितना है, उसे ही टुकड़े-टुकड़े करके भारत को कई लघु-भारतों में बदलने की विकृत इच्छा विचार और राजनीति का एक ध्रुव बन रही। दूसरा ध्रुव यद्यपि अस्तित्व में है, लेकिन अभी इतना तेजस्वी नहीं कि यह अस्तित्व पूर्णतया मुखर और उजागर हो।

विचार और राजनीति का यह ध्रुव कब से लाखों लोगों को उद्वेलित करता आ रहा है कि क्यों न भारत, पाकिस्तान और बांग्लादेश का एक ढीला-ढाला महासंघ बने। जर्मनी में एकीकरण के साथ इस उद्वेलन में एक नई आशा का संचार हुआ है। जैसे-जैसे दिन बीतते जा रहे हैं, महासंघ के इस प्रस्ताव की उपयोगिता बढ़ती जा रही है। अब तो लगभग सर्वसम्मति है कि भारत और पाकिस्तान के बीच इस तरह का कोई रिश्ता नहीं बना, तो उनके सम्बन्ध सामान्य हो नहीं सकते। कुछ लोगों को कश्मीर और पंजाब समस्या का यह एक-मात्र हल मालूम पड़ता है। अगर भारत और पाकिस्तान एक संघ के अन्दर काम करना स्वीकार कर लें तो उसमें कश्मीर के लिए एक विशेष जगह बनाई जा सकती है। एक सिख बहुल अलग राज्य के लिए भी ऐसी जगह बन सकती है। उसी तरह पाकिस्तान की सिंधी और पख्तून क्षेत्रीयताओं की खास जगह उसमें बनाई जा सकती है।

यही उदात्त सोच और आगे बढ़ाते हुए सार्क अथवा दक्षेस राष्ट्रों को यूरोपीय समुदायीकरण की तर्ज पर 'महाभारत' अथवा दक्षेशिया राज्यसंघ के दायरे में समेट लेना चाहती है। इस राज्य परिवार के सदस्यों को 'महाभारत' नाम से कुंठावश परहेज हो सकता। तब चाहे वे उसे दक्षेशिया या अन्य कोई नाम सर्व-सम्मति से दे सकते हैं। इस राज्य समुदाय की शुरुआत साझा मंडी से हो सकती है, जैसी कि यूरोपीय राष्ट्र सदन (यूरोपियन होम) ने की। फिर विदेशनीति और रक्षा प्रणाली में यह साझा व्यवस्था हो सकती है। इसी एकता उन्मुख व्यवस्था का अगला चरण एक एशियाई संसद हो सकती है—जो अगला अगला पग एक विश्व सरकार की दिशा में उठा सकती है।

यह दिशा इसलिए जरूरी हो गयी है कि विश्व शक्तियों का सन्तुलन सोवियत संघ के विश्व नेतृत्व से पीछे हट जाने के कारण अकस्मात् एकायामी हो गया है। अमेरिका विश्व के 'दादा' के रूप में उभर आया है। खाड़ी युद्ध की विजय से कई लाभ उसने एक साथ अर्जित कर लिए हैं। आलिमान् की एक ही पुकार पर वह कुवैत और सऊदी अरब को 'बचाने' दौड़ा चला आया। लाखों सैनिक, हजारों युद्धक विमान, अणुबमों को छोड़कर हर तरह के अस्त्रास्त्र, युद्धपोतों का काफिला लेकर उसने देखते देखते 'आपरेशन रेगिस्तान' पूरा कर दिया। इसमें उसके इरादे कुछ भी हों, लेकिन विश्व समुदाय को उसने यह संदेश दे दिया है कि मोस्ला की पुकार पर वह संकटमोचन बनकर तुरन्त दौड़ा चला आयेगा और दुश्मन को नाकों चने चबवा देगा। अपनी विराट युद्ध शक्ति का प्रदर्शन करते हुए उसने एक लक्ष्मण रेखा जरूर बनाये रखी। इस प्रदर्शन में न केवल उसने अपने पुराने दोस्तों को साथ रखा बल्कि बाकी दुनिया को भी अपने खिलाफ नहीं जाने दिया। किन्तु जैसे एकदलीय लोकतन्त्र, लोकतन्त्र नहीं तानाशाही होता है, वैसे ही एक आयामी विश्व राजनीति, राजनीति नहीं दादागीरी बन जाती है।

सोवियत संघ के कमजोर पड़ जाने के बाद यह शक्ति प्रदर्शन खाड़ी युद्ध में अमेरिका ने इतनी जल्दी कर दिया कि विश्व-बिरादरी स्तब्ध रह गयी। वह अब इस हद तक आशंकित है कि बांगलादेश के तूफान पीड़ितों का सहायता के लिए जब अमेरिका के आठ हजार समुद्री सैनिक वहाँ पहुँचते हैं तो उसे इसमें भी दाल में कुछ काला नजर आने लगता है।

इस परिप्रेक्ष्य में भारत ही एकमात्र ऐसा देश है जो नए रास्ते बनाने की सामर्थ्य रखता है। सोवियत रूस को भी भारत की इस क्षमता में विश्वास है। अगर भारत दक्षेस संगठन तथा गुटनिरपेक्ष आंदोलन के नेपथ्य में रूस और चीन के साथ मिलकर प्रभावशाली कदम उठाता है तो विश्व-राजनीति का यह असंतुलन दूर हो सकता है। उसकी इस पहल को फौरी तरीके से नकारना अमेरिका के लिए आसान न होगा। अतः अमेरिका के हाथों कैद हो रही इस एक

आयामी विश्व राजनीति को खत्म करना है तो पहल भारत को ही करनी होगी।

रूस ऐसी पहल क्यों नहीं कर सकता? क्योंकि उसका चरित्र ऐसा नहीं रहा है। वह शीत युद्ध के जमाने में अमेरिका की मनमानी को कुछ हद तक रोकना भर था। किंतु इस अंकुश का उद्देश्य सचमुच एक बेहतर दुनिया बनाना नहीं था। अगर ऐसा होता तो तब रूसी शिविर संयुक्त राष्ट्र संघ को विश्व सरकार की ओर ले जाने की कोशिश करता। वह वीटो प्रणाली खत्म कराने में दिलचस्पी लेता। वह ऐसी कोशिश करता कि अंतर्राष्ट्रीय समुदाय में सहायता की राजनीति न चले, दाता और पाता का नाता न रहे भ्राता और भ्राता का रहे। पूरी तीसरी दुनिया को किसी एक ही ऐसी विश्व संस्था से आर्थिक मदद मिले, जिस पर रूस या अमेरिका किसी का भी राजनीतिक नियंत्रण न हो। यह मदद सभी गरीब देशों को बिना शर्त और उचित अनुपात में मिले, इसकी वह कोशिश करता। ऐसा उसने नहीं किया। राष्ट्रसंघ भी रूस और अमेरिका के अपने अपने विश्व स्वार्थों का एक सन्तुलनकारी औजार था। यह दूसरे महायुद्ध के बाद की यूरो-अमेरिकी वर्चस्ववाली दुनिया थी, जिसका दोस्त राष्ट्रों ने अपने बीच बटवारा कर लिया था।

रूसी छप प्रति ध्रुव के ध्वस्त हो जाने से तीसरी दुनिया के जिसमें भारत भी शामिल है—नागरिकों को प्रसन्न ही होना चाहिए। हम पहली बार अपनी जमीन पर खड़े हैं और अपने यथार्थ को अपनी आंखों देख रहे हैं। अब कोई नया आका तलाशने की बजाय हमें अपने जनबल की सामूहिक शक्ति को पहचानना होगा अपनी वास्तविक जरूरतों को समझना होगा, और विश्व राजनीति को अपने ढंग से तथा अपने बल बूते पर सार्थक दिशा में मोड़ने की कोशिश करनी होगी।

स्पष्ट है कि ऐसी कोशिश हम सद्दाम मार्का दुस्साहसवाद से नहीं कर सकते। एक छोटी दादागीरी द्वारा एक बड़ी दादागीरी से नहीं लड़ा जा सकता। यह कोशिश स्वैच्छिक सहयोग तथा एकीकरण की प्रक्रिया द्वारा ही संभव हो सकती है।

निकट भविष्य का भारत दो तरह से महाशक्ति बन सकता है। वह दक्षिण एशिया की महाशक्ति बन सकता है। एक तरह से वह ऐसी स्थिति में आ चुका है। जनसंख्या, समाधानों की विविधता और निपुणता, ठोस औद्योगिक ढांचा, कृषि में आत्मनिर्भरता, गहरी राष्ट्रीय निष्ठा वाला तथा किसी भी आतंकवादी प्रहार को झेलने की क्षमता रखनेवाला लोकतंत्र, इन कारणों से वह दक्षिण एशिया के हर पड़ोसी पर भारी पड़ता है। नेपाल और श्रीलंका की घटनाएं बताती हैं कि भारत का तिरस्कार कर क्षेत्रीय समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। बांगलादेश

और पाकिस्तान भारत को किनारे कर समस्याओं का हल लटका या उलझा तो सकते हैं, पर नहीं सकते। भारत न हो तो मालदीव और भूटान का अस्तित्व कभी भी संकट में पड़ सकता है।

किंतु आज स्थिति यह है कि आसपास के देश भारत को क्षेत्रीय शक्ति मानने को तैयार नहीं हैं। आर्थिक समृद्धि से जो मान्यता जापान, पश्चिमी यूरोप या अमेरिका को प्राप्त हुई है, उस तक पहुँचने में हमें अभी कई दशक लग जायेंगे। सैनिक दृष्टि से सोवियत संघ या अमेरिका के स्तर तक पहुँचना भी अभी हमारे बूते से सालों तक बाहर होगा। पर भारत की पुरातन और अध्यात्मप्रधान काया में वह 'तत्वद्रव्य' प्रचण्ड मात्रा में विद्यमान है, जो विश्व की बहुसंख्यक, प्रताड़ित, पीड़ित, विपन्न जनता को आत्मसम्मान और आत्मसुरक्षा का वातावरण प्रदान करने की दिव्य शक्ति रखता है। इसके रहते, अमेरिका जैसा समृद्ध और शक्ति-सम्पन्न देश भी धमकियों और चेतावनियों से आगे नहीं बढ़ पायेगा। भारत जब भी विश्व शक्ति बनेगा तो अपने इन गुणों के कारण ही बनेगा। उसकी आर्थिक सम्पन्नता और सैनिक क्षमता ऐसा बनने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायेगी जरूर, किन्तु वह भूमिका निर्णायक नहीं होगी—जैसी कि अमेरिका के मामले में रही है।

चीन यह भूमिका इसलिए नहीं निभा सकता क्योंकि भारत जैसे स्वभाव और इतिहासवाला देश होने के बावजूद, दरिद्र दुनिया के लिए बोलने और खड़ा होने का जैसा स्वभाव और इतिहास भारत का रहा है, वैसा उसका नहीं रहा है। न प्राचीन काल में, न मध्ययुग में न आधुनिक काल में। भारत में ही 'सत्याग्रह' नामक आध्यात्मिक अस्त्र का उपयोग कर, तब की सर्वाधिक शक्ति सम्पन्न ब्रिटिश साम्राज्यशक्ति को उखाड़ फेंका। जैसा कि हमने देखा है, यह आतरात्मिक मनोमय स्तर की शक्ति थी। अब तो अतिमानसिक सत्य-चेतना की शक्ति एकदम भौतिक स्तर पर सक्रिय है। इसलिए बिना किसी को आहत किये, अपनी बड़ी रेखा खींचना और अन्य सभी रेखाओं को जिसमें अमेरिकी रेखा भी शामिल है—छोटी सिद्ध करना उसके लिए संभव क्यों नहीं होगा?

तेजी से बदलती दुनिया में दक्षेक्रिया अथवा महाभारत राज्यसंघ बनना असंभव नहीं है। दिव्य-भौतिक तत्व द्रव्य, जैसा कि हम देख चुके हैं—आणविक प्रक्रिया की तरह चतुर्दिक सक्रिय होता है। यह आतरिक अतिमानसिक विकिरण (रेडियेशन) तत्काल अपने बाहरी परिणाम (फाल आउट) उपस्थित करता चलता है।

महासंघ की दिशा में पहल सफल होने के साथ भारत की आवाज की बुलंदी और असर ज्यादा बढ़ जायेंगे। रूस द्वारा कदम पीछे हटाये जाने के बाद तीसरी

दुनिया नेतृत्वहीन हो चुकी है। इसलिए भारत से उसकी अपेक्षाएं बढ़ गयी हैं। अपने भीतर चल रहे असंख्य गृहयुद्धों को लांघकर लोकतंत्री भारत पहले और विश्वास भरे तरीके से शक्तिशाली हो रहा है। देश को महाशक्ति बनाने की आकांक्षा से भरपूर राजनीतिक ताकतें सामने आ रही हैं। साम्राज्यवाद से लड़ने का भारत का इतिहास रहा है, अतः उसका स्थितियुद्ध अथवा प्रतियुद्ध अब यह दिशा ले सकता है।

दिव्य भौतिक तत्व द्रव्य में रूपान्तरित होती हुई भारत की आन्तरिक सत्ता एक प्रकार का प्रति-पदार्थ (एंटी मैटर) ही है, जिसकी कोई काट 'पदार्थ' के पास नहीं है। यह अतिमानसिक सृष्टि अपनी स्थितियाँ आप उत्पन्न करती चलती है। अपनी अभिव्यक्ति के लिए यह कोई धर्ममत अथवा विचारधारा जैसी चीज नहीं गढ़ेगी। यह कोई प्रति-राजनैतिक (Apolitical) अथवा अति राजनैतिक (Super-Political) उपकरण गढ़ सकती है, जो सर्वपरम मानवीय उपकरणों को सामंजस्य और सहयोग के लिए बाध्य कर सके। यह राजसत्ता को किसी एक विचारधारा की गाडफादर नहीं बनने देगी। राज्य विचारधारा चलाए, ऐसा भारत का स्वभाव नहीं रहा है। होता तो हमारे पास भी पश्चिमी एशिया की तरह धर्म राज्यों का सिलसिला होता। क्योंकि राजसत्ता के सहारे विचारधारा बढ़ाना धर्मराज्य का ही दूसरा नाम है जिसे इस देश में कभी स्थान नहीं मिला। राज्य की यहाँ एक ही कल्पना रही है कि वह प्रजा की सुखसमृद्धि का इंतजाम करे, समाज के हर तबके को काम करने की सुविधा और अवसर दे, बस। किसी खास विचारधारा को आगे बढ़ाना राजनेताओं का जिम्मा नहीं है, यह बौद्धिकों, मनीषियों और चिन्तकों का काम है। सत्य-चेतना यद्यपि कोई विचारधारा नहीं है, किन्तु मानव बुद्धि, हृदय और शरीर का माध्यम तो उसने अपनी अभिव्यक्ति के लिए चुनना ही है। वह विचारधारा का खात्मा नहीं बल्कि पूर्ण करेगी और विश्व-योजना में उनका यथार्थ और सही स्थान उन्हें प्रदान करेगी।

इतिहास के ज्ञात प्राचीनतम काल यानी वैदिक काल से लेकर हर्षवर्धन के समय तक विचारों के संवादशील संघर्ष ने देश को कभी जड़ता का सामना नहीं करने दिया। राजसत्ता को कभी किसी विचारधारा को प्रश्रय नहीं देना पड़ा। यह काम सामाजिक स्तर पर बौद्धिकों ने किया। उन्होंने समाज को विचारशील बनाए रखने का काम युधिष्ठिर, समुद्रगुप्त, पुलकेशी अथवा समुद्रगुप्त को नहीं सौंपा। मध्ययुग में यही वह शक्ति थी जिसने अकबर की दीन-ए-इलाही को प्रभावशून्य कर दिया।

जिस समग्र चेतना के प्रभाव की बात हम कर रहे हैं वह बौद्धिकों पर अपना प्रभाव इस तरह डालेगी कि वे विचारधाराओं को वस्तुनिष्ठ बहस का मुद्दा बना

देंगे। उन्हें मवाद के दायरे से बाहर ले जाकर सत्ता संघर्ष के पानीपत में नहीं पहुँचने देंगे। इससे उनका एक दूसरे के पूरक के रूप में विकास होगा। वे यह देख लेंगे कि कोई विचारधारा न तो खुद में सर्वांगीण है, और न ही किसी विचारधारा को अछूत बनाकर जीवन को पूरी तरह समझा जा सकता है। समाज, देश और जीवन को हर विचारधारा की जरूरत है। सभी मिलकर ही भारतवर्ष और विश्व के लिए सर्वस्वीकार्य एजेन्डा तैयार करती रह सकती है।

उदाहरण के लिए मार्क्सवाद, लेनिन-स्तालिन माओवाद, गांधीवाद, नेहरूवाद आदि के चौखटों में समस्याओं को समझने और उनके हल प्रस्तुत करने का सिलसिला स्वाधीनता के बाद वाले चार दशाओं में निरंतर चल रहा है। जो इन चौखटों को पसंद नहीं करते, वे हजारों साल पुरानी चौखटों में समस्याओं के हल ढूंढ रहे हैं। लेकिन नई समस्याएं इन नई-पुरानी चौखटों में फिट नहीं हो रही हैं। परिणाम स्वरूप विचारों के क्षेत्र में एक अजीब सा बासीपन आता जा रहा है। यह बासीपन मार्क्सवादी, पश्चिमी लोकतंत्रवादी और पुरातन पंथी सिद्धांतवादी (फंडामेंटलिस्ट) इन तीनों श्रेणियों के बुद्धिजीवियों में दिखाई दे रहा है।

एक अर्से से हमारे बुद्धिजीवियों के काफी बड़े तबके पर मार्क्सवाद हावी रहा। यहाँ तक कि बुद्धिजीवी होने के लिए मार्क्स की शब्दावली से परिचित होना जरूरी माना जाता था। मार्क्सवाद में मानव समाज की सभी समस्याओं के कुछ बहुत सरल नुस्खे थे जिन्हें स्कूल कालेजों में पढ़ने वाले छात्र भी आसानी से समझ सकते थे। इसीलिए यह दर्शन युवक समाज में काफी लोकप्रिय हुआ। इस दर्शन के मुताबिक हमारा समाज सिर्फ दो वर्गों में विभाजित था एक सर्वहारा तथा दूसरा बुर्जुआ, एक गरीब और दूसरा अमीर, एक शोषित और दूसरा शोषक। इन दो वर्गों का परस्पर संघर्ष ही मानव जाति का इतिहास माना गया। मानव जाति को सिर्फ इतना ही करना था कि यह संघर्ष तीव्र हो, और एक दिन सर्वहारा रक्त क्रांति में बुर्जुआ गढ़ को ध्वस्त कर दिया जाये। जब क्रांति द्वारा सर्वहारा की तानाशाही स्थापित हो जायेगी तो हमारी सारी समस्याएं हल हो जायेंगी। वर्ग रहित समाज के इस सतयुग की कल्पना इतनी सरल-सम्भाव्य मालूम पड़ती थी कि भारत के मार्क्सवादी बुद्धिजीवी ७० साल तक इस सतयुग के भ्रमजाल में ग्रस्त रहे। उन्होंने भारतीय समाज की वास्तविकताओं को देखने से इन्कार कर दिया। वे दो वर्गों की रट लगाते रहे जब कि यह समाज हजारों जातियों में बटा था। वे निरीश्वरवाद की रट लगाते रहे, जो गहन भारतीय अनुभूति के लिए एक परायी चीज थी। अब जब उनके सामने साम्यवादी स्वर्ग-ध्वस्त हुआ है तो उनकी स्थिति ऐसे मवधों की तरह हो गयी है, जो बिना मस्तिष्क के ही मैदान में हाथ पैर मार रहे हैं। यद्यपि मार्क्सवाद के शब्द जगल

का कुहासा अब भी उनके दिमागों पर छाया हुआ है, किंतु उनके पास साम्प्रदायिकता के मुद्दे के अतिरिक्त कोई अन्य विशेष मुद्दा नहीं बचा है।

बुद्धिजीवियों का दूसरा वर्ग पूंजीवादी पश्चिमी विश्व से प्रभावित रहा। इस वर्ग से मौलिक विचारों की अधिक उम्मीद थी। क्योंकि विचार स्वातंत्र्य पश्चिमी विश्व की प्रमुख विशेषता है। लेकिन इस वर्ग के बुद्धिजीवी अंग्रेजियत की गुलामी से अपने-आपको मुक्त नहीं कर सके। मौलिक ढंग से कुछ सोचने के बजाय वे अधिकतर अंग्रेजी के नए-नए शब्दों और मुहावरों के प्रयोग से अपना बुद्धि चातुर्य व्यक्त करते हैं। भारत के संदर्भ में इनकी दृष्टि नेहरू नमूने से आगे कभी नहीं बढ़ी क्योंकि यह नमूना पश्चिमी विश्व के विचारों की नींव पर खड़ा था। गांधीवाद और समाजवाद को भी उन्होंने इसी नमूने के अनुरूप ढाल दिया।

तीसरे वर्ग के बुद्धिजीवी अपने को शुद्ध भारतीय मानते हैं। वे अतीत के बंदी हैं, और मानते हैं कि देश की समस्याओं का समाधान कुछ प्राचीन ग्रन्थों में बंद है और उन्होंने केवल आँख मूंद कर पन्ना खोलने की और किसी शब्द पर अंगुली रखने की है। ये बुद्धिजीवी ऐसे वातावरण और संस्कारों की उपज हैं, जिसमें भावनाओं को विचार से हमेशा श्रेष्ठ माना गया, बल्कि बुद्धि को तिरस्कार से देखा गया।

इन तीनों वर्गों के बुद्धिजीवियों को सोचने की अथवा आत्ममंथन की कभी जरूरत नहीं महसूस हुई क्योंकि तीनों मानते थे कि उनके विचार स्रोतों में हर समस्या का समाधान पहले ही मौजूद है। तो फिर सोचने का कष्ट क्यों उठाया जाए।

इस बौद्धिक जड़ता को सत्य चेतना का रूपांतरकारी प्रभाव अंदर बाहर दोनों ओर से तोड़ रहा है। यह ऐसा समग्र ज्ञान है जो हमारे सामने क्या हो रहा है, स्थितियाँ कैसे बदल रही हैं, इसमें क्या तत्व काम कर रहे हैं, इत्यादि बातों का तादात्म्य द्वारा आकलन कराता है। इस ज्ञान विद्या की पर्याप्त चर्चा हम पीछे कर चुके हैं।

समग्र सत्य-चेतना न केवल समस्याओं का वस्तुनिष्ठ विश्लेषण करेगी बल्कि बौद्धिकों को उनके समाधान के लिए मौलिक ढंग से सोचने की शक्ति देगी—क्योंकि यह सत्य संकल्पों (Real Ideas) का आदि स्रोत है। इसमें भी आगे बढ़कर वह इन समाधानों को संपन्न भी कर दिखायेगी। वह न केवल रास्ता बतायेगी बल्कि रास्ता बनाने का काम भी करेगी। यह किसी बने बनाए फार्मूला के तहत नहीं बल्कि नव नवोन्मेष शालिनी, स्वयंभू प्रज्ञा के द्वारा, यथार्थ और सुपूर्ण रूप में सिद्ध होगा। इसमें जिस कौशल का योग कहा गया है, वह इसी ऋतम्भरा प्रज्ञा का सचेतन उपकरण बन जाने से प्राप्त होता है। ऐसा दिव्य कर्म

गीता की स्थित प्रज्ञता का अगला स्वाभाविक पग है। एक समष्टि के रूप में ऐसा विश्व-व्यापी कौशल भारत ही दिखा सकता है।

इस दिव्य कर्म कौशल की अभिव्यक्ति सबसे पहले एक प्रति-दलीय अथवा अति दलीय राष्ट्रीय सरकार में हो सकती है। दलीय संकीर्णताएं इसके लिए आसानी से तैयार नहीं होंगी। किंतु स्थिति ही ऐसी उत्पन्न हो सकती है कि उन्हें इसमें शामिल होने पर राजी होना पड़े।

देश में ऐसा वातावरण बनाया गया है कि राष्ट्र की एकता, अखण्डता और सुरक्षा के लिए, केन्द्र की सरकार मजबूत होनी चाहिए और एक दलीय सरकार होने पर ही वह मजबूत हो सकती है। लेकिन क्या वास्तविकता ऐसी है?

लोकतंत्रात्मक राज्य व्यवस्था वाले अनेक देशों में संयुक्त या बहुदलीय सरकारों के सफल प्रयोग हुए हैं। हमारी समाजव्यवस्था परंपरावादी और सामन्तवादी दृष्टिकोण वाली रही है अतः हमारी प्रकृति भी उसी के अनुकूल बन गयी है। सामूहिक रूप से जिम्मेदारी संभालने के बजाय हम एक को महानायक बनाकर उसी को सब कुछ सौंप देने के आदी हैं। हम स्वभावतः व्यक्ति-पूजक हैं इसलिए साझा या राष्ट्रीय सरकार के प्रति हममें कोई उत्साह नहीं है।

लेकिन दूसरे देशों का अनुभव अलग है। जापान में डेमोक्रेटों और लिबरलों का राजनीतिक गठबंधन है, आस्ट्रेलिया में लिबरल एवं कन्ट्री का। इटली में क्रिश्चियन डेमोक्रेट, सोशल डेमोक्रेट, लिबरल एवं रिपब्लिकन इन चार दलों की संयुक्त सरकार रही है। वहां पांच से नौ-नौ तक दल रहे हैं। अलग-अलग राजनैतिक दलों या उनके मोर्चों के रूप में चुनाव लड़ना और फिर संसद में आकर आपसी समझौतों द्वारा एक या दो बृहत् संयुक्त विधायक दल बना लेना कोई नई बात नहीं है। इसमें कोई अनौचित्य भी नहीं है। बल्कि इसमें दलों में बंटी-बिखरी शासकीय प्रतिभाओं का रचनात्मक उपयोग होता है।

अतः यदि हमारे यहां केन्द्र में भी राष्ट्रीय या संयुक्त सरकार बनती है, तो उसके प्रति हमें शंकाशील नहीं चाहिए। कई देशों में राष्ट्रीय संकट के समय योजनापूर्वक संयुक्त सरकार या राष्ट्रीय सरकार बनाई जाती है। उदाहरणार्थ ब्रिटेन में द्वितीय विश्व युद्ध के समय टोरी दल के पास पूर्ण बहुमत होते हुए भी उसने विरोधी दल लेबर पार्टी के साथ संयुक्त सरकार बनाई थी। भारत भी आज भयंकर राजनीतिक चक्रवात एवं आर्थिक संकट से गुजर रहा है। अतः सभी दलों को अपने आपसी मतभेद भुलाकर और मिल-जुल कर युद्धस्तर पर इस संकट का सामना करना चाहिए। हकीकत में यह ऐसा समय है, जब राष्ट्रीय अर्थात् सभी दलों की तथा दलों से बाहर के भी गुणी व्यक्तियों की सरकार होनी चाहिए। राजीव गांधी की जघन्य हत्या के बाद उत्पन्न नाजुक स्थिति में राष्ट्रपति ने ठीक

समग्र चेतना अथवा 'अतिमन' का जो आकलन हमने किया है, उसके आधार पर हम कह सकते हैं, कि वह बालक सदृश निज्ञान पर आधारित आदिम 'सत्य युग' नहीं बल्कि पूर्णज्ञान, इच्छा और शक्ति पर आधारित वयस्क 'सत्ययुग' होगा। उसमें त्रेता के व्यक्ति राम और रामराज को जिस अन्तर्विरोध का सामना करना पड़ता था वह नहीं करना पड़ेगा। न ही द्वापर के कृष्ण की तरह कौरव-पाण्डव और यादवों का संहार रोक पाने में वह विफल रहेगा। हमने इस सम्भावना को तर्क के दायरे में लाने का प्रयास पिछले पृष्ठों में किया है। यदि वह 'सत्य-चेतना' के युग का राम राज्य होगा तो उसमें सीता और शम्बूक के साथ अन्याय नहीं होगा और राम को हताशा में जल-समाधि बनाम आत्म-हत्या पर विवश भी नहीं होना पड़ेगा।

यह सम्भावना बहुत दूर की मालूम होती है तो हम अब एकदम वर्तमान में आ जाते हैं और निकट आसन्न भविष्य की बात करते हैं। हम उन तीन मुद्दों को ही लेते हैं, जिन पर १९९१ का चुनाव लड़ा गया और जो अभी निकट भविष्य में ज्वलन्त बने रहेंगे। यदि हम भाजपा का मुहावरा ही उपयोग में लावें तो ये मुद्दे हैं—राम, रोटी और इन्सान।

राम अपनी असली ऊँचाई पर राष्ट्रीयता से भी अधिक मानव आस्था के प्रतीक हैं। अवश्य ही उनके नाम पर उमड़ते हुए जन ज्वार को हम केवल भारतीयता की सीमा में नहीं बाँध पायेंगे। यह ऐसा जन-ज्वार है, जिसकी लहरें, यत्र-तत्र सर्वत्र विश्व में उठती दिखाई दे रही हैं। राष्ट्रों और समाजों की दुर्दम्य स्वातंत्र्य कामना में ये लहरें हमें दिखाई देती हैं। जिनके दर्शन में राम को कोई स्थान ही नहीं था और जो दर्शन पूर्णतया 'रोटी' पर आश्रित थे, उनके परखचे उड़ चुके हैं। भारतीय दर्शन में 'राम' और 'रोटी' में कोई विरोध नहीं रहा है। जब ईशावास्योपनिषद का ऋषि कहता है कि, "यह जो समस्त जगत जीवन है वह ईश्वर का ही बनाया हुआ है, उनके नाम से त्याग कर तुम यथाप्राप्त का भोग और दूसरे के धन की कभी इच्छा न करो।' तो वह राम यानी आस्था और रोटी यानी जीवन के सहज सम्बन्ध को ही उद्घाटित करता है। यह जगत् इस तरह व्यवस्थित किया गया है कि जब माँ के उदर से बच्चा बाहर निकलता है तो उसके साथ ही माँ के स्तनों में दूध भी उतर आता है और जब रेगिस्तान में कोई पौधा पैदा होता है तो शून्य से पोषण के साधन उस तक पहुँच जाते हैं।

गीता के भगवान कहते हैं कि 'जो मेरी शरण में आता है, मैं उसके योग-क्षेम का दायित्व अपने ऊपर ले लेता हूँ (योगक्षेमं वहाम्यहम्)" तो वह केवल एक आध्यात्मिक सत्य ही प्रकट नहीं कर रहे हैं। वह उतना ही एक वैज्ञानिक और आर्थिक तथ्य भी है। हम इस प्रकार विज्ञान के रूप में अधिक स्पष्ट

करें। शरीर के हर अंग और प्रत्येक कोशिका को पोषण पहुँचाने की जिम्मेदारी हृदय और मस्तिष्क के चेतना केंद्रों की है। इस प्रणाली में बाधा तभी आती है जब इन केंद्रों तक पहुचाने वाले तंत्रिका-तंत्र में कोई खराबी या रुकावट आ जाती है। यह ब्रह्माण्ड यदि भगवान का शरीर माना जाये, तो उसमें भी भूत मात्रों के पोषण की पूर्ण व्यवस्था है। चेतना के जिस स्तर को अतिमन अथवा ऋतंभरा प्रज्ञा के रूप में हमने पिछले पृष्ठों में पहचाना है, वहाँ न कोई अभाव की स्थिति है, न अन्याय की असामजस्य की। यह स्तर जिस भी मात्रा में नीचे तक अवतरित हुआ है, उस मात्रा में वहाँ सुपूर्णता, सामजस्य और न्याय विद्यमान है।

यही वह चीज है जो रोटी की प्राप्ति या अभावमुक्ति को एक वस्तुपरक (आब्जेक्टिव) नहीं बल्कि व्यक्तिपरक (सब्जेक्टिव) चीज बना देती है। यानी चेतना के उस स्तर विशेष से हमारा सम्बन्ध है, तो हम अभाव में रह ही नहीं सकते। हमारी इच्छाएं, आवश्यकताएं, जो उस सर्वेशा का ही एक अंग अथवा अभिव्यक्ति होती हैं, अपने आप प्राकृतिक शक्तियों द्वारा पूरी होती चली जाती हैं। योगशास्त्र का कथन है कि जब कुंडलिनी का जागरण मणिपुर चक्र से ऊपर पहुँच जाता है, तो साधक आर्थिक प्रकृति के बन्धनों से मुक्त हो जाता है और उसकी आवश्यकताएँ प्रकृति को स्वमेव पूर्ण करनी पड़ती हैं। स्वामी योगानन्द ने अपनी 'एक योगी की आत्मकथा' में लिखा है, कि "बचपन में मैंने एक बार आकाश में एक कटी पतंग को इधर उधर लहराते देखा। सोचा, क्या यह पतंग मेरे हाथों में आ सकती है?" उन्होंने इस इच्छा के पीछे कुछ संकल्प शक्ति भी लगा दी, और आश्चर्य देखते-देखते हवा के झोंकों ने उस पतंग को उनके हाथों में लाकर छोड़ दिया। पातंजल योग में यह ईशित्व और वशित्व सिद्धि कही गई है।

हमारे जीवन में भी यह अनुभव नया नहीं है कि किस तरह हमारी असाध्य सी प्रतीत होने वाली आर्थिक समस्याएँ आनन-फानन में हल हो जाती हैं— बशर्ते कि हम अपने-अंदर किसी आस्था केन्द्र से जुड़े हुए हैं। इसीलिए भारतीय अनुभव ने राम को पहले रखा और रोटी को बाद में। गरीब से गरीब श्रमजीवी मजदूर भी रोजमर्रा मिलने वाली रोटी में राम का चमत्कार देखता है, जबकि धन जीवियों में यह प्रतिक्षण की जीवंत आस्था तुलनात्मक रूप में देखें तो कम ही पायी जाती है। वह अपने पैसे पर जितना भरोसा करता है, उतना प्रभु पर नहीं। बहुधा उसके लिए पैसा ही प्रभु हो जाते हैं।

पैसा भी 'प्रभु' है, लेकिन पैसा ही प्रभु नहीं है। धन भौतिक शक्ति का पुंजीभूत रूप है और इस भौतिक विश्व-व्यवहार में वह अनिवार्य है। यह मूलत भगवान की ही शक्ति है, लेकिन जैसा कि हमने देखा है, भगवान की अन्य

शक्तियों की तरह यह भी, वर्तमान व्यवस्था में आसुरिक यानी अहंकार और अज्ञान की शक्तियों के कब्जे में है। जगत् में जो भूख, अहंकार और अभाव है, वह इस असमाजस्य का ही एक हिस्सा। यह अव्यवस्था मूलतः वितरण की अव्यवस्था है, ऊर्जाओं के अपव्यय और दुरुपयोग की विकृति है।

यह तो हुआ 'रोटी' की समस्या का निदान, लेकिन उसका समाधान क्या है? व्यक्ति के स्तर पर इसका समाधान चेतना के उस सर्वोच्च केन्द्र से सचेतन रूप में जुड़ना है, जिसकी चर्चा पिछले पृष्ठों में हम करते आये हैं। यह जुड़ाव, विभिन्न स्तर व उत्पादक कर्मों, कला कौशल्य के रूप में आमानत प्रकट होता है। बेकारी की समस्या का तब व्यक्ति के लिए अस्तित्व ही नहीं रह जाता। गीता कहती है स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः "अपने-अपने स्वाभाविक कर्मों में लगे हुए मनुष्य संसिद्धि यानी सुपूर्णता (Perfection) को प्राप्त करते हैं। इस सुपूर्णता में रोटी अथवा भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति तो सबमें पहले निहित है। यह आत्मनिर्भरता एवं स्वतन्त्रता की पहली शर्त है। बिना उसके मनुष्य की कोई भी सिद्धि अधूरी है।

यही बात समष्टि के रूप में एक देश और समाज पर भी लागू होती है। भारत प्राकृतिक संपदा के मामले में संभवतः दुनिया का सबसे संपन्न देश है। फिर भी उसकी गिनती दुनिया के विपन्नतम देशों में होती है। फिर भी उसकी गिनती दुनिया के विपन्नतम देशों में होती है। इसी कारण से हमारी तमाम आध्यात्मिक सिद्धियाँ, अवतार और महापुरुष अधूरे और खोखले नजर आते लगते हैं। भारत के भूगोल में ही एक विकृति के दर्शन होते हैं। इस भूगोल की एक विचित्रता यह है कि यहाँ मानसून विक्षिप्त ढंग से बर्ताव करता है। यहाँ एक ही समय एक हिस्से में बाढ़ से तबाही होती रहती है, तो दूसरे हिस्से में सूखे से त्राहि त्राहि मची रहती है। यह विकृति उसी वितरण संबंधी विषमता को रेखांकित करती है जो सामाजिक स्तर पर अंततः अन्याय के रूप में प्रकट होती है। यहाँ सब कुछ है, लेकिन वह सबके लिए नहीं है।

भारत की जल-वितरण प्रणाली पूर्व-पश्चिम, उत्तर दक्षिण एकदम गड़बड़ है। जो पानी वर्षा से भारत-भूमि को मिलता है, वह ६४ प्रतिशत, व्यर्थ में, प्रतिवर्ष जन-धन की भारी तबाही करता हुआ समुद्र में बह जाता है या भाप बन-कर उड़ जाता है और हम केवल छः प्रतिशत जल का उपयोग ही कर पाते हैं।

इस विकृति को दूर करने के लिए एक महायोजना कब से बनती-बिगड़ती चली आ रही है। बाढ़ के पानी को सूखे की ओर मोड़ने के लिए भारत की नदियों को जोड़ना इसका सारतत्त्व रहा है। सबसे पहले पूर्व केन्द्रीय सिंचाईमंत्री स्व० के० एल० राव ने 'गंगा कावेरी लिंक' योजना तैयार की थी। श्री राव स्वयं एक इंजीनियर थे। गंगा तथा उसकी बारहमासी बहने वाली सहायक

नदियों की बाढ़ का पानी, दक्षिण की ग्रीष्मकाल में सूख जाने वाली नदियों तक पहुंचाने तथा उनके जरिए सूखाग्रस्त प्रदेशों तक वितरित करने की यह योजना थी। लेकिन केन्द्रीय मंत्री होते हुए भी श्री राव अपने मस्तिष्क शिशु (ब्रेन चाइल्ड) को असली रूप नहीं दे सके।

किंतु प्रथम जनता शासन काल में इसी योजना ने एक वृहत् रूप धारण किया और वह कैप्टन दिनशा दस्तूर की 'नहरमाला योजना' (गारलैंड कैनाल प्लान) के रूप में सामने आयी। यूनो के विशेषज्ञों ने उसकी अनुशंसा की। रूसी और अमेरिकी जल विशेषज्ञों ने उसकी ताईद ही नहीं की अपितु उसमें तकनीकी तथा आर्थिक सहायता देने की पेशकश भी की। संसद में उसे सर्वपक्षीय समर्थन मिला। किंतु यह योजना कुछ और परवान चढ़ पाती, इसके पहले ही जनता सरकार गिरी और योजना के निर्माताओं के साथ स्वयं योजना भी पृष्ठभूमि में चली गयी।

ऐसा नहीं कि स्व० इंदिरा गांधी की सरकार इस दिशा में उदासीन थी। अवश्य ही वह इस योजना के प्रारंभ का श्रेय जनता सरकार के खाते में जमा नहीं होने देना चाहती थी। न ही सरकारी जल-विशेषज्ञ नौकरशाह किसी व्यक्ति-विशेष जो कि सरकारी जल-प्रबंध तंत्र का अंग नहीं था—को यह श्रेय देना चाहते थे। अतः उन्होंने उक्त योजना में कुछ संशोधन करते हुए 'इसे' राष्ट्रीय जलग्रिड अथवा नदी द्रोण जलों के अदल-बदल (ट्रांसफर आफ बेसिन वाटर्स) का गठन दिया। इसके लिए रामकृष्णपुरम् में एक अलग निदेशालय का गठन भी किया गया। किंतु कुर्सी राजनीति की आपाधापी, तथा नौकरशाही जड़ता में यह विराट आयोजन उसी तरह अटक कर रह गयी। यहां इस मिथकीय घटना के चमत्कार को छीलकर यथार्थ का अन्वेषण किया जाय तो पता चलता है कि भगीरथी का अवतरण अपने समय का बड़ा इंजीनियरिंग अभियान ही था, जिसमें हिमालय की अपत्यकाओं में यत्र-तत्र बहने वाली धाराओं को, चट्टानें और झाड़ी-झखाड़, काट-छांटकर, भारतीय प्रदेश की ओर मोड़ा गया था।

'राष्ट्रीय जल ग्रीड' योजना को आधुनिक 'भागीरथ अभियान' की गरिमा प्राप्त होना अभी भी एक संभावना बनी हुई है। जब-जब संसद में इसे दफ्तर की फाइलों से बाहर निकालकर क्रियान्वित करने का सवाल उठा तो उसे लगभग सार्वभौम, सर्वदलीय समर्थन प्राप्त हुआ। इसके बावजूद तत्कालीन सिंचाई तथा अंतर्देशीय जल-मार्ग मंत्रियों से बार-बार यही सुनने को मिला कि क्या करें, हमारे पास पर्याप्त संसाधन नहीं हैं।

इस योजना के जो तथ्य और आंकड़े अब तक उपलब्ध हुए हैं, वे चौंकाने वाले हैं। पहली बात तो यह कि यह योजना शुरू में ही एक मुश्त सात सौ करोड़

ग्रामीण श्रमिकों को काम से लगा सकती है। ठीक यही संख्या हमारे ग्रामीण बेरोजगारों की है। यही हमारा सबसे गहरा अभाव का पाताल लोक है। जिसे यह अकेली योजना एक बारगी ही पार कर सकती है। खूबसूरती यह है कि योजना के अन्तर्गत, महाजलाशयों, नहरों, उपनहरों, राष्ट्रीय जलमार्गों का जो जाल बिछेगा वह भारत के हर गाँव के तीन किलोमीटर दायरे तक पहुँचेगा और वही ग्रामवासियों के लिए काम उपलब्ध करायेगा। यानी ग्रामीण बेकारी और अर्धबेकारी का समूल उन्मूलन। इससे पाँच करोड़ हेक्टर सिंचाई क्षमता का वर्तमान रकबा, बीस करोड़ हेक्टर तक बढ़ जायेगा। यह इतनी 'रोटी' पैदा करेगा, तो न केवल भारत में किसी को भूखा नहीं सोने देगी, बल्कि तीसरी दुनिया के अभावग्रस्त प्रदेशों को भी रोटी मुहैया करेगी। भारत एक तरह से दुनिया का अक्षय अन्न-भंडार बन जायेगा।

नहरों के साथ-साथ जलमार्गों का देश भर में जाल बिछ जायेगा। इससे सस्ता परिवहन उपलब्ध होगा। उद्योगों का दूर-दराज तक विकेन्द्रीकरण होगा, जिससे शहरों की ओर देहातों की लाचार और अंधी दौड़ रुकेगी, उनका उजड़ना बंद होगा। *महानगरों में गंदी झुग्गी बस्तियों के नरक नासूरों की तरह नहीं* बढ़ेंगे। बड़े-बड़े हजारों जलाशयों में अकूत मछली का उत्पादन भी विदेशी मुद्रा दिलायेगा। इतनी जल-विद्युत उत्पन्न होगी जो हमारी कृषि-प्रधान अर्थव्यवस्था में बदल कर रख देगी। साथ ही श्रम के बाजार में प्रतिवर्ष प्रवेश करने वाले ७५ लाख नए श्रमिकों को भी यह आसानी से जज्ब करती जायेगी।

जहाँ तक इस महती योजना के क्रियान्वय का सवाल है, उसके लिए धन न होने की बात असमलन् नौकरशाही की औंधी खोपड़ी की उपज है। योजना का क्षय में इसे तब पूंजी प्रधान बनाने की बजाय श्रमप्रधान बनाने में, यह औंधी सोच ही आड़े आते हैं। यह नौकरशाही वातानुकूलित कमरा में बैठकर पहले तो यह तय करती है कि कुल बजट में अपने खान में कितना खींचा जाये। फिर उसमें अपन ताम-झाम और गुरचन-मलाई का यहाँ और कितना इंतजाम किया जाये। यही तंत्र देश के प्रधानमंत्री को हताशा में यह कहने पर मजबूर कर देता है कि दिल्ली से योजना का जो एक रुपया चलता है, वह असली लाभार्थी तक पहुंचते-पहुंचते पंद्रह पैसे रह जाता है। ऊपर से नीचे तक बिचौलिया की गिरोहबंदी यह सभी दूध, दही, मक्खन मलाई चाट जाती है, और जिसे गरीब, भूखे बेरोजगार ग्रामीण के लिए योजनाएं बनती हैं, उसके पल्ले आती है छाछ। संभवतः उस भुखमरा बेकार और गरीब रखने में ही इस आसुरिक तंत्र का निहित स्वार्थ छिपा हुआ है, ताकि उसकी यथास्थिति में तब्दीली न आये।

एक प्रतियुद्ध जैसी सीधी कारवाई के जरिए ही इस दुष्ट तंत्र को तोड़ा जा

सकता है । साधनो के अभाव का रोना योजना को शुरू से अत तक श्रमप्रधान बनाकर बद किया जा सकता है । इस रणनीति के तहत दोतरफा कार्रवाई जरूरी होगी । शिखर पर, यानी देश और प्रदेशों की राजधानियों के स्तर तक प्रति-राजनैतिक (Apolitical) अथवा अतिराजनैतिक (Super Political) ढग-ढाचे का सगठन हो। यह राष्ट्रीय और प्रादेशिक स्तर पर यह माग उठाए कि हमारे वार्षिक बजट का साठ प्रतिशत इसी योजना के लिए समर्पित हो। वर्षा-जल जिस प्रकार पहले गड्ढे की ओर बढता है, उसी प्रकार हमारी उपलब्ध साधन-सपदा ग्रामीण बेरोजगारी के इस सबसे गहरे गर्त को पाटने के काम आनी चाहिए ।

ग्रामीण योजनाओं के लिए बजट के साठ प्रतिशत की मॉग वैसे सर्वदलीय मान्यता प्राप्त कर चुकी है परतु—और यह परतु बहुत बडा है इसका लाभ भी अधिकाश बडे किसानो के पहले ही पडता है। वह और तगडे होकर, एक राजनैतिक भेंगा शक्ति बन जाते है । भूमिहीन बेरोजगार गरीब ग्रामीणो की सख्या मे इजाफा ही होता चला जाता है । इसकी तोड यह है कि साठ प्रतिशत की माग के अतर्गत उच्च स्तर पर सात करोड ग्रामीण श्रमिको की एक विकास-वाहिनी (वर्क आर्मी) के निर्माण की घोषणा निहित हो। हम हर साल योजना पर केन्द्र और राज्य मिलाकर लगभग ग्यारह खरब (एक लाख दस हजार करोड रु०) खर्च करते-ही-करते है। साठ प्रतिशत का अर्थ हुआ ६५ से ७० हजार करोड रुपये ।

'श्रम सेना' विकासवाहिनी, वर्क आर्मी (अथवा श्री चन्द्रशेखर द्वारा मनोनीत 'रचना-वाहिनी' को अर्धसैनिक बलो की तरह सगठित किया जाय, जिस पर प्रारभिक कुछ वर्षो के लिए श्रमिक सगठनो के नियम लागू न हो। श्रम सैनिको से प्रतिदिन सिर्फ चार घण्टे शारीरिक परिश्रम का काम लिया जाये । दो घण्टे उन्हें व्यावसायिक, तकनीकी, प्रशासनिक अथवा अर्धसैनिक प्रशिक्षण दिया जाये । यह प्रशिक्षण स्वामिवृत्त सैनिको, अध्यापको आदि द्वारा दिया जाय । श्रम-सैनिको का न्यूनतम वेतन छ सौ रुपये मासिक हो। वेतन का वार्षिक व्यय साढे चार खरब के लगभग बैठता है । इस पूरी श्रम सेना को राष्ट्रीय जलग्रिड के निर्माण कार्य मे लगा दिया जाये सिमेंट आदि कच्चा माल, मशीनरी और प्रशासन के मद मे बाकी रकम खर्च हो। योजना का प्रथम और अतिम लक्ष्य, व्यर्थ जानेवाली मानव श्रम शक्ति को अपने ही परिसर मे उत्पादक परिश्रम मे लगाना होगा। उत्पादन वृद्धि उसका गौण लक्ष्य होगा। काम की रफ्तार पर अधिक जोर न होगा। पचायतों के जो सात-पाच पच हमारे राष्ट्रीय रजिस्टर मे है, उनमे से हर एक १००-२०० की टुकडीकर अभिभावकीय जिम्मेदारी निभायेगा। आज इस

स्तर पर जो भ्रष्टाचार और आपा-धापी व्याप्त है, वह 'श्रमसेना' के अर्धसैनिक जैसे स्वरूप के कारण चल नहीं पायेगी। हम देखते हैं कि हमारे सैनिक अर्धसैनिक बलों में भ्रष्टाचार नहीं के बराबर है। श्रमसैनिकों की संगठित ग्रामीण इकाइयाँ अव्वल तो ऐसा भ्रष्टाचार चलने नहीं देंगी और कहीं वह होता भी है तो तुरंत उच्चस्तर से उसकी दखल-अंदाज माँगी और दी जा सकती है।

कोई संकल्पशाली संगठन या संगठनों का महासंघ मिलकर नीचे से, स्वयं स्फूर्त ढंग से बेरोजगारों की विकास वाहिनी का यह ढाँचा ग्राम स्तर में बनाना शुरू कर सकता है और उसके पर्याप्त सशक्त होते ही 'सम्पूर्ण ग्रामीण रोजगार दिवस (Total Employment Day) की घोषणा कर सकते हैं। यह एक युद्ध स्तरीय कार्रवाई होगी, जो सात करोड़ ग्रामीण बेरोजगारों को लाभ पहुँचाकर रहेगी। इस दिन से या तो मौजूदा सरकार को अपने वार्षिक बजट में उतने न्यूनतम वेतन की राशि अलग निकालकर वितरित करना प्रारम्भ कर देना होगा। अन्यथा यह कार्रवाई उस प्रतिरोधी सरकार को हटाकर दूसरी सरकार लाने के लिए एक सूत्री चुनावी अभियान में अपने आप परिवर्तित होती चली जायेगी।

इसी तरह की भूमिका शहरी बेरोजगारी उन्मूलन के लिए 'लेबर बैंक' निभा सकते हैं। मुख्यत नगर और बड़ी बस्तियों तथा झुग्गी बस्तियों में ये संगठित किये जायें। इन सहकारी ढंग के बैंकों में शेयर राशि के अलावा श्रम-दिवस भी जमा कराये जायें। शहरी झुग्गी बस्तियाँ देश में अभाव का दूसरा सबसे बड़ा गढ़ है। इन बस्तियों के कायापलट का अभियान इन लेबर बैंकों द्वारा चलाया जा सकता है। इस कायापलट कार्यक्रम की विशेषता होगी बिना सरकारी तिजोरी पर बोझ डाले और मूल निवासियों को बिना कर्जदार बनाये उनके लिए साफ सुथरे पक्के निवास उपलब्ध कराना। झुग्गीबस्तियों से घिरी महँगी शहरी जमीनों पर इन बस्तियों की सहकारी लेबर बैंकों के ही प्रबंध में बहुमंजिला इमारतें खड़ी होंगी। इनके बसमेंट और निचली मंजिलें अथवा निर्धारित ढंग से अलग बने व्यावसायिक काम्प्लेक्स बाजार भाव से नीलामी पर उठाये जायेंगे और उसी धन से तथा लेबर बैंक हिस्साधारकों के श्रम-सहयोग से ऊपरी मंजिलें बनेंगी, जहाँ उन्हें पक्के निवास लगभग निःशुल्क उपलब्ध होंगे। इस निर्माण के लिए सरकार की ओर से लेबर बैंकों को अनापत्ति प्रमाणपत्र नीतिगत फैसले के तहत दिये जायेंगे। व्यावसायिक बिल्डरों का सहयोग भी लिया जा सकता है।

इस निर्माण कार्य में जहाँ शहरी श्रमिकों और कारीगरों के खाली समय का सार्थक उपयोग होगा वहीं जो आम व्यावसायिक इकाइयाँ खड़ी होंगी उनमें भी शहरी बेरोजगारों को रोजगार मिलेगा। अकेली राजधानी दिल्ली में ५००० से अधिक एकड़ पर ६०० के लगभग झुग्गी बस्तियाँ हैं, जिनमें १५ लाख से अधिक

लोग रहते हैं। जहां एक ओर विकास वाहिनी के कारण देहातियों की शहरों की ओर दौड़ रुकेगी और नयी झोंपड़पट्टियों का बनना बन्द होगा, वहीं इन मौजूदा शहरी नरकों का स्थायी कायापलट हो जायेगा। इस दूसरी युद्ध-स्तरी कार्रवाई में यदि आवश्यक हुआ तो पूंजी निवेश के लिए दबे पड़े काले धन को भी छूट दी जा सकती है।

राम और रोटी का सहज सामंजस्य उपलब्ध करने के लिए हमारी शिक्षा-प्रणाली में भी परिवर्तन जरूरी है। मैकाले प्रणीत मौजूदा शिक्षा प्रणाली ने हमारी जड़ों में ही मट्ठा घोल दिया है। इसमें 'राम' की उपलब्धि के लिए 'योग' और रोटी की विपुलता के लिए 'उद्योग' की शिक्षा का प्रारम्भ से ही अंतर्भाव जरूरी है। विश्व को भारत की मौलिक देन उसका योग-विज्ञान है। जब दुनिया में भौतिकवाद के गढ़ टूटे जा रहे हैं, तब इस विज्ञान का महत्व और भी बढ़ गया है। लेकिन हमारी शिक्षा प्रणाली ने इसका कोई लाभ नहीं उठाया है। सूक्ष्म देहों तथा चेतना के चक्रों का विज्ञान सीम-हकीमों के हाथ चढ़कर आकाश-कुसुम जैसा बन गया है या साधु-सन्यासियों का विषय मान लिया गया है। जैसा कि हमने देखा है, असली योग-विद्या, जीवन से पलायन नहीं बल्कि जीवन-संग्राम में विजय का मार्ग बताती और बनाती है। अपने अन्दर विद्यमान दिव्य स्वरूप की शक्ति में उसे बदलना सिखाती है। योग का यह स्वरूप जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए योग को प्राथमिक से लेकर स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम तक स्थान मिलना जरूरी है।

इसी तरह उद्योग की शिक्षा भी बच्चे को आरंभ में दी जानी चाहिए। किताबी पढ़ाई का बोझ कम कर, योग तथा उद्योग को शिक्षा प्रणाली का अनिवार्य अंग बना देना होगा। योग से आन्तरिक दृष्टि से पूर्ण मानव विकसित होगा और उद्योग से बाह्य प्रकृति का स्वामी, आत्मनिर्भर, स्वतन्त्र उद्यमी जो अपने तथा औरों के अभाव से लड़नेवाला योद्धा होगा। आसुरी शक्तियों के पंजे से धन शक्ति को मुक्त कर नयी सृष्टि और नयी समाजरचना में सहायक होगा। यही भारत का आध्यात्मिक भौतिकवाद है, जिसमें कण-कण और क्षण-क्षण में विद्यमान भगवान से साक्षात्कार होता है।

तात्कालिक अभाव के गड्ढे पाटने और शिक्षा को क्रांतिकारी दिशा देने के बाद यह प्रतिबुद्ध भारत की समृद्धि को रोकनेवाला सबसे बड़ा छिद्र बन्द करने की ओर मुड़ना चाहिए। यह है बेतहाशा बढ़ती हुई जनसंख्या। मान-मनौवल की गति से काम होता नहीं दिखाई दे रहा है। अतः इसके लिए चीन की तरह ही सख्त कानून लागू करना आवश्यक है।

परिवार-नियोजन सभी जाति धर्म-सम्प्रदायों के लिए अनिवार्य होना चाहिए। एक संतान पर्याप्त मानी जाये। दो से अधिक संतानों के बाद अधिक संतानों के

लिए हर तरह से निरुत्साहित करने के कानूनी प्रावधान हों। तीन से अधिक संतान वालों के लिए सरकारी या राजनैतिक पद अप्राप्य रखे जायें। चार से अधिक संतानें पैदा करना दंडनीय अपराध माना जाय। चाहे तो इस कानून के लिए आम सहमति का आयोजन कराया जाय और यह सहमति प्राप्त होने पर सख्ती से उसे लागू किया जाये।

निकट भविष्य की दिशा निर्धारित करने के लिए यह कुछ प्रस्थान बिंदु मात्र हैं। यहाँ उनका विस्तार जरूरी नहीं। अब प्रश्न यह है कि इसे करेगा कौन? क्या इसके लिए विष्णु को फिर अवतार लेना होगा? क्या कोई कल्कि या विश्वनेता भारत में पैदा होगा? क्या बुद्ध और ईसा अपने कथित आश्वासन के अनुसार फिर लौटेंगे? क्या इस्लाम का इमाम मेहदी (अथवा इमामे हिंद) आने ही वाला है? क्या सतयुग आसन्न है? इन चर्चित सवालों के बहुचर्चित उत्तर हमें रहस्य-वाद और कल्पना के घुमावों में ले जाकर बरगला सकते हैं। फिर भी हम भावी अतिमानवीय समाज रचना या बीच की किसी मध्यस्थ व्यवस्था के बारे में योगियों की भविष्यवाणी और दृष्टि पर निर्भर कर सकते हैं।

क्या एक अतिमानव के रूप में फिर राम अवतार लेंगे या किसी चक्रवर्ती सिकंदर-ए-आज़म की तरह अपनी बहादुरी से चकाचौंध कर देंगे? जैसा कि अति-मानसिक चेतना से युक्त प्राणी के बारे में हम पढ़ चुके हैं, वह अपने आसपास के जीवन से सामंजस्य अनुभव करेगा, चाहे, समष्टि में उसकी स्थिति कुछ भी हो। समष्टि में उसका जो स्थान है, उसके अनुसार वह नेतृत्व करना या शासन करना जानेगा, किंतु साथ ही अपने आपको अधीनस्थ करने में भी उसे कोई दिक्कत नहीं होगी। यानी जिस प्रकार वह एक नेता अथवा महानायक हो सकता है, उसी सुगमता के साथ एक मामूली अध्यापक और क्लर्क भी बना रह सकता है। किंतु दोनों स्थितियों में अपने परिवेश का वह सर्वेसर्वा होगा। प्रभुत्व और अधीनस्थता ये दोनों भाव उसके लिए एक से आनंद देने वाले होंगे। क्योंकि उसकी चेतना एक समग्र चेतना होती है। वह कोई खण्डित चेतना नहीं होती। वह जितनी बल और शासन में अनुभव की जा सकती है, उतनी ही सेवा में और स्वेच्छा से दूसरों के अधीनस्थ होने में, समर्पित होने में और दूसरों के साथ तालमेल बैठाने में भी अनुभव की जा सकती है।

ऐसे अतिमानव तथा उसके समाज की कल्पना, इस्लामी दर्शन के आधार पर डॉ० इकबाल ने (दुर्भाग्य जिनकी कल्पना से पाकिस्तान की अवधारणा पैदा आयी।) भी की है। इकबाल का अतिमानव ईश्वर का नायब या रीजेंट है। वह नीत्शे के अतिमानव का अरबी अनुवाद है। यह नियाबत इलाही पृथ्वी पर मनुष्य के विकास का तीसरा और अंतिम चरण है। वह पृथ्वी पर भगवान का प्रतिनिधि

स्वरूप है। वह खुदी की पूर्णतम प्रतिमा और मानवता की मंजिल है। हम में जो मानसिक अशांति और विरोध है, वह नायब में जाकर अपना समाधान पा लेते है। उसमें उच्च से उच्च शक्तियाँ, उच्च से उच्च ज्ञान में मिलकर एकाकार रहती है। उसके जीवन, विचार और कर्म में, बुद्धि और सहज-प्रवृत्ति में विरोध नहीं है। मानवता के वृक्ष का वह अंतिम फल होगा। मनुष्यता ने आज तक विकास की जो वेदनाएं सही हैं, वे नायब के अवतार के साथ सार्थक हो जायेंगी। मनुष्यो का शासक नायब ही होगा, क्योंकि उसका शासन धरती पर परमात्मा का ही शासन होगा। विकास के क्रम में हम ज्यों-ज्यों आगे बढते है, त्यों-त्यों हम नायब के समीप होते जाते है।

डॉ० इक़बाल कहते हैं कि मानवता का विकास होते-होते मनुष्यों की ऐसी जाति उत्पन्न होगी, जिसके सदस्य बहुत कुछ अनूठे व्यक्तित्व वाले होंगे। उसका मुखिया वह व्यक्ति होगा, जिसका व्यक्तित्व सबसे अनूठा, सबसे भिन्न होगा। इस प्रकार पृथ्वी पर परमात्मा के राज्य का अर्थ यह है कि यहाँ जो प्रजातंत्र कायम होगा, उसके सदस्य अनूठे व्यक्तित्व वाले होंगे। इक़बाल के अनुसार इस आदर्श जाति की झाँकी जर्मन दार्शनिक नीत्से ने भी देखी थी। लेकिन अमीरों का पक्षपाती होने के कारण, उसने अपनी कल्पना को कुरूप बना लिया।

डॉ० इक़बाल एक बुद्धिजीवी चिंतक थे, योगी अथवा साधक नहीं। इसलिए उनकी कल्पना भी अततः 'सारे जहाँ से अच्छे हिंदोस्ताँ' के रक्तरंजित विभाजनों के रूप में सामने आयी। जैसा कि हमने देखा है, यह अधिमन के स्तर का दर्शन है। अधिमन भी मन के समान एक विभाजक तत्व है। उसकी विशिष्ट स्वभावगत क्रिया है, एक चुने हुए सामंजस्य को स्वतंत्र रचना में या लोक में कार्यान्वित करना। यह क्रिया वर्तुल होती है—जैसे केंद्र में रहकर एक व्यक्ति गोलाकार क्षितिज तक देखता महसूस करता है। यह क्रिया उसे इस बात के लिए समर्थ बनाती है कि वह एक ऐसे सामंजस्य की सृष्टि करे, जो अपने आप में पूर्ण और सुपूर्ण (Complete & Perfect) है। लेकिन अधिमन भी जब पृथ्वी पर अवतरित होता है, तो उसे मन, प्राण, शरीर के द्वारा लगाये गये प्रतिबन्धों के अधीन श्रम करना पड़ता है। इसलिए विवश होकर उसे उस कार्य के लिए पहले खण्ड-खण्ड करना और फिर इन खण्डों को जोड़ना होता है। समग्रता लाने के लिए उसकी प्रवृत्ति होती तो है, लेकिन वह उसकी चुनाव करने की प्रवृत्ति से बाधित हो जाती है। फिर यहाँ जिस मानसिक, प्राणिक द्रव्य में वह क्रिया करता है, उसकी अज्ञानमय प्रवृत्ति में यह चुनाव प्रवृत्ति और भी सबल हो जाती है। अतः अधिमन के देवता, जो धर्मपुरुषों, पैगंबरों, महानेताओं आदि के रूप में पृथ्वी पर अभिव्यक्त होते हैं वे ऐसी पृथक्, सीमित आध्यात्मिक अथवा भौतिक रचनाओं से संसिद्ध

करने मे समर्थ हो जाते है, जिनमे मे प्रत्येक स्वय अपने आप मे सुपूर्ण होता है। लेकिन वे समग्र ज्ञान और उसकी अभिव्यक्ति का ससिद्ध करने मे समर्थ नहीं हो पाते। उनकी नैसर्गिक ज्योति एव शक्ति भी द्रमित हो जाती है, जिससे वे, जिसकी आवश्यकता है, उसे पूर्णतया करने मे असमर्थ होते है। इसीलिए देवताओ को अपने आप को मुक्त और पूर्ण करने के लिए एक महत्तर शक्ति का आवाहन करना पडता है।

केवल अतिमानसिक या समग्र चेतना ही अपनी क्रिया करने की शक्ति की पूर्णता को खोये बिना इस प्रकार अवतरण कर सकती या नीचे उतर सकती है। क्योकि उसकी क्रिया सवदा अभ्यतरिक (Intrinsic) और स्वत स्फूर्त होती है। उसकी इच्छा और ज्ञान अभिन्न होते है, और परिणाम उनके समानुपातिक होता है। यदि वह अपने-आपको या अपनी क्रिया को सीमित करती है, तो किसी दूसरे के दबाव के कारण नहीं, अपितु इसलिए कि वह स्वय वैसा करने का अभिप्राय रखती और चुनाव करती है। वह जिन सीमाओ का चुनती है, उनमे उसका कम और कम के परिणाम समजस और अवश्यभावी होते है।

यह एकदम एक भिन्न चेतना है, जिसका वस्तुओ सम्बन्धी ज्ञान आमूल चूल भिन्न है। अत उसकी गति-प्रवृत्तियाँ मानव की सामान्य अवधारणाओ से परे है, ठीक उसी प्रकार, जैसे मानव मन के शिखर पशु की इद्रियो को प्रतीत होने वाले प्रत्यक्ष से परे है। इसी तथ्य के कारण मन के किसी भी प्रयास से अतिमानव की चेतना को समझना या अतिमन को प्राप्त करना असभव है। हमारी व्यक्तिगत अभीप्सा और प्रयास ऊपर से सहायता प्राप्त किये बिना उसे प्राप्त नहीं कर सकते। हमारा प्रयास, प्रकृति की निम्न स्तर की शक्ति का अंश है। अतिमानव चेतना उसके अधिकार क्षेत्र से परे है। उसे पाने के लिए इसे ऊपर उठना होगा और यह भी ऊपर की सहायता से होगा। मानव से अतिमानव मे यथार्थ रूपातर के लिए एक सीधा और अनावृत्त हस्तक्षेप होना आवश्यक है।

इस हस्तक्षेप के बाद यह रूपातर नि सदेह एक चमत्कार का रूप धारण कर लेता है, लेकिन यह एक ऐसा चमत्कार है, जो एक विधि विधान के साथ होता है। उसके बडे-से-बडे लम्बे डग एक सुनिश्चित भूमि पर उठाये जाते हैं। उसकी अनेक छलागें एक आधार से लगाई जाती है, जो विकासगत सक्रमण या क्रमागत बदलाव की सुरक्षितता और सुनिश्चितता प्रदान करता है। एक अतगूढ सर्वज्ञता प्रत्येक वस्तु का सचालन करती है।

यह एक खडी चढाई का मार्ग है, जो किसी दूसरे प्रकार से पूरा नहीं किया जा सकता। इस खडी चढाई मे प्रतिरोध भी तीव्रतम होता जाता है। यह पूरी

प्रक्रिया प्रतियुद्ध का रूप धारण कर लेती है। क्योंकि इस उत्थान का सतत विरोध करती रहती है, निम्नतर प्रकृति की शक्तियां और इससे भी अधिक वे प्रतिकूल शक्तियाँ जो जगत् की त्रुटियों के द्वारा जीवित रहती हैं और शासन करती हैं। जिन्होंने अपनी 'भीषण नींव निश्चेतना की काली शिला पर रखी हुई।'

इस कठिनाई पर विजय प्राप्त करने के लिए अपरिहार्य है, हमारी सूक्ष्म देह (आंतरिक सत्ता) और उसके क्रिया करने के केन्द्रों (चक्रों) का उन्मीलन। सूक्ष्म शरीर की चेतना और उसका सूक्ष्म शारीरिक मन जब एक बार क्रिया में विमुक्त हो जाते हैं तो वह एक विशाल तट, महत्तर, सूक्ष्मतर ज्ञान को उत्पन्न करते हैं। यह मध्यस्थता कारी ज्ञान होता है। वह विश्वात्मक के साथ, और उससे ऊपर है, उसके साथ सम्पर्क करने में समर्थ होता है। साथ ही वह शरीर की अवचेतना और कोषाणुओं तक क्रिया करने में समर्थ होता है।

यही उसे एक विजातीय और हीन कोटि के माध्यम में प्रवेश करना और उस पर क्रिया करना होता है। वहां हमारे मन, प्राण और शरीर की असमर्थताओं से उसकी मुठभेड़ होती है। अज्ञान की अग्रहण शीलता या अंध अस्वीकृति से उसकी भेंट होती है। निश्चेतना के निरोध और बाधाओं का उसे अनुभव होता है। यहां उसे निर्माण की ऐसी नींव में विद्रन करनी होती है, जो पहले से और दृढ़ रूप में स्थापित है। यह अवतरण करती हुई ज्योति का विरोध करती और उसके प्रभावों को न्यून करने का प्रयास करती है। यही छोटे देवताओं का एवं असुरों का प्रतिरोध है।

किंतु वस्तुतः इस बाधा की सृष्टि अत्यंत द्रुतवेग से हो सकने वाले तत्वावतरण को रोकने के लिए ही की गयी है, जो भौतिक जगत की रचना एवं स्थिति के लिए अनिवार्य है। यद्यपि इसी तत्वावतरण या बदलाव को सिद्ध करना तमाम पदार्थों में विकासमान प्रकृति का उद्देश्य है। अतः ये निकृष्टतम प्रतिरोध ही अंतिम विश्लेषण में उत्कृष्टतम सहायक सिद्ध होते हैं। अतिमन की चेतना ही इस जटिल बाधा से निपट सकती है। उसमें असुर या उत्थम और देवताओं का विवेक होता है। अतः वही इस प्रतियुद्ध अथवा अतियुद्ध को निश्चित प्रभावकारी, चिरस्थायी विजय तक पहुंचा सकती है।

अब हम इस सारहप अध्याय के अंतिम बिंदु पर पहुँच गये हैं। अयोध्या के युद्ध—जिसे हमने प्रतियुद्ध कहा है—के आंतरिक आयामों से हम परिचित हो चुके हैं। प्रतियुद्ध को हमने युद्ध के विकल्प के रूप में देखा है। हमने यह भी जाना है, कि मानव-कोषाणुओं में अतिमन के अवतरण के साथ सूक्ष्म स्तर पर यह युद्ध जीत लिया गया है। अब स्थूल स्तर पर अब महासंहार या महाप्रलय की आत-

व्यक्तता निरस्त हो गया है। भारत और पृथ्वी का भविष्य अब निरापद और सुरक्षित है। उसकी दिशा सुनिर्धारित है। समस्त पृथ्वी एक युद्धमुक्त अयोध्या बनने को है, और उस पर एक विश्व आयामी रामराज्य अथवा सत्ययुग प्रस्थापित होने को है। हमारे इद, गिद, कण और क्षण में व्याप्त भगवान हमें सही दिशा में लिए जा रहे हैं।

